स्वतंत्रता की ओर

हरिभाऊ उपाध्याय

सस्ता साहित्य मण्डल
दिल्ली

इसमें क्या है ?

मूल्य
एक रुपया आठ आना

द्वार

नियां
धिक

सस्ता साहित्य मण्डल

अड़सठवाँ ग्रन्थ

---

[६८]

स्वतंत्रता की ओर–

लेखक

हरिभाऊ उपाध्याय

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल

दिल्ली

पहली बार १५००
सन १९३५.
मूल्य डेढ़ रुपया।

पूज्य मालवीयजी की अपील

"'सस्ता साहित्य मण्डल'ने हिन्दी में उच्चकोटि की सस्ती पुस्तकें निकालकर हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सर्वसाधारण को इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

मदनमोहन मालवीय

मुद्रक—
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
दिल्ली।

आरम्भिक

यह ध्रुव सत्य है कि सारा जगत्—जीवमात्र ही नहीं, अणु-परमाणु भी—परतन्त्रता से स्वतन्त्रता की ओर जारहा है। जो विश्व हम आज देख रहे हैं, वह एक मूल स्वतंत्र तत्व का प्रकट रूप है। अव्यक्त से व्यक्त होते ही उसे आकार और मर्यादा प्राप्त हुई। इसी मर्यादा ने उसे कई प्रकार के नियमों और बन्धनों में जकड़ दिया। यही पराधीनता हुई। मुक्त जीव शरीर के कैदख़ाने में आगया। आतो गया—किन्तु उसकी स्वाभाविक गति इस जेल से छुटकारा पाने की ओर है। यही मनुष्य के लिए ईश्वर की ओर से आशा का, मांगल्य का सन्देश है। जिसने इस रहस्य को समझ लिया है उसकी स्वभावतः प्रवृति वेग के साथ परतंत्रता से छूटकर स्वतंत्रता की ओर जाने की, निराशा, शोक, अनुत्साह, कष्ट के अवसरों पर भी आशावान और उत्साही रहने की एवं पतित होजाने की अवस्था में भी शुद्ध, उन्नत और श्रेयोमय हो सकने का आत्मविश्वास रखने की ओर होगी। किन्तु बहुतेरे लोग इस रहस्य को नहीं जानते। इससे नाना प्रकार के दुःख, ग्लानि, शोक, सन्ताप, चिन्ता आदि का बोझ अकारण ही अपने

सिरपर लादे फिरते हैं और जीवन को सुखी और स्वतंत्र बनाने के बजाय दुखी और परतंत्र बनाये रखते हैं। अगले पन्नों में इसी बात का यत्न किया गया है कि पाठक इस रहस्य को समझें और जानें कि मनुष्य पराधीन से स्वाधीन कैसे हो सकता है। वास्तविक स्वाधीनता क्या वस्तु है, उसे वह व्यक्ति और समाज-रूप से कैसे पा सकता है। उसके लिए कितनी तैयारी, कैसी साधन-सामग्री की आवश्यकता है—इसका भी वर्णन एक हदतक किया गया है। कौन कौन से विचार और धारणायें वास्तविक स्वाधीनता को समझने में बाधक हैं, इसका भी विवेचन एक अध्याय में कर दिया गया है। आन्दोलन और नेता स्वतंत्रता के सबसे बड़े भौतिक साधन हैं—इसलिए इनपर भी एक अध्याय लिखा गया है। देश का एक साधारण सेवक और लेखक नेता की योग्यता और गुणों के संबंध में कुछ लिखे, यह है तो 'अव्यापारेषु व्यापार'; किन्तु इसकी आवश्यकता समझकर ही इस विषय में कुछ लिख डालने का साहस किया है। मैं समझता हूँ, उस अध्याय से भी पाठकों को कुछ लाभ ही होगा।

मैं नहीं कह सकता कि इस उद्देश में सफलता कहाँतक मिली है। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि इन अध्यायों से पाठकों की कई उलझनें अवश्य सुलझ जायंगी। यदि इतना भी हुआ तो मेरे समाधान के लिए काफी है। यदि उन्होंने सच्ची स्वतंत्रता और उसके साधनों को समझ लिया तो मानना होगा कि मुझे इस श्रम का पूरा बदला मिल गया। पाठकों से इससे अधिक आशा रखने का मुझे अधिकार भी नहीं है।

मेरे मित्र अध्यापक गोकुललाल असावा और श्री वैजनाथजी महोदय ने प्रकाशित होने से पहले सारी पुस्तक को आलोचना की निगाह देख लेने की कृपा की है इसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। इस पुस्तक में भिन्न-भिन्न सामयिक पत्रों में प्रकाशित मेरे कुछ लेखों का भी समावेश—प्रसंगानुसार कर दिया है अतएव उन पत्रों के सम्पादकों का भी मैं आभारी हूँ।

इस पुस्तक में जिन विचारों का प्रतिपादन किया गया है उनकी स्फूर्ति मुझे मुख्यतः पूज्य महात्मा गांधीजी के सिद्धान्तों और आदर्शों से हुई है अतः उनके चरणों में सा० प्रणाम करते हुए यह वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

इन्दौर
चैत्र शु० वर्षप्रतिपदा १९९२

हरिभाऊ उपाध्याय

समर्पण

तीर्थ-स्वरूप पूज्य पिताजी को

जिन्हें

'देश-सेवा' की धुन में मेरे द्वारा

बहुत मानसिक क्लेश

पहुँचा है ।

हरिभाऊ उपाध्याय

निर्देशिका

स्वतंत्रता की ओर—

—हरिभाऊ उपाध्याय

मानवजीवन

[१]

[१]

जीवन क्या है ?

सब से पहले हम मनुष्य और उसके जीवन को समझने का यत्न करें। जीवन 'जीव' शब्द से बना है। जीव के जन्म से लेकर मृत्यु तक के समय या अवधि को जीवन कहते हैं। जीव आरम्भ से अन्त तक जिन-जिन अवस्थाओं में से गुजरता है उन्हें भी जीवन कहते हैं; जैसे बाल्य-जीवन या धार्मिक जीवन। जीव वह वस्तु है जो एक शरीर में रहता है और जिसके कारण शरीर जीवित कहलाता है—शरीर चाहे पशु का हो, मनुष्य का हो, या कीट-पतंग का हो। इस पुस्तक में मनुष्य के जीवन का विचार होगा।

जीव जब किसी शरीर में आता है तब उस पर इतने प्रभाव काम करते हैं—(१) माता-पिता के रज-वीर्य और स्वभाव के गुण-दोष।

(२) कुटुम्ब, पाठशाला और मित्रों के संस्कार। (३) उपार्जित विद्या और स्वानुभव। कितने ही लोग यह भी मानते हैं कि पिछले जन्मों के संस्कार लेकर जीव नवीन जन्म ग्रहण करता है। जब से जीव गर्भ में आता है तब से वह नये संस्कार ग्रहण करने लगता है। इन संस्कारों पर बहुत ध्यान रखने की आवश्यकता है। इसी सावधानी पर जीव का भविष्य अवलम्बित है। अज्ञान के कारण जीव अच्छे संस्कारों को लेने से रह जाता है और कितने ही बुरे संस्कारों में लिप्त हो जाता है। कुटुम्ब, समाज और राज्य के सब नियम इसी उद्देश से बनाये जाते हैं कि मनुष्य अच्छे संस्कारों को ग्रहण करता रहे और बुरे संस्कारों से बचता रहे। मनुष्य का ही नहीं, जीव-मात्र का जीवन इसी बुराई और अच्छाई के संघर्ष का अखाड़ा है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि मनुष्य-शरीर, पशु-पक्षियों के शरीर से अधिक उन्नत और विकसित है—इस कारण जीव उसके द्वारा अपने को अधिक पूर्ण रूप में व्यक्त कर सकता है। यह भी एक प्रश्न है कि मनुष्य-शरीर से अधिक पूर्ण शरीर है या नहीं और हो सकता है, या नहीं। कितने ही लोग मानते हैं कि एक प्रेत-शरीर होता है और उसमें जीव अधिक स्वतंत्रता के साथ रहता है। इसे पितृयोनि कहते हैं। किन्तु जैसा कि पहले कहा है, इस पुस्तक का सम्बन्ध सिर्फ मनुष्य जीवन से ही है। इसलिए हमें यह जानना जरूरी है कि मनुष्य-जीवन क्या है ? जीव यद्यपि सब शरीरों में एक है तथापि शरीर-भेद से उसके गुण और विकास में अन्तर है। अन्य शरीरों की अपेक्षा मनुष्य-शरीर में बुद्धि का विकास बहुत अधिक पाया जाता है जिसके कारण वह अच्छाई और बुराई, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की छान-बीन बहुत आसानी से कर सकता है। और यही कारण है कि मनुष्य ने आज भीमकाय, विषैले और महान् हिंस्र पशुओं को अपने अधीन कर रक्खा है, एवं कई

प्राकृतिक शक्तियों पर भी अपना अधिकार कर लिया है। इसीलिए यह ज़रूरी है कि मनुष्य अपने बल और पौरुष के वास्तविक स्वरूप को समझे, अपनी पराधीनता से स्वाधीन बनने की राह खोजे और जाने। इन सब बातों को जान लेना जीवन का मर्म समझ लेना है। उनके अनुसार जीवन को बनाना, जीवन की सफलता है। संक्षेप में जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जीव के पुरुषार्थ को जीवन कहते हैं।

अब हमें यह देखना है कि यह पुरुषार्थ क्या वस्तु है—अथवा यों कहें कि जीवन की सफलता या साधना किसे कहते हैं।

[२]

जीवन का उद्देश

जीव कहां से जन्मता है और कहां जाता है ? रास्ते म वह क्या देखता है, क्या पाता है, क्या छोड़ता है, क्या करता है—इन सबको जानना जीवन के रहस्य को समझना है। किन्तु इनकी बहुत गहराई में पैठना तर्क-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र के सूक्ष्म विवेचन में प्रवेश करना है। उससे भरसक बचते हुए फिलहाल हमारे लिए इतना ही जान लेना काफी है कि विचारकों और अनुभवियों ने इस सम्बन्ध में क्या कहा है और क्या बताया है। उनका कहना है कि इस संसार में अनगिनत, भिन्न-भिन्न, परस्पर-विरोधी और विचित्र चीजें हैं। किन्तु उन सबके अन्दर हम एक ऐसी चीज को पाते हैं जो सबमें सर्वदा समायी रहती है। उसका नाम उन्होंने आत्मा रक्खा है। यह आत्मा इस भिन्नता और विरोध के अन्दर एकता रखता है। इस दिखती हुई अनेकता में वास्तविक एकता का अनुभव आत्मा के ही कारण होता है। सांप इतना जहरीला

जीव है फिर भी उसके मारे जाने पर हमारे मन में क्यों दुःख होता है ? शत्रु के भी दुःख पर हमारे मन में क्यों सहानुभूति पैदा होती है । इसका यही कारण है कि हमारे और उसके अन्दर एक ही तत्व भरा हुआ है, जो सुख-दुःख हर्ष-शोक आदि भावों को परस्पर विपरीत शरीरों में रहते हुए भी एक-सा अनुभव करता है । उसी तत्व का नाम आत्मा है । जब यह तत्व किसी एक शरीर के अन्दर आया हुआ होता है तब उसे जीवात्मा कहते हैं । जब जीवात्मा को यह ज्ञान हो जाता है कि मैं वास्तव में तो महान् आत्मा हूँ; किन्तु कारण-वश इस शरीर में आ फँसा हूँ—इसमें बंध गया हूँ और जब वह इसके बन्धन से छूटकर या इससे ऊपर उठकर अपने महान् आत्मत्व को अनुभव करता है, उसमें मिल जाता है तब वह परमात्मा हो जाता है, या यों कहिए कि मुक्त हो जाता है, सब तरह से स्वतंत्र हो जाता है । इसका सार यह निकला कि परतंत्रता में फँसा हुआ जीव स्वतंत्रता चाहता है । गर्भ में आते ही स्वतंत्र होने का वह प्रयत्न करता है । स्वतंत्रता उसके जीवन का प्रयत्न ही नहीं, ध्येय ही नहीं, बल्कि स्वभाव-धर्म है । क्योंकि जीव अपनी मूल दशा में स्वतंत्र है । उसी दशा में वह आत्मा है । स्वतंत्र जीव का नाम परमात्मा है और परतन्त्र आत्मा का नाम जीव है । इस कारण स्वतंत्रता जीव की प्राकृतिक या वास्तविक दशा है—परतंत्रता अस्वाभाविक और अवास्तविक । जीवन का लक्ष्य, अन्तिम गन्तव्य स्थान, या प्राप्तव्य स्थिति हुई पूर्ण स्वतंत्रता । जीव स्वतंत्रता के धाम से चला, परतंत्रता में फँसा और स्वतंत्रता की ओर जा रहा है । वहीं पहुँचने पर उसे अन्तिम शान्ति मिलेगी, पूरा सुख मिलेगा । इस स्वतंत्रता का, इस सुख का, इस आनन्द का पाना ही जीवन की सफलता या सार्थकता है ।

जब जीव प्रकृति के लगाये शरीर तक के बन्धन को, परतंत्रता को,

सहन नहीं कर सकता, तब मनुष्य की उपजाई पराधीनता उसे कैसे बरदाश्त हो सकती है ? यदि यह असहिष्णुता सबमें एक-सी नहीं पाई जाती है तो उसका कारण केवल यह है कि अनेक कु-संस्कारों के कारण कइयों का स्वाधीनता-भाव मन्द और सुप्त हो जाता है। उनको हटाकर अच्छे संस्कार जाग्रत करते ही आन्तरिक स्वतंत्रता की ज्योति उसी प्रकार जगमगाने लगती है जिस प्रकार ऊपर की राख हट जाने पर आग जल उठती है। तो जीवन की सफलता केवल इसी बात में नहीं है कि हमारी बुद्धि यह समझ ले कि हमें स्वतंत्र या मुक्त होना है, परमात्मा बनना है, बल्कि हमारा सारा बल और पुरुषार्थ यह अविरत उद्योग करे कि हमें वह स्थिति प्राप्त हो। बुद्धि के द्वारा इस मर्म को समझनेवालों की संख्या कम नहीं है; किन्तु स्वतंत्रता का परम आनन्द और ऐश्वर्य वही पाते हैं जो उसके लिए अपने जीवन में श्रेष्ठ पुरुषार्थ करते हैं।

[३]

स्वतंत्रता का पूर्ण स्वरूप

जीव जबसे गर्भ में आता है तबसे लेकर मृत्यु तक शरीर के बन्धन में रहता है—शरीर के कारण उत्पन्न निर्बलताओं और मर्यादाओं से बँधा रहता है—इसलिए वह परतन्त्र कहलाता है। यह तो एक तरह से उसकी आजीवन परतंत्रता हुई। किन्तु इस जीवन की परतंत्र के अन्दर भी फिर उसे कई परतंत्रताओं में रहना पड़ता है। दैहिक परतंत्रता एक तरह से प्रकृति-निर्मित है; किन्तु शरीर धारण करने के बाद, या उसीके कारण, कुटुम्ब, समाज, या राज्य

द्वारा लगाई गई परतंत्रता मनुष्य-निर्मित है। यों तो नियममात्र मनुष्य की शक्ति को रोकते हैं। परन्तु हम उन नियमों के पालन को परतंत्रता नहीं कह सकते जो हमारी स्वीकृति से, हमारे हित के लिए, बनाये गये हों। जो नियम हमारी इच्छा के विरुद्ध, हमारे हिताहित का बिना खयाल किये, हम पर लाद दिये गये हों, वे चाहे किसी कुटुम्ब के हों, समाज के हों, वा राज्य के हों, बन्धन हैं, परतंत्रता है। इन्हें ऐसा कोई मनुष्य नहीं मान सकता जिसने मनुष्यता के रहस्य और गौरव को समझ लिया है। अतएव मनुष्य को न केवल दैहिक परतंत्रता से लड़ना है, बल्कि मानुषी परतंत्रताओं से भी लड़ना है। यही उसका पुरुषार्थ है। बल्कि यों कहना चाहिए कि वह इन मानुषी परतंत्रताओं से छुटकारा पाये बिना दैहिक परतंत्रता से सहसा नहीं छूट सकता। मानुषी परतंत्रताओं से लड़ने से न केवल वह अपने को दैहिक परतंत्रता से लड़ने के अधिक योग्य बनाता है बल्कि दूसरों के लिए भी दैहिक परतंत्रता से मुक्त होने का रास्ता साफ कर देता है।

महज सुखोपभोग की सुविधा को ही स्वतंत्रता समझ लेना हमारी भूल है। शरीर का पूर्ण विकास, मन की ऊँची उड़ान, बुद्धि का अबाध खेल, अन्तःकरण की असीम निर्मलता और उज्ज्वलता, आत्मा की चमक तथा अखण्ड वैभव, इन सबको मिलाने पर पूर्ण स्वतंत्रता की वास्तविक कल्पना हो सकती है। एक शासन-प्रणाली से दूसरी उदार या अच्छी शासन-प्रणाली में चला जाना, एक व्यक्ति की अधीनता से दूसरे अधिक भले और बड़े आदमी के अंकुश में चला जाना—महज इतना ही स्वतंत्रता का पूरा अर्थ और स्वरूप नहीं है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के पूर्ण विकास का ही नाम पूर्ण स्वतंत्रता है। जो व्यक्ति, प्रथा, या प्रणाली मनुष्य को ऐशो आराम के तो थोड़े से अधिकार दे देती है, या उसकी

न्यूनाधिक सुविधा तो कर देती है, किन्तु उसके पूर्ण, सर्वांगीण विकास का खयाल नहीं करती, या उसकी बाधक और अवरोधक है, वह पूर्ण स्वतंत्रता का दावा हरगिज नहीं कर सकती, हामी कदापि नहीं कहला सकती। मन, वचन और कर्म की पूर्ण स्वतंत्रता के आगे, शारीरिक सुख भोग की थोड़ी सुविधा, मन पर उलटे-सीधे कुछ संस्कार डालने का थोड़ा सा सुप्रबन्ध—बस इसीका नाम स्वतंत्रता कदापि नहीं है। यह बात हमें अच्छी तरह समझ रखनी चाहिए। ये तो उसकी थोड़ी-सी किरणें मात्र हैं—हमें सब कलाओं सहित पूनों के चांद को देखना और समझना चाहिए।

देखा जाता है कि बहुतेरे लोग दैहिक परतंत्रता से पिण्ड छुड़ाने के लिए उतने उत्सुक नहीं हैं जितनी कि मानुषी परतंत्रता से या यों कहें कि राजनैतिक परतंत्रता से। किन्तु राजनैतिक मुक्ति तो दैहिक मुक्ति की पहली सीढी है। उस पर पांव रक्खे बिना मनुष्य आगे बढ़ नहीं सकता। लेकिन राजनैतिक मुक्ति को ही बहुत बड़ी चीज न समझते रहना चाहिए। राजनैतिक परतंत्रता हमारे सामाजिक विकास की बहुत बड़ी बाधक है—इसलिए उसे सबसे पहले दूर करना हमारा परम कर्तव्य है; किन्तु हमारी गति यहीं तक न रुक जानी चाहिए—हमारी शक्ति यहीं पर कुण्ठित हो न जानी चाहिए। हमारी सारी यात्रा की यह तो एक मंजिल है। हमें अपना असली धाम न भूल जाना चाहिए। हम अपना आदर्श नीचा न करलें। लक्ष्य न चूक जायँ। इसलिए उसकी ओर बार-बार ध्यान दिलाना और अपने जीवन को उस ध्रुव से पृथक् दिशा में न बहने देने के लिए चेतावनी देना आवश्यक है। कितने ही लोगों के जीवन को जो हम असफल और दुःखपूर्ण देखते हैं उसका एक महान् कारण इस बात का अज्ञान या इसके विषय में असावधानी ही है।

यह तो हुई मनुष्य की अपनी स्वतंत्रता की बात। पर इसके साथ ही

दूसरों को परतंत्रता से मुक्ति दिलाने की बात भी लगी हुई है । अपने साथ ही साथ अपने पड़ौसियों का उद्धार उसे करना होगा। किन्तु इसका विवेचन आगे करेंगे । यहां तो इतना ही लिखना काफी है कि जब हम इस भावना का विकास अपने अन्दर करेंगे तो अनुभव करेंगे कि हम स्वतंत्रता के क्षेत्र में ऊँचे उठ रहे हैं । तब हमें अकेले मनुष्य की स्वतंत्रता पर ही सन्तोष न हो सकेगा । हमें पशु-पक्षियों की पराधीनता भी खलने लगेगी । उन्हें भी हम उसी दृष्टि से देखने लगेंगे जिस दृष्टि से अभी मनुष्य को देखते हैं । उनके भिन्न-भिन्न शरीरों के अन्दर हम उसी एक आत्मा को देखने लगेंगे और उनके उद्धार के लिए भी उत्सुक होंगे । और आगे चलकर जीव-मात्र के बन्धन हमें असह्य होने लगेंगे । जैसे-जैसे हमारी वृत्तियां इस प्रकार शुद्ध और व्यापक होती जायँगी वैसे-वैसे वह स्वतंत्रता-प्राप्ति के मार्ग में हमारी प्रगति की सूचक होगी । अन्त को हम शारीरिक भेदों के पार जाकर अपने असली रूप में मिल जायँगे—यही हमारी पूर्ण स्वतंत्रता होगी ।

[४]

मनुष्य क्या है ?

मनुष्य-जीवन का विचार करते समय सबसे पहले जानने योग्य वस्तु है मनुष्य स्वयं ही । जब हम मनुष्य को जानने का यत्न करते हैं तो उसमें सब से बड़े दो भेद दिखाई देते हैं—एक उसका शरीर और दूसरा उसमें रहनेवाला जीवात्मा । इस जीवात्मा या चैतन्य के ही कारण शरीर जीवित रहता और चलता-फिरता तथा विविध कार्य करता है । इसीलिए शरीर जड़ और जीवात्मा चेतन कहा गया है ।

शरीर भिन्न-भिन्न अवयवों से बना हुआ है, जिन्हें इन्द्रियां कहते हैं। इनके भी दो भेद हैं भीतरी इन्द्रियां और बाहरी इन्द्रियां। आंख, कान, नाक, मुख, जीभ, त्वचा, हाथ, पांव, गुदा, मूत्रेन्द्रिय, ये बाहरी, और फेफड़ा, यकृत, प्लीहा, हृदय, मूत्रपिण्ड, जठर, अँतडियां, नसें, मस्तिष्क आदि भीतरी अवयव हैं। बाहरी इन्द्रियों में आंख, कान, नाक, मुंह, जीभ ये पांच ज्ञानेन्द्रियां कही जाती हैं क्योंकि इनके द्वारा मनुष्य को बाहरी वस्तुओं का ज्ञान होता है—ये बाहर से ज्ञान के संस्कार भीतर भेजती हैं और त्वचा, हाथ, पांव, गुदा तथा मूत्रेन्द्रिय ये कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं, क्योंकि ये अन्दर से आदेश पाकर तदनुसार कर्म करती हैं।

इनके अलावा शरीर के अन्दर एक और इन्द्रिय है जो बाहर से आये ज्ञान के संस्कारों को ग्रहण करती है और कर्मेन्द्रियों के द्वारा उनकी समुचित व्यवस्था करती है। इसे मन, चित्त या बुद्धि कहते हैं। यह इन्द्रिय जब केवल संकल्प-विकल्प करती रहती है अर्थात् यह करूँ या न करूँ, इसी उलझन में पड़ी रहती है तब तक इसका नाम है मन; जब किसी कार्य के करने का निर्णय करने लगती है तब उसका नाम है बुद्धि और जब वह कार्य में प्रेरित करती है, गति देती है तब उसका नाम है चित्त।

परन्तु इतने अवयवों से ही मनुष्य पूरा नहीं हो जाता है। यह उस मनुष्य के रहने का घर-मात्र हुआ। असली मनुष्य—जीवात्मा—इससे भिन्न है। वह सारे शरीर और मन-बुद्धि आदि में समाया रहता है। वह न हो तो इस सारे शरीर का, इस कारखाने का, कुछ मूल्य नहीं है। उसके निकल जाने पर इस शरीर को मुर्दा कहकर हम गाड़ या जला देते हैं।

अब कोई यह प्रश्न करे कि तुम शरीर को मनुष्य कहते हो या जीवात्मा को, तो उत्तर यही देना पड़ेगा कि जीवात्मा को। मनुष्य ही नहीं प्राणि-मात्र में असली, साररूप, चीज यही है। ऊपर का कलेवर यह शरीर, उसकी रक्षा, उन्नति और विकास के लिए है। यह उसका साधन है। इसलिए बहुत महत्वपूर्ण है।

अब हम यह जान गये कि कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, अन्तरीन्द्रियां मन-चित्त-बुद्धि और सबसे बढ़कर जीवात्मा को मिलाकर पूरा मनुष्य बना है। मनुष्य किसलिए पैदा हुआ है, या मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य क्या है, यह जानने का साधन मनुष्य की इच्छा के सिवा, हमारे पास और कुछ नहीं है। मनुष्य-मात्र में एक बलवती इच्छा पाई जाती है कि सुख मिले—अटल, अखण्ड और अनन्त सुख मिले। सुख पाने की अभिलाषा ही उससे आजीवन भिन्न-भिन्न पुरुषार्थ करवाती है। यह निश्चित है कि सुख स्वतंत्रता में है; पराधीनता में, बन्धन में, सर्वदा दुःख ही दुःख ही है। इसलिए बन्धनों से छुटकारा पाना सुख का साधन हुआ यही उसके जीवन की स्वतंत्रता और वही सफलता हुई।

[५]

स्त्री-पुरुष-भेद

सृष्टि रचना के अन्तर्गत प्रत्येक देहधारी में हमें दो बड़े भेद दिखाई पड़ते हैं (१) स्त्री और (२) पुरुष। ये भेद इनकी शरीर-रचना के कारण हुए हैं। स्त्री और पुरुष के दो अंगों में भेद है— जननेन्द्रिय, जिसे लिंग भी कहते हैं, और स्तन। स्त्री के स्तन अवस्था की वृद्धि के साथ बढ़ते जाते हैं और माता बनने पर उसमें दूध आने लगता

है। स्त्री के एक तीसरा विशेष अंग गर्भाशय भी होता है। इन अवयव भेदों से स्त्री और पुरुष का जीवन कई बातों में एक दूसरे से भिन्न हो जाता है। कुटुम्ब में पति-पत्नी के जीवन से आरम्भ करके फिर माता-पिता और अन्त को बड़े-बूढों के रूप में परिणत होता हुआ उनका जीवन समाप्त होता है। यद्यपि यह निश्चय-पूर्वक कहना कठिन है कि समाज और जीवन में किसका महत्व अधिक है; परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि जीवन में दोनों की अनिवार्यता है—दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यद्यपि मनुष्य-समाज में स्त्री विशेष आदर और स्नेह की दृष्टि से देखी जाती है तथापि मानवी जीवन का सञ्चालक, नियामक या नेता तो पुरुष ही हो रहा है। स्त्री में स्नेह की और पुरुष में तेज की प्रधानता पाई जाती है। शरीर के भेदों से दृष्टि हटा लें तो दोनों मे एक ही मूल वस्तु—आत्मा दिखाई देगी; किन्तु स्थूल जगत् में, दोनों के गुण और बल में, अन्तर पड़ गया है। इसीसे उनके कर्तव्य भी अपने-आप भिन्न हो गये हैं। पत्नी और फिर माता होने के कारण स्त्री के जीवन में स्नेह, वात्सल्य और कौटुम्बिकता की अधिकता है और उसके जीवन में 'गृह' को प्रधान स्थान है। पति और पोषक होने के कारण पुरुष के जीवन में तेज, पुरुषार्थ की प्रधानता है और उसके जीवन में 'व्यवसाय' को प्रधान स्थान मिला है। यही कारण है जो पत्नी पति की सहधर्मचारिणी मानी गई है। पति कर्तव्य को चुनता है और पत्नी उसकी पूर्ति में उसका साथ देती है। दोनों एक-प्राण दो-तन से रहते हैं। स्त्री-पुरुष की समानता का यही अर्थ है। दोनों को अपनी चरम उन्नति की सुविधा होना आवश्यक है - दोनों का एक-दूसरे की स्वतंत्रता में सहकारी होना जरूरी है। दोनों एक असली चीज से बिछुड़े हुए हैं। दोनों वहीं जाने के लिए, उसीको पाने के लिए, छटपटाते हैं। दोनों का परस्पर सहयोग बहुत आवश्यक है। स्त्री-

पुरुष अलग रहकर भी अपने परमधाम को पहुँच सकते हैं। परन्तु उस दशा में उनका संसार-बन्धनों से परे रहना ही उचित है। संसार-बन्धन में पड़ने पर सामाजिक कर्तव्यों से वे बच नहीं सकते और इसलिए दोनों का सहयोग आवश्यक हो जाता है।

पुरुष में तेज की और स्त्री में स्नेह की प्रधानता होती है, यह ऊपर कहा जा चुका है। तेज और स्नेह दोनों अतुल शक्तियां हैं। एक में पराक्रम का और दूसरे में बलिदान का भाव है। पराक्रम कुछ अंश में अपने को दूसरों पर लादता है। स्नेह प्रायः सर्वांश में दूसरे को अपना कर आत्मसात् कर लेता है। इसी कारण बड़े-बड़े पराक्रमी स्नेह से जीत लिये जाते हैं। इसीलिए संसार में स्नेह की महिमा पराक्रम से बड़ी है। इसी कारण उपनिषद् में पहले 'मातृदेवो भव' कहकर फिर 'पितृदेवो भव' कहा गया है। सो, पराक्रम (पुरुष) यदि अकेला रहेगा तो उसे अपनेको प्रखरता से बचाने के लिए अपने अन्दर स्नेह के सेचन की आवश्यकता होगी, और यदि स्नेह अकेला रहा तो उसके निर्बलता में परिणत हो जाने की आशंका है, इसलिए तेज का ओज मिलाने की जरूरत होगी। यदि स्त्री-पुरुष अकेले रहकर अपनी कमियों को इस प्रकार यत्न करके पूरा करें तो हर्ज नहीं, अन्यथा उनके सहयोग से ही दोनों तत्व उचित मर्यादा में रह सकते हैं, और उनसे स्वयं उनको तथा समाज को लाभ पहुँच सकता है।

यहां हमें सहयोग का अर्थ अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। दैहिक विकारों को शमन करने के लिए स्त्री-पुरुषों का जो शारीरिक सहयोग होता है और उसके द्वारा सन्तति के रूप में समाज को जो लाभ होता है, केवल इतना ही अर्थ यहां सहयोग का अभीष्ट नहीं है। स्त्री-पुरुष-शक्ति के दो बड़े भेद केवल इस सहयोग के लिए नहीं हुए हैं। वास्तव में ये दो

भेद सृष्टि के सहयोग-तत्व को सिद्ध करते हैं और बताते हैं कि सृष्टि सहयोग चाहती है, विरोध नहीं। सहयोग जीवन का तत्व है, विरोध जीवन का दोष है। इसलिए वास्तव में दोष के ही विरोध को जीवन में स्थान है। स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के दोषों का विरोध और गुणों का सम्मिलन करते हुए पूर्ण दशा को पहुँचें——यही सृष्टि रचयिता को अभीष्ट है। अतएव सहयोग का अर्थ यहां है जीवन- कार्यों में सहयोग। केवल पति-पत्नी के ही नाते नहीं, बहन-भाई के नाते, माता-पुत्र के नाते, मित्र-मित्र के नाते, सब तरह स्त्री-पुरुष का सहयोग वांछनीय और उपयोगी है।

कुछ ज्ञानियों और सन्तों ने स्त्रियों की बुरी तरह निन्दा की है। किन्तु वह स्त्री-जाति, स्त्री-तत्व, स्त्री-शक्ति की निन्दा नहीं है, वास्तव में उसके दोषों, दुर्विकारों की निन्दा है। पुरुष के दोषों, दुर्गुणों की भी इतनी ही तीव्र निन्दा की जा सकती है। बल्कि पुरुष आक्रामक होने के कारण वह अधिक भर्त्सना का पात्र है। सच पूछिए तो दूसरे की निन्दा करना ही अनुचित है। हमारी असफलता, दुःख या कमजोरी का कारण हमें अपने ही अन्दर खोजना चाहिए। वह वहीं मिलेगा भी। किन्तु हम जल्दी में दूसरे के प्रति अनुदार, कठोर और अन्त में अन्यायी बन जाते हैं। इसमें न तो सच्चाई है, न न्याय है, न बहादुरी है।

[६]

स्त्री का महत्त्व

मानव-जीवन में स्त्री का महत्त्व उसकी शरीर-रचना से ही स्पष्ट है। सन्तति समाज को उसकी देन है। यद्यपि सन्तति में पुरुष का भी अंग या अंश है, किन्तु उसकी धारणा स्त्री के ही द्वारा

होती है। सन्तति देकर, उसका लालन-पालन और गुण-संवर्धन करके स्त्री समाज की सेवा करती है। इसके अतिरिक्त वह स्वयं भी पुत्री, बहन, पत्नी, माता, वृद्धा के रूप में समाज की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में अनेक प्रकार की सेवायें करती है, मनुष्य-जीवन को पूर्णांग बनाती है। मृदुल गुणों की अधिष्ठात्री होने के कारण वह समाज में सरसता और स्वाद की वृद्धि करती है। जीवन-संघर्ष में शान्ति और सान्त्वना की वह देवी है। विधवा के रूप में वह त्याग और संयम को स्फूर्ति देती है। पुत्री के रूप में घर को जगमगाती, बहन के रूप में भाई का बल और ढाल बनती, पत्नी के रूप में पति को अपने जीवन का सार-सर्वस्व लुटाती, माता के रूप में समाज को अपना श्रेष्ठतम दान देती, वृद्धा के रूप में समाज पर अपने अनुभव और आशीर्वाद की वृष्टि करती हुई स्त्री समाज के अगणित उपकार करती है। काव्य, नाटक, चित्र, संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं का आधार स्त्री-जाति ही है। इतिहास में स्त्रियों ने वीरोचित कार्य भी किये हैं। समय पड़ने पर स्त्रियों ने पुरुषों में वीरता और तेज का संचार भी किया है। दर्शन-ग्रन्थों में वह आदि शक्ति, महामाया भी मानी गई है। अतएव एक अर्थ में स्त्री ही समस्त शक्ति की जननी है। पुरुष अपने सारे सत्व को खींच कर स्त्री को प्रदान करता है। किन्तु स्त्री उसे गृहण करके अपनें सत्व में उसे मिलाती, अपने में उसे धारण करती, और फिर उसकी एक अनुपम कृति जगत् को प्रदान करती है। इसलिए पुरुष केवल देता है। किन्तु स्त्री लेती है, रखती है, मिलाती है, और फिर दे देती है। पुरुष तो अपनी थाथी स्त्री को देकर अलग हो जाता है, किन्तु स्त्री बड़ी वफादारी से उसे संचित करके जगत् को देकर ही अलग नहीं होजाती, बल्कि जगत् की सेवा के योग्य उसे बनाती है।

प्रकृति ने अपने समस्त गुणों को एकत्र करके उसके दो भाग किये

(१) मृदुल और (२) परुष । मृदुल अंश का नाम स्त्री और परुष का पुरुष रक्खा । स्वयं कष्ट सहकर दूसरों को सुख पहुँचाना मृदुल गुणों की विशेषता है । क्षमा, दया, तितिक्षा, उदारता, शांति, आदि मृदुल गुणों के कुछ नमूने हैं । ये अपने धारण करनेवाले को कष्ट और दूसरे को सुख पहुँचाते हैं । परन्तु धारण करनेवाला उस कष्ट को कष्ट इसलिए अनुभव नहीं करता कि वह दूसरे के सुख में अपने को सुखी मानता है । यही स्त्री का आदर्श है । यही स्त्री की दिव्यता है, यही पुरुष पर स्त्री की विजय है । यही जगत् में स्त्री का वैभव है । यही मानव जीवन में स्त्री का गौरव है । स्त्री के अभाव में जगत् हिंसा, कलह, अशान्ति और दुःख का नमूना बन गया होता । उसमें हरे-भरे विटप-वृन्द नहीं, बल्कि रूखे-सूखे ठूंठ नजर आते । शोभा, सुन्दरता, सरसता, सजीवता की जगह भीषणता, बीभत्सता, नृशंसता, स्वार्थान्धता और रक्त-पिपासा का राज्य दिखाई देता । स्त्री ने उत्पन्न होकर जगत् पर अमृत की वृष्टि की है । उसने मनुष्य को उत्पन्न ही नहीं किया, जगत् को जिलाया और अमर बनाया है ।

[७]

पुरुष का कार्य

पुरुष के शरीर में ओज, तेज, पराक्रम, के गुणों की अधिकता है । इसलिए, स्त्री जहां उत्साह और जीवन देती है तहां पुरुष रक्षा करता, आगे बढ़ता, कठिनाइयों को मिटाता, संकटों को चीरता और सफलता पाता है । स्त्री में रमणीयता और पुरुष में पराक्रम है । स्त्री लुभाती है और पुरुष भयभीत करता है । स्त्री में आकर्षण

है। पुरुष में आंच है, स्त्री की ओरम नुष्य बरबस दौड़ा जाता है, पुरुष की ओर सहमता हुआ कदम उठाता है। स्त्री ही के हृदय में अपना हृदय मिला देना चाहता है, किन्तु पुरुष को दूर ही से पूजने योग्य समझता है। पुरुष में सूर्य की प्रखरता है, स्त्री में शशि की स्निग्धता और सुधामयता। इसलिए पुरुष समाज का रक्षक, पथदर्शक, नेता और भय-त्राता है। स्त्री समाज की सेविका है, पुरुष समाज का सिपाही है। स्त्री खींचती है और जीतती है, पुरुष बढ़ता है और जीतता है। स्त्री स्नेह फैलाकर जीतती है, पुरुष धौंस दिखाकर जीतता है। स्त्री हृदय को जीतती है, पुरुष उसे दबाता है। स्त्री हराकर भी हारा हुआ नहीं समझने देती, पुरुष हराकर फिर कोशिश करता है कि यह जीतने न पावे। इस कारण यद्यपि पुरुष की धौंस का प्रभाव समाज पर विशेष रूप से पाया जाता है तथापि समाज के हृदय की डोर तो स्त्री ही हिलाती है। इसलिए पुरुष आदर-पात्र होता है पुरुष को आदर देकर बदले में लोग आदर नहीं पाते, किन्तु स्त्री को स्नेह देकर बदले में बढ़ता हुआ स्नेह पाते हैं। क्योंकि पुरुष अपने लिए बड़ा है, स्त्री दूसरों के लिए बड़ी है। धौंस आदर चाहती है—झुकाना चाहती है; स्नेह दिल मिलाना चाहता है। आदर में बड़प्पन है, स्नेह में समानता है। लोग बड़ों को चाहते तो हैं, किन्तु खुश रहते हैं बराबर वालों से। पुरुष में दूसरे को अंकित करने का भाव प्रबल है इसलिए ऐसे ही गुणों का विकास उसमें स्पष्ट रूप से पाया जाता है। इसलिए स्त्री की सेवाओं को इतिहास नहीं जानता, उसने मनुष्य के जीवन-विकास में अपना इतिहास छिपा रक्खा है।

पुरुष प्रधानतः इन चार रूपों म समाज की सेवा करता है—सिपाही, नेता, अध्यापक, गुरु। सिपाही के रूप में वह समाज के लिए

लड़ता और विजय पाता है। नेता के रूप में वह समाज को आगे खींचता और उठाता है। अध्यापक के रूप में वह अच्छे संस्कारों को जगाता और गुरु के रूप में उसे अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाता है। संसार में जहां कहीं निर्भयता है, तेजस्विता है, दुर्दमनीयता है, प्रखरता है, वह पुरुष-शक्ति की देन है। यदि पुरुष न होता तो हिंस्र पशु मनुष्य को चट कर गये होते। यदि पुरुष न होता तो स्त्री, बालक, निर्बल अनाथ हो गये होते। यदि पुरुष न होता तो मृदुल भावों, मृदुल गुणों, या यों कहें कि साहित्य, संगीत, कला, को आश्रय ही न मिला होता। पुरुष न होता तो राज्य, समाज, संस्थायें न बनी होतीं, न शास्त्र और विज्ञान का इतना विकास ही संभवनीय था। पुरुष न होता तो समाज में संगठन, आन्दोलन, युद्ध, विजय, इन शब्दों और बड़े-बड़े राज्य तथा धर्म-शास्त्रों का जन्म न हुआ होता। पुरुष मस्तिष्क का राजा है और स्त्री हृदय की देवी है। इसलिए पुरुष यदि न हुआ होता तो संसार दिमागी खूबियों से खाली रह जाता। पुरुष ज्ञान का और स्त्री बल का प्रतीक है। स्त्री न होती तो जिस प्रकार उत्साह और प्रेरणा-हीन निर्जीव समाज हमें मिला होता उसी प्रकार यदि पुरुष न हुआ होता तो अन्धे, पंगु, अबुध, असहाय, समाज में हम अपने को पाते। स्त्री बिना समाज यदि जीवन-हीन है तो पुरुष बिना गति-हीन और दर्शन-हीन। इसलिए पुरुष समाज का सिरमौर और वन्दनीय है। पुरुष सत्य का तेज है और स्त्री अहिंसा की देवी है।

---

[८]

बालक-जीवन

स्त्री में ऋतु की प्राप्ति और पुरुषों में मूंछों की रेख का बँधना बाल्य-काल की समाप्ति और यौवन के आगमन का चिन्ह । बचपन मनुष्य के जीवन में सबसे निर्दोष तथा कोमल अवस्था है। उस सरलता, निष्कपटता, सहज-स्नेह का अनुभव मनुष्य फिर पूर्ण ज्ञानी होने पर ही कर सकता है। बचपन की निष्पापता स्वाभाविक और ज्ञानी अथवा पूर्ण मनुष्य की साधुता परिपक्व ज्ञान का फल होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि बचपन में मनुष्य सचमुच निर्दोष होता है, बल्कि यह कि उस समय उसके संस्कार मन्द या सुप्त होते हैं और आगे चलकर वयोधर्मानुसार दुनिया के सम्पर्क में आने से जाग्रत और विकसित होते हैं। वास्तव में बालक भावी मनुष्य है। जैसे कली में फल छिपा हुआ होता है वैसे ही बालक में मनुष्य समाया हुआ होता है। बालक ही खिलकर और फलकर मनुष्य होता है। वह अपने प्राप्त और संचित संस्कारों के अनुसार गुण-दोष अपने आसपास के वातावरण में से गृहण करता रहता है और अन्त में मनुष्य बन जाता है। ज्यों-ज्यों बचपन समाप्त होता जाता है त्यों-त्यों उसमें एक ऐसी शक्ति पैदा होती जाती है जो उसे भले और बुरे की तमीज सिखाती है और अपने मन के वेगों को रोकने का सामर्थ्य देती है। इसे बुद्धि या सारासार-विचार-शक्ति कहते हैं। जब यह मनुष्य को किसी काम से रोकती है या किसी में प्रेरित करती है तब उसे पुरुषार्थ कहते हैं। इस विवेक और पुरुषार्थ के बल पर ही मनुष्य अपने बुरे संस्कारों को मिटाकर

अपनी उन्नति करता है। परन्तु बचपन में ये शक्तियां बीजरूप में रहती हैं, इसलिए किसी रखवाले की जरूरत होती है। दूध पीने तक मुख्यतः माता, पाठशाला जाने तक माता-पिता तथा कुटुम्बीजन और फिर अध्यापक बालक के रखवाले होते हैं। उसके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा, चाल-चलन, का भार इन्हीं पर होता है। बालक अनुकरणशील होता है। बोलने और अपने मन के सभी भावों को अच्छी तरह प्रकाशित करने का सामर्थ्य तो उसमें बहुत कम होता है; किन्तु समझने और ग्रहण करने की शक्ति काफी होती है। बालक कई बार आंखों के उतार-चढ़ाव और चेहरे के हाव-भाव से हमारे मन के भावों को ताड़ जाता है। वह हमारी समालोचना भी करता है और परीक्षा भी लेता रहता है। वचन-भंग से बालक बहुत रुष्ट होता है और बुरा मानता है। 'हठ' तो बालक की प्रसिद्ध ही है। इस कारण उसके अभिभावकों की जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है। वे बालक को जैसा बनाना चाहते हों वैसा ही वायुमण्डल उन्हें अपने घर और कुटुम्ब का बनाना चाहिए। हमारा निजी जीवन जैसा होगा वैसा ही घर का वातावरण होगा। दुर्व्यसनी, झूठे, पाखण्डी, दुष्ट लोगों के घर में बच्चा अच्छे संस्कार कैसे पा सकेगा ? अतएव बच्चे को अच्छा बनाना हो तो अपने को अच्छा बनाना चाहिए।

यदि हमने मनुष्य के जीवन के लक्ष्य को और उसके मर्म को अच्छी तरह समझ लिया है तो हमें बच्चे की शिक्षा-दीक्षा और पालन-पोषण में कठिनाई न होगी। मनुष्य का लक्ष्य एक है—पूर्ण स्वतंत्रता। उसीकी तरफ हमें बच्चे की प्रगति करना है। उसके कपड़े-लत्ते, खान-पान, खेल-कूद, पढ़ना-लिखना, सोना-बैठना, सबमें इस बात का पूरी तरह ध्यान रखना होगा। घरमें सादगी, स्वच्छता, सुघड़ता, पवित्रता

की वृद्धि जिस तरह हो वही उपाय हमें करने चाहिएँ। माता का दूध बच्चे का सर्वोत्तम आहार है। मां का दूध बन्द होने के बाद उसे सादे और सात्विक किन्तु पौष्टिक आहार की आदत डालनी चाहिए। सफाई और सुघड़ता का पूरा ध्यान रहे। दांत, नाक खूब साफ रहें। कपड़े और शरीर की सफ़ाई भी उतनी ही आवश्यक है। सुबह-शाम प्रार्थना करने की आदत डालनी चाहिए। अपनी चीजें सँभालकर और नियत स्थान पर रखना सिखाना चाहिए। ऐतिहासिक, राष्ट्रीय और दवी पुरुषों के चित्र और वैसे ही खिलौने उन्हें देने चाहिएँ। कहानियों और अच्छे-अच्छे भजनों तथा गीतों द्वारा उसका चरित्र बनाने का ध्यान रखना चाहिए। कोई गुप्त बात अथवा अश्लील कार्य बच्चे के सामने न करना चाहिए। बच्चों की शिक्षा के सम्बन्ध में विशेषज्ञों द्वारा निर्मित साहित्य माता-पिता को अवश्य पढ़ लेना चाहिए।*

बालक प्रकृति का दिया हुआ खिलौना, घर का दीपक और समाज की आशा होता है। इसलिए उसके प्रति सदा प्रेम का ही बरताव करना चाहिए। मारने-पीटने से उल्टा बालक का बिगाड़ होता है। बालक के साथ धीरज रखने की जरूरत है। जब हम नतीजा जल्दी निकालना चाहते हैं, या बच्चा हठ पकड़ लेता है तभी हम धीरज खो बैठते हैं और उसे मारने-पीटने लगते हैं। हमें इस प्रकार अपनी कमी की सजा बच्चे को न देना चाहिए। यद्यपि सभी बच्चों में एक ही आत्मा की ज्योति जगमगाती है और उसकी कोशिश बन्धन को तोड़कर

*गुजराती में दक्षिणामूर्ति भावनगर का और हिन्दी में हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग आदि द्वारा प्रकाशित बाल साहित्य पढ़ने योग्य है। बालकोपयोगी मासिक पत्र भी मंगाना चाहिए। 'बालक' 'बानर' 'शिशु' 'आनंद' (मराठी) 'शिक्षणपत्रिका' के नाम उल्लेखनीय हैं।

आजादी की ओर है तथापि हमें बच्चे की स्वाभाविक और आनुवंशिक प्रवृत्ति समझने की चेष्टा करनी चाहिए। आत्मिक अंश के साथ अनेक संस्कार मिलकर बच्चे का स्वभाव बनता है। उसकी चित्त-प्रवृत्ति जिधर हो उधर ही का मार्ग उसके लिए सुगम करदेना अभिभावकों का काम है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम उसकी बुरी प्रवृत्तियों को बढ़ावें। कोई बालक भावना-प्रधान होता है, कोई बुद्धि-प्रधान; किसी का मन पढ़ने-लिखने में अधिक लगता है, तो किसी का खेलकूद में। यह जरूरी नहीं है कि बच्चे को हम सदैव अपनी इच्छा के अनुसार चलावें। उसे उसकी स्वाभाविक सत् प्रवृत्ति की ओर बढ़ने दें—सिर्फ हम उतनी ही रोक-थाम करते रहें जितनी उसको कुप्रवृतियों की ओर से हटाने के लिए आवश्यक है। बच्चे के लिए हर आवश्यक सामग्री के चुनाव में हम पूरी सावधानी से काम लें। अनियम और स्वेच्छाचार से उसे बचाने का उद्योग करें। ऐसे खेलों की आदत डालें जिससे उसका शरीर गठीला हो और मन पर अच्छे संस्कार पड़ें। देशभक्ति, मानव-सेवा, नीति और सदाचार-सम्बन्धी श्लोक, भजन, बोध-वचन उसे कंठस्थ कराना चाहिए। अपने कुल, समाज और देश या राष्ट्र की परम्परा तथा संस्कृति का ज्ञान उसे बचपन से ही प्रसंगानुसार कराते रहना चाहिए। जीवन-चरित्रों का असर बालक के हृदय पर बहुत होता है। इसलिए देश-विदेशों के उत्तम और वीर-पुरुषों के चरित्र उसे अवश्य सुनाने चाहिएँ। भूत-प्रेत आदि की डरावनी-बातें कहकर बच्चे के हृदय को निर्बल न बनाना चाहिए। बच्चा यदि डर से कोई काम करता हो तो इसमें बच्चे की किसी प्रकार उन्नति नहीं है। दब्बू बालक घर, कुटुम्ब, समाज सबके लिए शर्म है। अभिभावकों की सदा यह इच्छा रहनी चाहिए कि हमारा बालक हमसे बढ़कर निकले। वीर और

सेवा-परायण बालकों के चरित्र भी सुनाने चाहिएँ। जबतक लिंग-ज्ञान न होने लगे तबतक लड़के-लड़कियों को साथ रहने और खेलने में हर्ज नहीं है। हठी बालक से घबराना न चाहिए। बोदे बालक की अपेक्षा हठी बालक अच्छा होता है। आज्ञाओं और नियमों का पालन बच्चों पर लादना नहीं चाहिए। किन्तु वह नियम-वद्ध और आज्ञापालक हो, इस ओर ध्यान देना चाहिए। हमारे घर का जीवन भी ऐसा होना चाहिए कि बच्चा खुद-ब-खुद नम्र और सभ्य बनता जाय। अपनी जरूरत के हर काम को खुद करने की आदत बच्चे को डालना चाहिए। अपनी अपेक्षा अपने सहवासियों का अधिक खयाल करने की शिक्षा बालक को सदैव देनी चाहिए।

बालक मानव-जीवन की ज्योति है, इसलिए, जीवन-संघर्ष में पड़ने के पहले ही, उसे आवश्यक रूप से तैयार करना प्रत्येक माता-पिता और अभिभावक का परमधर्म है।

[९]

सार्थक जीवन की शर्तें

अब जीवन को सार्थक बनाने वाली शर्तों को जान लेना जरूरी है। पहले तो हम यह अच्छी तरह समझ लें कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य—सर्वोच्च आदर्श—क्या है। इसके बाद हम यह सोचें कि जीवन के विकास-पथ में हम आज किस मंजिल पर हैं। तभी हम अपना कार्यक्रम बनाने में सफल हो सकेंगे। अपने अन्तिम लक्ष्य के अनुरूप कोई निकटवर्ती जीवन-साध्य हमें निश्चित कर लेना चाहिए। वह ऐसा हो जो हमारी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल हो। फिर हमें तत्सम्बन्धी अपनी योग्यता और अपूर्णता का विचार करना चाहिए।

और फिर अपूर्णता की पूर्ति का उद्योग करना चाहिए। साथ ही हमें अपने दैनिक जीवन के कार्यक्रम की उचित व्यवस्था करनी चाहिए।

कार्यक्रम भी दो प्रकार का हो सकता है—एक तो व्यक्तिगत दूसरा सामाजिक। व्यक्तिगत में सिर्फ इतना ही विचार करना काफी होगा कि हमारे घर की स्थिति कितनी अनुकूल और कितनी प्रतिकूल है। सामाजिक कार्यक्रम की अवस्था में सामाजिक स्थिति का भी हिसाब लगाना होगा। किसी कार्यक्रम का निश्चय करने के पहले हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि इसका असर मुझ पर, सामनेवाले पर, मेरे कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र तथा उनकी व्यवस्थाओं पर क्या होगा ? यदि कार्य ऐसा हो कि अकेले मुझे तो लाभ हो; पर शेष सबको हानि, तो उसे त्याज्य समझना चाहिए। छोटे और थोड़े लाभ को बड़े लाभ के आगे छोड़ने की प्रवृत्ति रखनी चाहिए। यदि अपना और कुटुम्ब का लाभ होता हो, किन्तु समाज और देश का अहित होता हो तो उसे छोड़ देना चाहिए। इसके विपरीत यदि समाज और देश का हित होता हो तो अपनी और कुटुम्ब की हानि को मंजूर करके भी उसे करना चाहिए।

हमारी अपूर्णता दो प्रकार की हो सकती है—विचार या बुद्धि-सम्बन्धी और भौतिक सामग्री-सम्बन्धी। ज्ञान-सम्बन्धी हो तो अपने से अधिक योग्य और अनुभवी व्यक्ति को पथदर्शक बनाना चाहिए। भौतिक सामग्री में धन, जन, और अन्य उपकरणों का समावेश होता है। धन प्रधानतः धनियों से मिल सकता है। सहायक आरम्भ में अपने कुटुम्ब, मित्र-मंडल और सहयोगियों में से मिल सकते हैं। उच्च चारित्र्य सब जगह हमारी सहायता करेगा। यदि चारित्र्य नहीं है तो धनियों की खुशामद करनी होगी। खुशामद हमें शुरू में ही गिरा देगी। जिस अन्तिम लक्ष्य की साधना के लिए हमने कदम

बढ़ाया है उससे हमारा मुँह मोड़ देगी। खुशामद के लिए मिथ्या स्तुति अनिवार्य है। वह हमें सत्य से दूर ले जायगी और बल तथा प्रभाव तो सच्चाई में ही है। अतः धन प्राप्त करने के लिए हमें सब से पहले सच्चाई का आश्रय लेना होगा। जन प्राप्त करने के लिए प्रेम, समता, उदारता और क्षमाशीलता जरूरी है। 'मुझे किसीकी परवा नहीं' ऐसी मनोवृत्ति से जन नहीं जुट सकते। जन जुटाने में हमें उलटा सौदा न कर लेना चाहिए। सिद्धान्त, आदर्श और मनोवृत्ति की एकता जितनी ही अधिक होगी उतनी ही सहयोगिता स्थायी और सुखद होगी।

धन-जन आदि सामग्री प्राप्त कर लेना तो फिर भी आसान है; परन्तु उनको संग्रह कर रखना और उनका उचित उपयोग करना बड़ा कठिन है। खुशामद, बाहरी प्रलोभन से धन-जन-सामग्री जुट तो सकती है; किन्तु संचित नहीं रह सकती। यदि केवल स्वार्थ हमारा उद्देश होगा तो भी वह घर आई सम्पद् चली जायगी। हममें जितनी ही निस्वार्थता और सचाई होगी उतनी ही यह सम्पद् टिक रहेगी। सचाई के मानी हैं उच्चार और आचार की एकता। उचित उपयोग के लिए बुद्धि-बल की आवश्यकता है। मानवी स्वभाव का ज्ञान, समय की परख, समझाने की शक्ति, तात्कालिक आवश्यकता की सूझ, सरस और मीठी वाणी इसके लिए बहुत जरूरी है। प्राप्त धन-जन और अपनी बुद्धि के उचित उपयोग से हम अपना कार्य भी साधते हैं और उसके द्वारा प्राप्त अनुभव से अपनी अपूर्णता भी कम करते हैं।

इसके अतिरिक्त शरीर, मन और बुद्धि-सम्बन्धी गुणों की आवश्यकता तो हई है। यदि हम अपने अन्तिम लक्ष्य और निकटवर्ती ध्येय को ठीक कर लें और सदा इस बात का ध्यान रखते रहें कि हम सीधे अपने लक्ष्य की ओर ही जा रहे हैं तो हमें अपने आप सूझता जायगा कि हमें किन-

किन शारीरिक, मानसिक और आत्मिक गुणों के प्राप्त करने की आवश्यकता है । अन्तिम लक्ष्य तो मनुष्यमात्र का निश्चित ही है । फर्ज कीजिए कि गोविन्द ने अपने लिए यह तय किया कि भारत के लिए पूर्ण राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना उसका नजदीकी लक्ष्य है । इस लक्ष्य को प्राप्त करके वह अन्तिम लक्ष्य पूर्ण आत्मिक स्वतंत्रता को पहुँचना चाहता है, तो सबसे पहले वह इस बात का विचार करेगा कि उसके स्वराज्य-प्राप्ति के साधन ऐसे हों जो उसे आत्मिक स्वतंत्रता से पराङ मुख न कर दें । यदि आत्मिक स्वतंत्रता उसके दृष्टि-पथ से अलग नहीं है तो वह फौरन् इस निर्णय पर पहुँच जायगा कि भारतीय राजनैतिक स्वतंत्रता का पथ उसकी आत्मिक स्वतंत्रता के पथ से भिन्न नहीं हो सकता । यदि इस बात में कोई गलती नहीं है कि मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य पूर्ण आत्मिक स्वाधीनता है तो फिर प्रत्येक भारतीय का मनुष्य होने के नाते वही अन्तिम लक्ष्य है और इसलिए उसकी राजनैतिक स्वाधीनता का पथ आत्मिक स्वाधीनता के ही अनुकूल होगा । आत्मिक स्वाधीनता के लिए सब से जरूरी बात है मनुष्य में सच्चाई का होना । सच्चाई के दो मानी हैं—एक तो सच्चाई का ज्ञान और दूसरे उसका दृढ़ता से पालन करने की व्याकुलता । यह सच्चाई मनुष्य की गति को रुकने नहीं देती और ठीक लक्ष्य की ओर अचूक ले जाती है । और यही गुण राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए भी अनिवार्य है । क्योंकि बल जो कुछ है वह सच्चाई में ही है । कहते हैं—सांच को आंच क्या ? झूठ आखिर कै दिन चलता है ? झूठे आदमी से लोग डरते हैं, प्रेम नहीं करते । राजनैतिक और आत्मिक दोनों स्वतन्त्रताओं के लिए एक जरूरी बात यह है कि मनुष्य दूसरों के साथ अपने संबंध को स्थिर करे । उसे दूसरों के संपर्क में आना पड़ता है; उन्हें काम देना

पड़ता है और उनसे काम लेना पड़ता है। यह सम्बन्ध जितना ही अधिक मधुर, प्रेममय और सुखदायी हो उतना ही जीवन और जीवन की प्रगति सुखमय, निश्चित और शीघ्र होगी। दूसरों को दुःख न देते हुए काम करने की प्रवृत्ति रखना इसके लिए बहुत आवश्यक है। खुद कष्ट उठालें पर दूसरों को कष्ट न होने पावे—इस भावना का नाम है अहिंसा। यह अहिंसा हमारे पारस्परिक व्यवहार को शुद्ध स्थिर और परस्पर-सहायक बनाती है। यह सत्य का ही व्यावहारिक रूप है। अपनी दृष्टि से, अपनी अपेक्षा से जिसे सत्य कहते हैं, दूसरे की अपेक्षा से वह अहिंसा कहा जाता है। सत्य का प्रयोग जब दूसरे पर करते हैं तो वह अहिंसा के रूप में बदल जाता है। इस तरह क्या आत्मिक स्वाधीनता और क्या राजनैतिक स्वतंत्रता दोनों के लिए सत्य और अहिंसा ये दो गुण प्रत्येक मनुष्य में और इसलिए प्रत्येक भारतीय में अनिवार्य हैं। जितना ही इनका विकास हमारे अन्दर अधिक होगा उतने ही हम दोनों प्रकार की स्वाधीनता के निकट पहुंचेंगे। यह सोचकर गोविन्द निश्चय करता है कि मैं सत्य और अहिंसा का पालन करूँगा। ये तो हुए सर्व-प्रधान मानसिक और आत्मिक गुण। दोनों स्वाधीनताओं के लिए मनुष्य में कठोर और मृदुल दोनों प्रकार के गुणों के उदय की आवश्यकता है।

पिछले अध्यायों में हम यह देख ही चुके हैं कि क्षमा, दया, तितिक्षा, उदारता, शान्ति आदि मृदुल गुण हैं और पुरुषार्थ, पराक्रम, शूरवीरता, तेजस्विता, निर्भयता, साहस आदि कठोर गुण हैं। समस्त कठोर गुणों का समावेश सत्य में और मृदुल गुणों का अहिंसा में हो जाता है। एक ओर से सत्य का आग्रह रखने का और दूसरी ओर से अहिंसा के पालन का आप प्रयत्न कीजिए तो मालूम होने लगेगा कि आपमें कठोर और मृदुल दोनों प्रकार के गुणों का विकास हो रहा है—एक

ओर आपका तेज अबाध रूप से बढ़ रहा है और दूसरी ओर सहवासियों में आपके प्रति प्रेम और सहयोग की मात्रा बढ़ती जा रही है। सत्य अपने स्वत्व की गैरंटी है और अहिंसा दूसरे को उसके स्वत्व रक्षा का आश्वासन देती है। सत्य जब व्यावहारिक रूप में अहिंसा बनने लगता है तब कौशल या चातुरी की उत्पत्ति होती है। जब मनुष्य को यह सोचना पड़ता है कि एक ओर मुझे सत्य से डिगना नहीं है, दूसरी ओर दूसरे को कष्ट पहुंचने नहीं देना है; किन्तु यह बात तो दूसरे से कहनी या करा लेनी है तो अब ऐसी दशा में किस तरह काम किया जाय ? इसका जो उत्तर उसे मिलता है या जो रीति उसे सूझती है उसीको व्यावहारिक भाषा में कौशल या चातुरी कहते हैं। सत्य और अहिंसा की रगड़ से यह पैदा होती है। झूठ, बनावट, मक्कारी से भी चतुराई की जाती है; किन्तु असली हीरे और नकली हीरे में जो भेद होता है वही इन दोनों प्रकार के कौशल में होता है। एक जबानी, ऊपरी और दिखाने के लिए होता है; दूसरा हृदय की संस्कृति का फल होता है। सत्य और अहिंसा के मंथन से एक और मानसिक गुण बढ़ता है वह है बुद्धि की तीक्ष्णता। सत्य और अहिंसा के पथिक को कदम-कदम पर सोचना पड़ता है। पेचीदगियों में से रास्ता निकालना पड़ता है। इससे उसकी प्रज्ञा तीक्ष्ण होती है।

अब रही शारीरिक योग्यता। सो यह उचित खान-पान, व्यायाम आदि से प्राप्त हो जाती है। परिमित आहार और नियमित व्यायाम नीरोगता की सबसे बढ़कर ओषधि है। दूध से बढ़कर पौष्टिक, नींद से बढ़कर दिमाग को ताकत पहुँचानेवाली वस्तु और दूर तक घूमने से बढ़कर मन्दाग्नि को दूर करने का उपाय संसार में नहीं है। व्यायाम जहां तक हो स्वाभाविक और उत्पादक हो।

इसके बाद गोविन्द यह चुनता है कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए मैं किस काम को अपनाऊँ ? अपनी रुचि और योग्यता को देखकर वह किसी एक काम को लेता है और उसमें अपनी सारी शक्ति लगा देता है। धन-जन लाता है, आवश्यक जानकारी प्राप्त करता है और उसे पूरा करता है। प्रत्येक कामकी योग्यता और आवश्यकता का वह विचार करता है। फर्ज कीजिए, उसके सामने दो काम आते हैं— एक विधवा-विवाह और दूसरा अस्पृश्यता-निवारण। वह अस्पृश्यता निवारण को चुनता है। क्योंकि विधवा-विवाह के बिना भारत की आजादी उतनी नहीं रुकती जितनी अछूतपन के कारण रुक रही है। इस तरह वह अपने जीवन की हर एक सांस में यह विचार करेगा कि कौन से काम करूँ जिससे स्वाधीनता जल्दी से जल्दी आवे। अनुकूल कामों को, गुणों को, शक्तियों को वह अपनावेगा; प्रतिकूल को छोड़ेगा, या अनुकूलता में परिणत करने का उद्योग करेगा। जब जीवन के प्रत्येक छोटे काम में भी वह इस दृष्टि से काम लेगा तो उसे दीख पड़ेगा कि सामान्य व्यवहार में न-कुछ और क्षुद्र दिखनेवाले काम, विचार, व्यवहार भी कितने महत्वपूर्ण हैं और मनुष्य को कितना सम्हलने की, जागरूक रहने की और सारासार-विचार करने की आवश्यकता है। वह हर एक बात की जड़तक पहुँचने की कोशिश करेगा— और किसी चीज को जड़ से ही बनाने या बिगाड़ने का उद्योग करेगा। ऊपरी इलाज से उसे सन्तोष न होगा। यह वृति उसे गम्भीर, धीर और निश्चयी बनावेगी, और अन्त को सफलता के राजमार्ग पर ला रक्खेगी।

जीवन को सार्थक बनाने की प्रायः सब शर्तें यहां आ अई हैं अब हम यह देखें कि मनुष्य क्या होने चला था और क्या हो गया है ?

स्वतंत्र-जीवन

[२]

[१]

कहाँ फँस मरा ?

मनुष्य जन्मतः स्वतंत्र है। जिन संस्कारों को लेकर वह जन्मा है, जिन माता-पिताओं के लालन-पालन ने उसे परवरिश किया है, जिन मित्रों, कुटुम्बियों और गुरुजनों ने उसका जीवन बनानें में उसे शिक्षा-दीक्षा, सुमति और सहयोग दिया है, उसके प्रति अपनें बन्धनों और कर्त्तव्यों को छोड़कर कोई कारण ऐसा नहीं है जिससे वह अपनी इच्छा और रुचि के प्रतिकूल किसी के अधीन बनकर रहे। संसार में कोई शक्ति ऐसी नहीं है, जो उसे दबाकर, अपना दास बना कर रख सके। यदि मनुष्य आज हमें किसी व्यक्ति, समूह, प्रथा या नियम का गुलाम दिखाई दे रहा है, तो यह उसकी अपनी करतूतों का फल है, उसकी त्रुटियों, दुर्गुणों, कुसंस्कारों का परिणाम है। अन्यथा

वयस्क—बालिग—होते ही वह अपनी रुचि, अपनी इच्छा, अपने आदर्श और उद्देश के अनुसार चलने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है। आरम्भ में मनुष्य स्वतंत्र ही पैदा हुआ था। किन्तु उसके स्वार्थ-भाव ने, उसके भेड़ियापन और लुटेरेपन ने, उसे स्वामी और दास, सम्पन्न और दीन, पीड़क और पीड़ित, इन दो भागों में बांट दिया है। पशु के मुकाबले में जो अनन्त शक्तियां मनुष्य को मिली हैं, उनका परिणाम तो यह होना चाहिए था कि वह हर अर्थ में पशु से ऊँचा, बली, पवित्र और रक्षक साबित हो, किन्तु पूर्वोक्त दो बुराइयों ने कई बातों में उसे पशु से भी गया-बीता बना दिया है। एक पशु दूसरे पशु को अपना गुलाम बनाने की कला में इतना निपुण कहां है ? इतने वैज्ञानिक और सभ्य तरीके से दूसरे पशु को हड़प जाने, फाड़ खाने के लक्षण उनमें कहां मिलते हैं ? परन्तु मनुष्य ने अपनी बुद्धि–जो पशु को प्राप्त नहीं है—और पुरुषार्थ का ऐसा दुरुपयोग किया है कि आज वह खुद ही अपने बनाये जाल में फँसकर उसमें से निकने के लिए बुरी तरह छटपटा रहा है। उसने जो समाज और शासन का ढांचा खड़ा किया है—समय-समय पर जो कुछ परिवर्तन उसमें करता रहा—वह यद्यपि इसी उद्देश से था कि मनुष्य स्वतंत्र और सुखी रहे; किन्तु कुबुद्धि ने उसे अच्छे नियमों, तथा सत्प्रणालियों का उपयोग, एक का स्वामित्व और प्रभुता बढ़ाने में तथा दूसरे को सेवक और रंक बनाने में करने के लिए विवश कर दिया। उसने स्वतंत्रता के शरीर को पकड़ रक्खा, पर आत्मा की उपेक्षा की और उसे खो दिया। स्वतंत्रता के क्षेत्र में उसने ऊँची-से-ऊँची उड़ानें मारीं, अनन्त शक्तियों की पूर्णता या पूर्ण विकास तक की कल्पना उसने कर डाली, फिर भी आज हम उसके अधिकांश भाग को पीड़ित, दलित, दीन, दुखी, पतित और पिछड़ा हुआ पाते हैं। पशु स्वतंत्र है, गुलामी

उसे यदि सिखाई है तो मनुष्य ने ही। इसमें मनुष्य ही उसका गुरु और स्वामी है। मनुष्य चढ़ने की धुन में, चढ़ने के भ्रम में इतना गिरा कि केवल पशु-पक्षी ही नहीं खुद अपनी जाति और अपने भाइयों को भी गुलाम बना के छोड़ा। आज व्यक्ति, समूह और जातियां दूसरे को अपने छल, बल और भेड़ियापन के बदौलत अपना दास और दबा हुआ बनाकर उसपर गर्व करते हैं, मूछें मरोड़ते हैं, अपना गौरव-समझते हैं !! यह पतन मनुष्य ने खुद ही अपने हाथों कर लिया है—'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के नियम को इसका श्रेय है। स्वतंत्रता के वास्तविक रूप को उसने भुला दिया। अपनें असली रूप को वह भूल गया। अपने गन्तव्य स्थान का भान उसे न रहा। स्वतंत्र उत्पन्न होकर वह चिरस्थायी सुख की शोध में चला और मनुष्य-जाति को पीड़क और पीड़ित दो भागों में बांट दिया। उसकी बुद्धि और साधना ने उसको सुख, शान्ति और आनन्द के धाम तक पहुँचा दिया था; किन्तु अपना ही भला चाहने, अपनी ही रोटी सेंक लेने, और दूसरे की परोसी थाली को खुद छीनकर खा जाने की प्रवृत्ति ने आज उसे अपने ही मुट्ठीभर भाइयों का दास बना रक्खा है ! जो स्वतंत्रता का प्रेमी था, साधक था, व्यक्तिरूप में उसका उपभोग भी करता था, वही जालिम और मजलूम, दास और प्रभु के टुकड़ों मैं बँट गया। मुट्ठीभर लोग स्वतंत्रता के नामपर स्वतंत्रता के नशे में, अपने करोड़ों भाइयों का खून चूसते हैं, उनकी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते हैं, अपने को बड़ा, ऊँचा, श्रेष्ठ समझकर उन्हें हीन, गिरा और हेय समझने में अपनें बड़प्पन, उच्चता और श्रेष्ठता की शान मानते हैं। इसका मूल कारण यही है कि उसने स्वतंत्रता से तो प्रीति की, पर उससे ऐसा चिपटा कि उसे भी अपने अधीन बना डाला ! अपनी प्रियतमा के बदले उसे पदांकित दासी बना डाला !!

अर्थात् स्वतंत्रता को तो उसने थोड़ा-बहुत समझा, पर उसकी रक्षा और उसके स्वरूप की सच्ची झांकी बहुजन-समाज को कराने के उद्देश से ही सही, कुबुद्धि, स्वार्थ-भाव, लुटेरेपन ने उसे अपने भाइयों का सेवक, सखा, मित्र बनाने के बदले स्वामी, पीड़क और जबरदस्त बना दिया। स्वतंत्रता का वह इच्छुक रहा और है, पर उसके पूर्ण और असली स्वरूप को भूल गया, दूसरे भाई के प्रति अपने व्यवहार-नियम और कर्त्तव्य को बिसार बैठा, जिसका फल यह हुआ कि आज उसे अपने ही पर घृणा हो रही है। यदि मनुष्य आज अपनी ऊपरी तड़क-भड़क के अन्दर छिपे गन्दे ढांचे को देखे, अपने क्षुद्र मनोभावों को जांचे तो, उसे अपना वर्तमान जीवन भारतभूत होने लगे, अपने पर गर्व और गौरव होने के बदले शर्म और ग्लानि से उसका सिर नीचे होने लगे। अरे, यह अमरता का यात्री किस अन्धे कुए में जा गिरा? अपने भाइयों को, उद्धार करने का टिकट देकर, सारे जहाज को ही किस विकट रेते में फँसा मारा? मनुष्य, क्या तू अपने को पहचान रहा है? सच्ची स्वतंत्रता की याद तुझे है? अपने चलने और जाने के मुकाम का खयाल तुझे है? इस समय किस जगह है और कहां जा रहा है—इसकी सुध तुझे है? क्या तू चेतेगा? सुनेगा? जागेगा? सोचेगा—सम्हालेगा, अपने को और अपने भाइयों को अपने गुलामी के अन्धे गड्ढे से निकालेगा और उन्हें लेकर आगे दौड़ेगा?

---

[२]

सामूहिक-स्वतंत्रता

मनुष्य स्वतंत्र जन्मा तो है, उसे स्वतंत्रता परमप्रिय तो है किन्तु उसने उसकी असलियत को भुला दिया है, खो दिया है । एक मनुष्य महज अपनी ही स्वतंत्रता का खयाल करता है, दूसरों की का नहीं; यदि करता भी है तो अपनी का अधिक, दूसरों की का कम । एक तो उसने आधी स्वतंत्रता को पूरी स्वतंत्रता समझ रक्खा है, दूसरे सामूहिक रूप में स्वतंत्रता की पूरी ऊँचाई, पूरी दूरी तक नहीं पहुँच पाया है, या पाता है; तमाम किरणों सहित स्वतंत्रता का पूरा दर्शन वह नहीं कर रहा है, या उसके पूरे वैभव और स्वरूप से दूर रहता है । सच्ची स्वतंत्रता वह है, जो अपना तथा दूसरों का समान रूप से खयाल और लिहाज रक्खे । जो अधिकार, सुविधा या सुख मैं अपने लिए चाहता हूँ वह मैं औरों को क्यों न लेने दूं ? यदि खुले या छिपे तौर पर, जान में वा अनजान में, मैं ऐसा नहीं करता हूँ, तो अपने को सच्ची स्वतंत्रता का प्रेमी कैसे कह सकता हूँ ? मनुष्य अकेला नहीं है । उसके साथ उसका कुटुम्ब, मित्रमण्डल और समाज जुड़ा हुआ है । संन्यासी हो जाने पर भी, जंगल में धूनी रमाने पर भी, वह समाज के परिणामों, प्रभावों और उपकारों से अपने को नहीं बचा सकता । जबतक एक भी मनुष्य उसके पास आता है, या आ सकता है, समाज की एक वस्तु, घटना या भावना उस तक पहुँचती रहती है तबतक वह उसके प्रभावों से अपने को सामान्यतः नहीं बचा सकता । अतएव अपने हित, सुख और आनन्द का खयाल करनें के साथ ही उसे दूसरे के हित, सुख और आनन्द का भी

खयाल करना ही पड़ता है और करना ही चाहिए। अतएव वह महज अपनी परतंत्रता की बेड़ियां काटकर खामोश नहीं बैठ सकता। अपने पड़ौसियों का भी उसे खयाल रखना होगा। जो मनुष्य अपनी स्वाधीनता का सवाल जितना ही हल कर चुका होगा वह उतना ही अधिक दूसरों को स्वाधीनता दिलाने में, या उसकी रक्षा करने में सफल होगा और उस मनुष्य की अपेक्षा जो बेचारा अपने ही बन्धनों को काटने में लगा हुआ है, उसपर इसकी अधिक जिम्मेवारी भी है। यह एक मोटी-सी बात है कि जिसके पास अपना काम शेष नहीं रह गया है वह दूसरों का काम करदे, जो कि उससे कमजोर, या पिछड़े हुए हैं। इस प्रकार दूसरों की सहायता या सेवा करना मनुष्य की एक स्वाभाविक और उन्नत भावना है, जो कि मनुष्य की पूर्णता की वृद्धि के साथ ही उसपर उसकी अधिक जिम्मेवारी डालती जाती है।

इस तरह एक तो हमने स्वतंत्रता के अधकचरे रूप को देखा है और दूसरे खुद उससे लाभ उठाने की अधिक चेष्टा की है, दूसरों को उसका लाभ लेनेदेने या पहुँचानें की तरफ हमारी तवज्जो कम रही है। यही कारण है, जो मनुष्य जाति सच्ची और पूरी स्वतंत्रता से अभी कोसों और बरसों दूर है। यदि मनुष्य अपने जीवन पर दृष्टि डाले तो उसे पता लगेगा कि आज वह स्वतंत्रता का प्रेमी बनकर, समाज या देश में नहीं रह रहा है, बल्कि धन, सत्ता, विद्वत्ता, वंशोच्चता या परम्परागत बड़-प्पन के बदौलत इनके प्रभावों से लाभ उठाकर वह दूसरों को दबाने का कारण बन रहा है। मेरी पत्नी यह मानती चली आई है कि पति तो भला बुरा जैसा हो पति-देव है; उसका कहा मुझे मानना ही चाहिए, उसका आदर मुझे करना ही चाहिए। बेटा-बेटी और नौकर-चाकर भी यही सुनते, देखते और समझते चले आये हैं कि बड़ों का, बुजुर्गों का,

मालिकों का हुक्म बजाना ही चाहिए; उनके सामने उनका सिर सदा झुका ही रहना चाहिए। प्रजा को यह सिखाया ही गया है कि वह राजा या शासकों के रौब को माने ही—उसके अन्तर के विकास की पुकार के विपरीत भी वह शासन और सत्ता के सामने सिर झुकाये ही। पर मैं पूछता हूँ कि क्या यह हमारे लिए—सच्चे मनुष्य के लिए—गौरव और गर्व की बात है? इस तरह सीधे या उलटे तरीकों से बड़ाई धन और अधिकार पाना अथवा उसके मिलने पर फूलना, इसमें कौन बड़ाई है? क्या पुरुषार्थ है? बड़ाई और पुरुषार्थ, गर्व और गौरव की बात तो तब हो, जब मनुष्य इन साधनों के दबाव से नहीं बल्कि अपने पूर्ण स्वतन्त्रता-प्रेम के कारण दूसरों के हृदय पर अधिकार करले और उसे बनाये रक्खे। दूसरे मनुष्य उसके शारीरिक बल, बुद्धि-वैभव, धन-लोभ, कुल-गौरव या सत्ता-भय से दबकर नहीं, बल्कि उसके स्वतन्त्रता-प्रेम से उसकी पुष्टि करनेवाले सद्गुणों से, प्रेरित, आकर्षित होकर उसे चाहें, अपने हृदय में प्रेम और आदर की चीज बनावें, तो यह स्थिति अलबत्ता समझ में आ सकती है। इसका गौरव और उच्चता तथा दोनों के सच्चे लाभ की कल्पना करके मन आनन्द में नाचने लगता है। उस समय प्रेम और आदर, सुख और शान्ति, प्रगति और उन्नति बनावटी, क्षण-स्थायी और ऊपरी नहीं बल्कि सच्ची, हार्दिक और स्थायी होगी। पर स्वतन्त्रता के इस सच्चे लाभ को हम तभी पा सकते हैं, जब हम सच्चे अर्थ में स्वतन्त्रता की आराधना करें। जितना जोर हम अपनी स्वतन्त्रता पर देते हैं, जितना ध्यान हम अपनी स्वतन्त्रता का करते और रखते हैं, उतना ही दूसरों की स्वतन्त्रता को निबाहने का भी रक्खें। अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति या रक्षा के लिए यदि आज हम तन, मन, धन सब स्वाहा करने के लिए तैयार हो जाते हैं तो दूसरों को स्वतन्त्रता दिलाने और उसकी

रक्षा करने के लिए भी क्या हम अपने को इतना तैयार पाते हैं ? रक्षक होने के बजाय हम उलटे आज दूसरों की, अपने से कम भाग्यशाली या पिछड़े और गिरे भाइयों की स्वतंत्रता के भक्षक नहीं बन रहें हैं ? इस-लिए हमें महज दूसरों की, अपने पड़ौसी की, स्वतन्त्रता का ध्यान रखने से ही काम न चलेगा। खुद अपनी स्वतन्त्रता से अधिक महत्व दूसरों की, पड़ौसी की, स्वतन्त्रता को देना होगा। ऐसा प्रयत्न करने पर ही वह अपनी स्वतन्त्रता के बराबर उसकी स्वतन्त्रता का ध्यान रख सकेगा। क्योंकि अधिकांश मनुष्य स्वार्थ की ओर अधिक और पहले झुकते हैं। इसलिए जरूरी है कि मनुष्य दूसरे का खयाल करने की आदत डाले। इतिहास में अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए लड़ने के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। किन्तु ऐसे कितने सत्पुरुष हुए हैं जिन्होंने महज दूसरों को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयां लड़ी हैं ? मनुष्य-जाति अभीतक विकास-मार्ग में जिस मंजिल तक पहुँच चुकी है उसमें अभी इस विचार को पूरा महत्व नहीं मिला है इसलिए मेरी राय में हमारी स्वतन्त्रता की भावना अधूरी बनी हुई है। इस अधूरी भावना ने ही साम्राज्यवाद को जन्म दिया है। यही स्वेच्छाचार और अत्याचार की जननी है। कपट-नीति को भी पोषण बहुत-कुछ इसीसे मिलता है। यदि मनुष्य अपने से अधिक दूसरों का खयाल रखने लगें तो ये महादोष समाज से अपने-आप मिटनें लगें। फिर इस भावना की वृद्धि से मनुष्य न केवल स्वयं उन्नति-पथ में अग्रसर होता जायगा, बल्कि समाज को भी आगे बढाता जायगा। न केवल उसके वरन् सामूहिक हित के लिए भी इस भावना की पुष्टि आवश्यक है।

---

[३]

शासन की आदर्श कल्पना

स्वातंत्रता का या समाज-व्यवस्था का सबसे बड़ा और प्रबल साधन शासन रहा है। अतएव पहले उसीका विचार करें। मनुष्य-जाति के विकास और इतिहास पर दृष्टि डालें तो यह पता चलता है कि आरम्भ में मनुष्य का मानसिक और बौद्धिक विकास चाहे अधिक न था, पर वह स्वतंत्र आज से निश्चित रूप में अधिक था। ज्ञान साधन और संस्कृति में चाहे वह पिछड़ा हुआ था; पर आज की तरह अपनें भाइयों का ही, अपना ही इतना अधिक गुलाम न था! जब तक वह अकेला रहा, अपनी हर बात में स्वतंत्र था। जब उसने कुटुम्ब बनाया और जाति या समाज की नींव पड़ी, तब वह अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क और असर में आने लगा। पर ज्ञान और संस्कृति की कमी से आपस में झगड़े और बुराइयां पैदा होने लगीं एवं एक-दूसरे पर असर डालनें लगीं। तब उसने इनके निपटारे के लिए एक मुखिया बना लिया और उसे कुछ सत्ता दे दी। यही आगे चलकर राजा बन गया। इसने भरसक समाज के रक्षण और पोषण का प्रयत्न किया; पर बुद्धि के साथ साथ मनुष्य में स्वार्थ-साधन और दुरुपयोग-वृत्ति भी खिलने लगी, जिस से राजा स्वेच्छाचारी, ऐश्वर्य-साधु और मदान्ध होने लगे। शास्त्र और सेना-बल का उपयोग जनता को ऊँचा उठाने के बदले उसे गुलाम बनाये रखने में होनें लगा। तब मनुष्य में राजसंस्था के प्रति ग्लानि उत्पन्न हुई और उसने राजसत्ता के बजाय प्रजासत्ता कायम की। वंशपरम्परागत राजा मानने की प्रथा को मिटाकर उसनें अपना प्रतिनिधि-मण्डल बनाकर

उसके निर्वाचित मुखिया को वह सत्ता दी। पर मनुष्य के स्वार्थ-भाव नें इसे भी असफल कर डाला। एक राजा की जगह मनुष्य के भाग्य के ये अनेक विधाता बन गये। इन्होंने अपना एक गुट्ट बना लिया और लगे जनता को उसके भले के नाम पर लूटने और धोखा देने। तब मनुष्य फिर चौंका; अबकी उसनें विचार किया कि समाज के इस ढांचे को ही बदल दो। ऐसा उपाय करो, जिससे मुट्ठी भर लोगों की ही नहीं बल्कि बहु-जन-समाज की बात सुनी जाय और उनका अधिकार समाज में तथा राज-काज में रहे। एक मुट्ठीभर लोगों के हाथों में अपनी भाग्य-डोर छोड़कर जिस तरह अब तक वह राजकाज से बेफिक्र रहता था उसमें भी उसे दोष दिखाई दिया और अबकी वह खुद समाज रचना और राज-संचालन में दिलचस्पी लेनें लगा। पहले जहां वह स्वभावतः स्वतंत्र और स्वतंत्र-वृत्ति था, वहां वह अब ज्ञान-पूर्वक स्वतंत्र होने की धुन में लगा है। पहले जहां वह 'व्यक्ति' रहकर स्वतंत्र था, तहां अब 'समाज' बनाकर स्वतंत्र रहना चाहता है। पहली बात बहुत आसान थी दूसरी बड़ी कठिन है। किन्तु उसका ज्ञान और संस्कृति उसको राह दिखा रहे हैं और साधन एवं पौरुष उत्साहित कर रहे हैं। उसनें देख लिया कि कुटुम्ब में जो सुख, सुविधा और स्वतंत्रता है वह अब तक की इन भिन्न-भिन्न शासन-प्रणालियों ने समाज को नहीं दी। इसलिए क्यों न सारा समाज भी कौटुम्बिक तत्वों पर ही चलाया जाय ? यदि कुटुम्ब में चार या दस आदमी एक साथ सहयोग से रह सकते हैं, तो फिर सारा समाज अपने को एक बड़ा कुटुम्ब मानकर क्यों नहीं रह सकता ? इस तरह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की जो कल्पना अब तक मनुष्य के दिमाग और जीवन में एक व्यक्ति के लिए थी उसे समाज-गत बनाने का ज्ञान उदय हुआ और उसके प्रयोग होने लगे। आजकल रूस मे यह प्रयोग, कहते

हैं, सफलता के साथ हो रहा है। सारा रूस एक कुटुम्ब मान लिया गया है और उसका शासन-सूत्र जनता के हाथों में है। अभी तो उन्हें कौटुम्बिक सिद्धान्त के विपरीत एक शासन-मण्डल—सरकार—और रक्षा के लिए शस्त्र तथा सेना रखनी पड़ी है, पर यह तो इसलिए और तभी तक जबतक कि सारे रूस में सामाजिकता के सच्चे भाव और पूरे गुण लोगों में न आजावें। इस प्रकार होते-होते समाज के शासन का आदर्श यह माना जाने लगा है कि समाज में किसी शासक-मण्डल की कोई जरूरत न रहनी चाहिए; बल्कि बहुत-से-बहुत हो तो व्यवस्थापक-समिति रहे। वह जनता पर शासन न करे बल्कि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति भर करती रहे, उसे आवश्यक साधन-सामग्री पहुँचाती रहे। अर्थात् समाज में कोई एक या मुट्ठी भर व्यक्ति नहीं, बल्कि सारा समाज अपना राज या शासन आप रहे—सब घर-घर के राजा हो जायँ। अभी कल्पना में तो यह शासनादर्श बहुत रम्य और सुखदायी मालूम होता है, और असम्भव तो प्रयत्न करनें पर संसार में हई क्या ? किन्तु इस स्थिति को पाना, सो भी सामूहिक और सामाजिक रूप में, है बरसों के लगातार सम्मिलित, सुसंगठित और हार्दिक प्रयत्नों की बात।

× × × ×

समाज को सुव्यवस्थित और प्रगतिशील बनाने के लिए हिन्दुओं ने एक जुदा ही तरीका ढूंढ निकाला था। उन्होंने देखा कि सत्ता, धन, मान और संख्या ये चारों बल एक जगह रहेंगे तो उस अवस्था में मनुष्य की शक्ति और उसके दुरुपयोग का भय बहुत अधिक है। इसलिए इन चारों को अलग-अलग बांट देना चाहिए। फिर जैसी मनुष्य की खासियत हो वैसा ही काम उसे समाज में दे देना चाहिए, जिससे किसी एक पर सारा बोझ न पड़े और समाज का काम बड़े मजे में चल

जाय। उसने विचारशील, क्रियाशील, संग्रहशील और श्रम तथा संगठन-शील इन चार विभागों में समाज के लोगों को बांट दिया और उनके कार्यों के लिए आवश्यक तथा मनोवृत्तियों के अनुकूल क्रमशः मान, सत्ता, धन और संख्या तथा आमोदप्रमोद ये पुरस्कार अथवा उसकी सेवा के प्रतिफल उसे देने की व्यवस्था कर दी। हम हिन्दू इन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नाम से पहचानते हैं और इनके भिन्न-भिन्न कर्त्तव्यों का ज्ञान भी आम तौर पर सबको है। बुद्धि और विचार-प्रधान होने के कारण ब्राह्मण सहज ही समाज का नेता बना; क्रिया और सत्ता, प्रधान होने से क्षत्रिय शासक और रक्षक बना, संग्रह और धन प्रधान होने के बदौलत वैश्य समाज का दाता और पोषक, तथा संख्या और संगठन-प्रधान होने के कारण शूद्र समाज का सहायक और सेवक बन गया। इससे समाज में स्वार्थ साधने के चारों साधन और बल अलग-अलग बँट तो गये, एक जगह एकत्र होकर या रहकर समाज को अव्यवस्थित करने या अपने पद और पुरस्कार का दुरुपयोग करने की संभावना जाती तो रही, एक बड़ी विपत्ति का रास्ता तो रुक गया। यह प्रणाली बरसों तक हिन्दुस्तान में चली भी—अब भी टुटे-फूटे रूप में नाम-मात्र के लिए कायम है—किन्तु इससे एक बड़ा दोष भी पैदा हो गया। एक तो मनुष्य के उसी स्वार्थ और कुबुद्धि ने उसपर अपना असर जमाया और चारों अपने-अपने क्षेत्रों में समय पाकर अपने-अपने पदों से समाज की सेवा करने के बदले खुद ही लाभ उठाने लगे और दूसरे को अपने से नीचा मानकर उन्हें पीछे रखने—दबाने लगे; दूसरे एक ही वर्ग में एक गुण की इतनी प्रधानता होगई कि दूसरे, अपने तथा कुटुम्ब के पालन-पोषण एवं स्वातंत्र्यरक्षण के लिए आवश्यक गुण नष्ट होते चले गये, जिससे चारों दल परस्पर सहायक और पोषक होने के

बदले स्वयं अलग तथा ऐकान्तिक और दूसरे के अत्यन्त अधीन या उसकी शक्ति तोड़नेवाले बन गये। इससे न केवल समाज का ढांचा ही बिगड़ गया, बल्कि उसे गहरी हानि भी उठानी पड़ी; एवं आज अपने तमाम ज्ञान और संस्कृति के रहते हुए, भारत, सदियों से गुलामी की बेड़ियां पहने हुए है। ज्ञान और मान-प्रधान होने के कारण—नेता समझे जाने के कारण—मैं इस सारी दुःस्थिति का असली जिम्मेवार ब्राह्मण ही को मानता हूँ। अस्तु।

इस समय भी ऐसे विचारकों और विचारवालों की कमी देश में नहीं है, जो इस चतुर्वर्णव्यवस्था को फिर ठीक करके चलाना चाहते हैं। पर मेरी समझ में अब पृथिवी और समाज इतना बड़ा हो गया है, यह व्यवस्था इतनी बदनाम हो चुकी है, दूसरी ऐसी नयी और लुभावनी योजनायें सामने हैं और तरह-तरह के प्रयोग हो रहे हैं, जिससे उसका पुनर्जीवित होना न तो संभव ही और न उपयोगी ही प्रतीत होता है। उसके लिए अब तो इतना ही कहा जा सकता है कि समाज-व्यवस्थापकों की यह कल्पना अनोखी थी जरूर और उसने हजारों वर्षों तक हिन्दू-समाज को स्थिर भी रक्खा; पर मनुष्य की स्वार्थ और लूट-वृत्ति ने उसे सुस्थित न रहने दिया। सम्भव है, आगे चलकर किसी दूसरे, या यों कहें कि शुद्ध रूप में फिर यह समाज में प्रतिष्ठित हो, किन्तु अभी तो असली रूप से सब एक ही वर्ण हो रहे हैं।

क्या कारण है कि संसार के भिन्न-भिन्न देशों और जातियों में अब तक समाजव्यवस्था के कई ढांचे खड़े हो गये, शासन की कई प्रणालियां चल गईं; पर उनसे समाज अपने गन्तव्य स्थान को अभीतक नहीं पहुँचा? इन तमाम प्रयोगों का इतिहास और फल एक ही उत्तर देता है—मनुष्य का स्वार्थ और लुटेरापन। आखिर मनुष्य ही तो प्रणालियों को बनाने,

दुरुपयोग करने और बिगाड़नेवाला है न ? इसलिए जबतक हम खुद उसे सुधारने, उसे ज्यादा अच्छा बनाने पर अधिक जोर न देंगे तबतक केवल प्रणालियों के परिवर्त्तन, प्रयोग और उपयोग से विशेष लाभ न होगा। जो हो। इस समय तो मनुष्य-समाज की आंखें दो महान् प्रयोगों की ओर चकित और उत्सुक दृष्टि से देख रही हैं—एक तो रूस की सोवियट प्रणाली और दूसरी भारत की अहिंसात्मक क्रान्ति और उसके दूरगामी परिणाम। मेरा यह विश्वास है कि भारत इस क्रान्ति के द्वारा संसार को वह चीज देगा, जो रूस का आगे का कदम होगा। पर इसके अधिक विचार के लिए यह स्थान मौजूं नहीं है। यहां तो हमारे लिए इतना ही जान लेना काफी है कि मनुष्य किस तरह अपनी उन्नति के लिए समाज और शासन के भिन्न-भिन्न ढांचों को बनाता और बिगाड़ता गया और अब उसकी कल्पना किस आदर्श तक जा पहुंची है।

[४]

हमारा आदर्श

यह एक निर्विवाद बात है कि मनुष्य ने अपने विकास-क्रम में कुटुम्ब और समाज बनाया है। फिर भी अभी वह अपनी पूरी परिणति पर नहीं पहुँचा है। व्यक्ति से कुटुम्ब और समाज का अंग बनते ही उसके कर्त्तव्य उसी तक सीमित न रहे और न वह ऐकान्तिक रूप से स्वतंत्र ही रहा। कुछ व्यक्ति चाहे स्वतंत्रता की साधना करते-करते खुद उसकी चरम सीमातक पहुँच गये हों, केवल भौतिक ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक अर्थ में भी पूर्ण स्वतंत्र हो गये हों; पर कुटम्ब और समाज को तो वह अभी भौतिक अर्थ में भी पूर्ण और सच्ची स्वतंत्रता

तक नहीं लेजा सका है। यदि हम स्वतंत्रता के पूर्ण चित्र की कल्पना पर, जो पिछले अध्यायों में दी गई है, विचार करेंगे और उससे आज के जगत् की अवस्था का मुकाबला करेंगे, तो यह बात स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जायगी। घर-घर के राजा हो जाना तो अभी बड़ी दूर की बात है, अभीतक तो दुनिया सब जगह एकतंत्री शासन-प्रणाली से बहुमत-प्रणाली तक भी नहीं पहुँच पाई है। हम भारतवासी तो अभी अपने भाग्य-विधाता बनने के अधिकार की ही लड़ाई लड़ रहे हैं ! हां, यह लड़ाई लड़ी इस ढंग और तरीके से जा रही है कि जिसके परिणाम बड़े दूरवर्ती होंगे और जो भारत को ही नहीं, सारे मनुष्य-समाज को सच्ची स्वतंत्रता का पथ प्रत्यक्ष दिखा देंगे। अतएव इतनी बात हमें पहले ही से अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि हम व्यक्ति और समाज के रूप में कहां पहुँचना चाहते हैं और उसकी पहली सीढी क्या होगी ? दूसरे शब्दों में यह कहें कि हम मनुष्य और समाज के आदर्श तथा लक्ष्य का विचार कर रक्खें।*

'मनुष्य' का उच्चारण करते ही उसका सब से बड़ा गुण तेज—स्वाधीन-वृत्ति—सामने आता है। जिस मनुष्य में भारी मनोबल है, जो किसी से डरता और दबता नहीं है, उसे हम आम तौर पर तेजस्वी पुरुष कहते हैं। यदि यह गुण मनुष्य में से निकल जाय तो फिर उसके दूसरे गुण खोखले और बेकार से मालूम होते हैं। इसी तेज या स्वाधीन-वृत्ति ने उसे तमाम भौतिक और सांसारिक बन्धनों को ही नहीं, बल्कि मानसिक और आत्मिक बन्धनों को भी तोड़ने और पूर्ण स्वाधीन बनने के लिए उत्सुक और समर्थ बनाया है। सच्चा और तेजस्वी पुरुष वह है, जो न किसी का गुलाम रहता है, न किसी को अपना गुलाम बनाता है;

***'मनुष्य' और 'समाज' तथा दोनों के सम्बन्ध में हमारे कर्त्तव्य के विषय में परिशिष्ट (१) पढ़ना बहुत उपयोगी होगा।**

न किसी से डरता और दबता है, न किसीको डराता और दबाता है। अतएव यह भलीभांति सिद्ध होता है कि इस तेज के पूर्ण विकास को ही मनुष्य का लक्ष्य कहना चाहिए। मनुष्यों से ही समाज बनता है, इसलिए मनुष्य के लक्ष्य से उसका लक्ष्य जुदा कैसे हो सकता है? फर्क सिर्फ इतना ही है कि मनुष्य व्यक्ति-रूप में अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जितना स्वावलम्बी और स्वतंत्र है उतना समाज-रूप में नहीं। इसका असर दोनों की अवधि और सुविधा पर तो पड़ सकता है; किन्तु लक्ष्य पर नहीं। समाज-रूप में वह अपने लक्ष्य पर तभी पहुँच सकता है, जब वह व्यक्ति-रूप में आदर्श बनने का प्रयत्न करे। आदर्श व्यक्तियों से पूर्ण समाज अवश्य ही अपने लक्ष्य के, अपनी पूर्णता के निकट होगा। अतएव व्यक्ति-रूप में मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपनेको आदर्श बनाने का प्रयत्न करे, समाज-रूप में उसका यह धर्म है कि दूसरों को आदर्श बनने में सहायता करे। यह विवेचन हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि तेजोविकास की पूर्णता या स्वाधीन भावों का पूर्ण विकास व्यक्ति और समाज का समान-लक्ष्य है एवं उस तक पहुँचने के लिए सतत उद्योग करना दोनों का परम-कर्त्तव्य है।

मनुष्य में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं—एक कठोर और दूसरे कोमल। वीरता, निडरता, साहस, पौरुष, कष्ट-कहन, आत्म-बलिदान, आदि कठोर गुणों के नमूने हैं और नम्रता, क्षमा, सहानुभूति, करुणा, सेवा, उदारता, सहिष्णुता, सरसता आदि कोमल गुणों के। प्रथम पंक्ति के गुण उसको अदम्य और दूसरी पंक्ति के सेवा-परायण बनाते हैं। अदम्य बनकर वह अपनी स्वाधीनता की रक्षा एवं वृद्धि करता है; सेवा-परायण बनकर वह दूसरों को स्वतंत्र और सुखी बनाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कठोर गुणों की मात्रा पुरुषों में अधिक और

मृदुल गुणों की मात्रा स्त्रियों में अधिक पाई जाती है। यदि मनुष्य सच्चा स्वतन्त्रता-प्रेमी है, तो पहले गुणों की पुष्टि और वृद्धि उसका जितना कर्तव्य है उतना ही दूसरे गुणों की पुष्टि और वृद्धि भी परम कर्त्तव्य है। बल्कि, मनुष्य के स्वाभाविक-से बनजानेवाले स्वार्थ-भाव को ध्यान में रखते हुए तो उसके लिए यही ज्यादा जरूरी है कि वह अपनी अपेक्षा दूसरों के प्रति अपने कर्तव्य-पालन पर विशेष ध्यान रक्खे। अनुभव बताता है कि सेवा-परायण बनने में अपने आप प्रथम पंक्ति के गुणों का विकास हुए बिना नहीं रहता। इसीलिए सेवा—समाज-सेवा, देश-सेवा, मानव-सेवा—की इतनी महिमा है। यदि मनुष्य एकाकी हो, अकेला ही रहे, तो उसे दूसरी जाति के गुणों की उतनी आवश्यकता भी नहीं है और न वे उसमें सहसा विकसित ही होंगे; पर चूंकि वह समाजशील है, समाजशील बना रहना चाहता है और सामाजिक रूप में भी अपना विकास करना चाहता है, इसलिए दूसरी जाति के गुणों का वैयक्तिक और सामाजिक महत्व बहुत बढ़ जाता है और यही कारण है जो सेवा-परायण व्यक्तियों में दूसरी जाति के गुणों का विकास अधिक पाया जाता है। सच्चा तेजस्वी पुरुष स्वाधीनता के भाव रखनेवाला सच्चा पुरुष, या यों कहें कि सच्चा मनुष्य, अपने प्रति कठोर और दूसरों के प्रति मृदुल या सरस होता है। यही नियम एक कुटुम्ब, समाज या राष्ट्र पर भी, दूसरे कुटुम्ब, समाज या राष्ट्र की अपेक्षा से, घटता है। यदि हम इस मर्म और सच्चाई को समझ लें और उसपर दृढ़ता से आरूढ़ हो जायँ, तो सारे विश्व को एक सच्चे कुटुम्ब के रूप में देखने की आशा हम अवश्य रख सकते हैं।

परिशिष्ट (१)

मनुष्य, समाज और हमारा कर्तव्य

हम मनुष्य हैं। क्या आपको इससे इन्कार है? नहीं। तो मैं पूछता हूँ कि आप अपनेको मनुष्य किस कारण से कहते हैं? क्या इसलिए कि आपका शरीर मनुष्यों जैसा है? या इसलिए कि आपके अन्दर मनुष्योचित गुण हैं? यदि केवल शरीर के कारण हम अपनेको मनुष्य मानें तो वैसा ही निरर्थक है जैसा कि ईश्वर-विहीन देवालय। यदि मानवी गुणों के कारण मनुष्य मानते हों, तो हमारे मन में यह सवाल उठना चाहिए कि क्या हम सचमुच मनुष्य हैं? क्या मानवी गुणों का विकास हमें अपने अन्दर दिखाई देता है?

'मनुष्य' का धात्वर्थ है मनन करनेवाला अर्थात् बुद्धियुक्त। मनुष्य और पशु के शारीरिक अवयवों में, 'आहार, निद्रा, भय, मैथुन' में, समानता होते हुए भी 'ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषः' राज-संन्यासी भर्तृहरि ने कहा है और अन्त में यह फैसला दिया है 'ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः।' इसका भी अर्थ यही है। अर्थात् जिसे बुद्धि या ज्ञान, दूसरे शब्दों में चिन्तन-मनन और सारासार विचार करने की शक्ति हो, वह मनुष्य है। परन्तु यदि मनुष्य के उद्गम की दृष्टि से विचार करते हैं तो उसका धागा ठेठ परमात्मा या परब्रह्म तक पहुँचता है। मनुष्य उस चैतन्य-सागर का एक विशिष्ट कण है। वह उससे बिछुड़ा हुआ है और अपनी मातृ-भूमि की ओर स्वभावतः ही झपटा जा रहा है। सारे समुद्र के जल में जो गुणधर्म होंगे, वही उसके एक बूंद में होने चाहिएँ। दोनों में भेद सिर्फ परिमाण का हो सकता है। तत्व दोनों में एक ही होगा। मनुष्य में भी वही गुणधर्म, वही तत्व होने चाहिए—हाँ छोटे रूप में अलबत्ता—जो परमात्मा में हो सकते हैं। यदि मनुष्य अपने अन्दर उन गुणों को उसी हद तक विकसित करले, जिस हद तक वे परमात्मा में मिलते हैं, तो वह परमात्मा-रूप हो सकता है। इसी अवस्था में वह 'सोऽहम्' या 'अहं ब्रह्मास्मि' 'एकमेवाद्वितीयम्' का अनुभव करता है। परमात्मा चैतन्य स्वरूप है, सत्चित् आनन्द—सच्चिदानन्द—रूप है, 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' है। यही गुण मनुष्य की प्रकृति में भी स्वभावज होने चाहिएँ। परमात्मा के इन भिन्न-भिन्न शब्दों में वर्णित गुणों का यदि महत्तम-समापवर्तक निकालें तो वह मेरी समझ में एक—तेजस्—निकलता है। इस अर्थ की श्रुति भी तो है—तेजोऽसि तेजोमयिंधेहि—जहाँ तेज है, वहीं सत्ता है, वहीं चैतन्य है, वहीं आनन्द है, वहीं असत्य का अभाव और सत्य की स्थिति संभवनीय है, वहीं कल्याण है वहीं सौन्दर्य है। जो तेजोहीन है, न उसकी सत्ता

रह सकती है, न उसकी चेतनता उपयोगी हो सकती है, वह धामन की तरह है, और आनन्द तो वहाँ से इस तरह भाग जाता है जिस तरह फूल के सूख जाने पर उसकी खुशबू। जो तेजोहीन है उसके पास सत्य का अभाव होता है। या यों कहें कि सत्य तेज-रूप है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इसका अर्थ यही है कि जहाँ तेज नहीं, वहाँ आत्मा नहीं। इसी तरह जहाँ सत्य नहीं वहाँ तेजबल भी कैसे हो सकता है ? इसी तरह जो स्वयं तेजस्वी नहीं है वह कल्याण-साधक, मंगलमय कैसे हो सकता है ? तेज ही श्रेयस्साधिका शक्ति है। और तेजोहीन को सुन्दर भी कौन कहेगा और कौन मानेगा ? 'तेजस्' की यह व्याप्ति बिलकुल सरल, सीधी, और सुबोध है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि परमात्मा तेजोमय है, तेज-स्वरूप है, स्वयं तेज है। और मनुष्य, उसका अंश, भी तभी मनुष्य-नाम को सार्थक कर सकता है जब उसमें तेज हो, जब वह तेजस्वी हो। तेज ही मनुष्य की मनुष्यता है, तेज ही मनुष्यता का लक्षण है—परिभाषा है, तेज ही मनुष्यता की कसौटी है। तेजोहीन मनुष्य मनुष्य नहीं है।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि शब्दार्थ और गुण-विवेचन की दृष्टि से मनुष्य में दो बातें प्रधान और अवश्य होनी चाहिएं—सारासार-विचारशक्ति और तेज। यदि हम और सूक्ष्म विचार करेंगे तो हमें तुरन्त मालूम हो जायगा कि विचार-शक्ति भी तेज का ही एक अंग है। तेज शक्ति-रूप है, बल-रूप है, पुरुषार्थ-रूप है। तो अब मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या आप अपने अन्दर मनुष्यता का अस्तित्व स्वीकार करते हैं ? क्या आप यह कहने के लिए तैयार हैं कि हम मनुष्य हैं, हम तेजोमय हैं, हम तेजस्वी हैं, हम शक्तिमान् हैं, बलवान् हैं, पुरुषार्थी हैं ? यदि हम इसके जवाब में 'हां' कह सकें, तभी हमें मानना चाहिए कि हम अपनेको

मनुष्य कहलाने के और कहने के अधिकारी हैं, वरना हमें अपनेको मनुष्यता-हीन मनुष्य—प्राण-हीन शरीर—कहना चाहिए।

मनुष्य और मनुष्यता का इतना विवेचन करने के बाद अब हम 'समाज' शब्द का उच्चारण करने के अधिकारी हो सकते हैं। 'समाज' का अर्थ है समूह। पर जाति, दल, मनुष्य-समाज और समष्टि इतने अर्थों में आजकल समाज शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ 'समाज' से मेरा अभिप्राय मनुष्य-समाज या मनुष्य-जाति से है। जब कि हम मनुष्य-समाज की ही उन्नति में अग्रसर नहीं हो रहे हैं, तब हमारे लिए समष्टि की अर्थात् प्राणिमात्र की उन्नति और सुख की बातें करना धृष्टता-मात्र होगी। मनुष्य के अन्दर अपना गोल बांधकर रहने अर्थात् समाजशील होने की इच्छा बहुत हद तक स्वभाविक हो गई है। हिन्दूधर्म के अनुसार, अब, मनुष्य प्रायः उसी अवस्था में ऐकान्तिक जीवन व्यतीत करने का अधिकारी माना जाता है जब कि वह अपने सामाजिक कर्त्तव्यों के भार से मुक्त हो चुका हो। जब से मनुष्य समाजशील हुआ तब से उसका कर्तव्य दुहरा हो गया। जब तक वह अकेला था तब तक उसके विचारों और कार्यों की सीमा अपने अकेले तक ही परिमित थी। उसके कुटुम्बी और समाजी होते ही उसके दो कर्त्तव्य हो गये—एक स्वयं अपने प्रति और दूसरा औरों के प्रति अर्थात् कुटुम्ब या समाज के प्रति। इसी कर्त्तव्यशास्त्र की परिणति हिन्दुओं की वर्णाश्रम-व्यवस्था थी। वर्ण-व्यवस्था प्रधानतः सामाजिक कर्त्तव्यों से संबंध रखती है; आश्रम-व्यवस्था प्रधानतः व्यक्तिगत कर्तव्यों से। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो व्यक्तिगत और समाज-गत कर्त्तव्य इतने परस्पर-आश्रित और परस्पर-संबद्ध हैं कि एक के पालन में दूसरे का पालन अपने आप हो जाता है। व्यक्तिगत कर्त्तव्य मनुष्य के लिए निकटवर्ती हैं। जो निकटवर्ती कर्त्तव्य का पालन

यथावत् नहीं कर पाता उससे दूरवर्ती अर्थात् सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन की क्या आशा की जा सकती है। जिसे अपने शरीर की, मन की, आत्मा को उन्नति की फिक्र नहीं, वह बेचारा समाज की उन्नति क्या करेगा ? इसी तरह जो अकेले अपने ही सुख-आनन्द में मग्न है—समाज का कुछ खयाल नहीं करता, उसका सुख-आनन्द भी वृथा है। अनुभव तो यह कहता है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति होती जाती है, त्यों-त्यों उसकी दृष्टि विशाल, सूक्ष्म और कोमल होती जाती है, त्यों त्यों उसे अपने कुटुम्ब, जाति, समाज और देश का सुख दुःख अपना ही सुख-दुःख मालूम होने लगता है। यदि कोई व्यक्ति यह दावा करे कि मैं उन्नत हूँ; पर यदि उसकी दृष्टि हमें उस तक ही मर्यादित दिखाई दे; कुटुम्ब, जाति, समाज या देश के दुःख-सुखों से वह विरक्त, उदासीन या लापरवाह नज़र आवे, तो समझना चाहिए कि या तो उसे अपनी उन्नति हो जाने का भ्रम हो गया है या वह उन्नत होने का स्वाँग बनाता है। अनुभव डंके की चोट कहता है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य की मनुष्यता का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों उसे क्रमशः अपनी जाति, समाज, देश, और मनुष्य-जाति और अन्त को भूत-मात्र अपने ही स्वरूप देख पड़ते हैं, वह उनके दुःख-सुख को उसी तरह अनुभव करता है जिस तरह स्वयं अपने सुख-दुःख को। यह दुःख की अनुभूति ही समाज-सेवा की प्रेरक है। जबतक मनुष्य का हृदय अपने कुटुम्ब, जाति, समाज, या देश के दुःखों को देखकर दुखित नहीं होता, तब तक उसे उनकी सेवा करने की सच्ची इच्छा नहीं हो सकती। यों तो दुनिया में ऐसे लोगों का टोटा नहीं है जो मान, बड़ाई, प्रशंसा, धन आदि के लोभ से समाज-सेवा करने में प्रवृत्त होते हैं, पर उनकी यह सेवा सच्ची सेवा नहीं होती। इससे न उस समाज को ही सच्चा लाभ पहुँचता है, न स्वयं उसे ही सेवा का श्रेय मिल पाता है। सच्ची सेवा का

मूल है दया-भाव। दया मनुष्यत्व के विकास की अन्तिम सीढ़ी है। दया-भाव निर्बलता का चिह्न नहीं, असीम स्वार्थ-त्याग और घोर कष्ट सहन की तैयारी का प्रतीक है।

इस विवेचन से हम इन नतीजों पर पहुँचे कि समाज-सेवा मनुष्य का कर्त्तव्य है—सामाजिक ही नहीं व्यक्तिगत भी। समाज-सेवा की प्रेरणा के लिए समाज के दुःखों की अनुभूति होनी चाहिए। जिस मनुष्य के अन्दर मनुष्यता नाम की कोई वस्तु किसी भी अंश में विद्यमान् है, वह समाज के दुःखों को जरूर अनुभव करेगा। मनुष्य का दया-भाव जितना ही जाग्रत होगा, उतना ही अधिक वह समाज की सेवा कर पावेगा।

अब हम इस बात का विचार करें कि समाज-सेवा का अर्थ क्या है? समाज-सेवा का अभिप्राय यह है कि उन लोगों की सेवा जिन्हें सेवा की अर्थात् सहायता को जरूरत हो, उन बातों की सेवा—उन बातों में सहायता करना जिनकी कमी समाज में हो, जिनके अभाव से समाज दुख पाता हो, अपनी उन्नति करने में असमर्थ रहता हो। जिस समाज के किसी व्यक्ति को किसी बात का दुःख नहीं है, जिस समाज में किसी बात की कमी या रुकावट नहीं है, उसकी सेवा कोई क्या करेगा? उसकी सेवा के कुछ मानी ही नहीं हो सकते। हाँ, यह दूसरी बात है कि आज भारतवर्ष ही नहीं, तमाम दुनिया में कोई भी ऐसा समाज नहीं है, जो सब तरह से भरा-पूरा हो और इसलिए प्रत्येक समाज की सेवा करने की बुरी तरह आवश्यकता इन दिनों है और शायद सृष्टि के अन्ततक कुछ-न-कुछ बनी ही रहेगी। सो समाज-सेवा का असली अर्थ यही हो सकता है कि दलित, पीड़ित, पतित, पंगु, दुखी, निराधार, रोगी, दुर्व्यसनी, दुराचारी, और ऐसे ही लोगों की सेवा। सेवा का अर्थ है जिस बात की कमी उन्हें है, उसकी पूर्ति कर देना। दूसरे शब्दों में कहें तो समाज में ऐसे कामों की नींव

डालना जिन्हें हम आम तौर पर कुरीति-निवारण, पतित-पावन, परोपकार, और दयाधर्म के काम कहा करते हैं।

इस देश की प्राकृतिक सुन्दरता, इसकी शस्यश्यामला भूमि, प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाले षड्ऋतुओं के आवागमन और वैभव, उसकी ऐतिहासिक उज्वलता, उसकी धार्मिक महत्ता, उसकी विद्याव्यसन-पराकाष्ठा, उसकी शूर-वीरता आदि की विरुदावली गाने का यह स्थान नहीं हैं। पर उसके इन्हीं गुणों ने उसे विविध भाषा, वेश-भूषा, और विशेषता रखनेवाली जातियों की एक नुमाइश बना रक्खा है। इसका उसे अभिमान होना चाहिए। उसका जनसमाज विविध है। उनसे वह उसी तरह शोभित होता है जिस तरह बहु-रंगी फूलों से कोई उद्यान सुसज्जित और सुगंधित होता है। पर आज यह फुलवारी मुरझाई हुई दिखाई देती है। जीवन–पानी–न मिलने से जिस तरह फूलों के पत्ते और पखुँरिया नीचा सिर करके झुक जाती हैं उसी तरह जीवन के अभाव में इसका जन-समाज नतशिर होकर अपना अभागा मुख दुनिया को न दिखाने की चेष्टा करता हुआ मालूम होता है। अपने अ-कर्म या कुकर्म से प्राप्त परिस्थिति-रूपी राक्षसी के भीमकाय जबड़े में वह असहाय-सा छटपटाता हुआ देख पड़ता है। तेज की जगह सेज, ज्ञान की जगह मौखिक मान, धर्म की जगह धन, समाजसेवा को जगह व्यक्ति-सेवा—गुलामी—की उपासना में वह लीन दिखाई देता है। वह रोगी है, उसका शरीर, मन आत्मा तोनों रोग-ग्रस्त हैं—विजातीय वस्तुओं से भ्रष्ट होते जा रहे हैं। वह पंगु है, उसके पांव लड़खड़ाते हैं—खड़ा होने की कोशिश करते हुए पैर थर-थर कांपने लगते हैं। वह पतित है—पिछड़ा हुआ है—उसमें दुर्व्यसन, दुराचार, अन्याय कुरीतियों का अड्डा है। अतएव वह सेव्य है। उसके विद्वान् और शिक्षित लोग अपनी विद्या और शिक्षा का उपयोग व्यक्ति-सेवा, धनोपार्जन या अपने क्षुद्र

सुख-साधनों की वृद्धि के लिए करते हैं। उसके धनवान् सट्टेबाज़ी, कल-कारखाने-बाज़ी और सूदखोरी के द्वारा जान में और अनजान में गरीबों का धन अपने घर में लाते हैं—गरीबों को अधिक गरीब बनाते हैं, खुद अधिकाधिक धनी बनते जाते हैं और फिर उस धन का उपयोग 'दान' की अपेक्षा 'भोग' में अधिक होता है। 'दान' भी वे धर्म की वृद्धि के लिए, धर्म की स्थिति के लिए नहीं, बल्कि धर्म के 'उन्माद' के लिए, धर्मभाव से, पर धर्म-ज्ञान के अभाव पूर्वक देते हैं। उसके सत्ताधीश समाज-सेवक बनने और कहलाने में अपनी मानहानि समझते हैं—'विष्णु-पद' के भ्रम को दूर करना उन्हें अप्रिय, शायद असह्य भी मालूम होता है। 'प्रभु' शब्द से संबोधित होने में वे अपना गौरव मानते हैं—इसमें परमेश्वर का अपमान उन्हें नहीं दिखाई देता। उसके किसान, उसके अन्नदाता, उसके तात, उसके भोले-भाले पापभीरु सपूत, बैलों को गोद गोद कर—उनके साथ ज्यादती कर करके, खुद सारे समाज के बैल बन रहे हैं। क्षत्रिय तो समाज में रहे ही नहीं। उनकी मूँछें कट गईं। उनकी तलवारें देवी के सामने ग़रीब मेमने पर उठकर अपना जन्म सार्थक करती हैं। उनको बन्दूकें निर्दोष हिरन, कौवे, बटेर, बहुत हुआ तो सूअर या कहीं-कहीं चीते के शिकार के लिए उठती हैं। आर्त्त के 'रक्षण' की जगह 'भक्षण' उन्हें सुविधाजनक धर्म मालूम होता है। मारने में छिपी हुई 'मरने की तैयारी' को फ़िज़ूल समझकर, शत्रु पर प्रहार करने के आपत्तिमय मार्ग को छोड़, उन्होंने बकरों और हिरनों के मारने का राजमार्ग स्वीकार कर लिया है। नवीन युग का नव सन्देश—'मारना नहीं, पर मरना' उनके कानों तक कभी पहुँचा ही नहीं है। यदि पहुँचा भी हो तो उनकी स्थूल बुद्धि उसके सूक्ष्म पर शुद्ध शौर्य्य को ग्रहण करने की तैयारी नहीं दिखाती। उनका एक भाग डाके डालने और

लूटने को ही क्षात्र-धर्म समझ रहा है, जो कि वास्तव में कापुरुष का धर्म है। उसका मुन्शी-मण्डल—राजकाजी लोग—सरस्वती के प्रतीक, कलम का उपयोग सरस्वती की सेवा में नहीं, बल्कि भोले-भाले, अनजान लोगों की गर्दन पर छुरी फेरने में करके 'कलम-कसाई' के पद पर प्रतिष्ठित होने की प्रसिद्धि पा चुका है। उसका ब्राह्मण वर्ग 'शिक्षक' की जगह 'भिक्षुक' और 'उपदेशक' की जगह 'सेवक'—गुलाम—बनकर 'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन' पर शोकमय और करुणामय भाष्य लिख रहा है। 'ज्ञान' की जगह 'खान-पान' और 'त्याग' को जगह 'भोग' ने ले ली है। पूर्वजों की पूंजी के वे दिवालिये वंशज हो गये हैं। बुजुर्गों की विरासत के वे कपूत वारिस अपनेको साबित कर रहे हैं। जन-तिरस्कार और निरादर के भागी होकर अपने मिथ्याभिमान-रूपी पाप का फल भुगतते हुए दिखाई देते हैं। 'नेता' के पद से भ्रष्ट होकर वे 'धर्म-विक्रेता' की पंक्ति में जा बैठे हैं। इस प्रकार आज इस देश का जनसमाज 'विवेक-भ्रष्ट' अतएव 'शत–मुख पतित' दिखाई देता है। यह है इस समाज का नग्न—भयानक चित्र। जब उसका यह कृष्ण-चित्र आँखों के सामने खड़ा होता है, तो क्षण भर के लिए मेरी आशावादिता और आस्तिकता डगमगाने लगती है। पर, मैं देखता हूँ कि इस भयानकता के अन्दर भी आशा की, प्रकाश की सुहावनी किरणें हैं।

यह चित्र मैंने इसलिए नहीं खींचा कि इससे यहाँ की दबी हुई, पर आशा की उत्सुक आत्मा, भयभीत अतएव निराश हो जाय। यह तो इसलिए खींचा है कि हमारी मोह-माया, हमारी भ्रम-निद्रा दूर हो जाय; हम अपनी सच्ची स्थिति को उसके नग्न, अकृत्रिम और भीषण रूप में देख लें, जिससे उसके प्रति हमारे हृदय में ग्लानि उत्पन्न हो। यह ग्लानि हमें दुःस्थिति को दूर करने की, दूसरे शब्दों में समाज-सेवा करने की, प्रेरणा करेगी।

अब हमारे सामने यह सवाल रह जाता है कि अपने इस सेव्य समाज की सेवा किस प्रकार करें ? सेवा का प्रकार जानने के पहले हमें यह देखना होगा कि इस देश को किस सेवा की ज़रूरत है। दूसरे शब्दों में हमारे समाज में इस समय क्या दोष हैं, या ख़ामियाँ हैं, जिनके दूर होने से समाज उन्नति की ओर अग्रसर हो सकता है। मैं जहाँ तक इस पर विचार करता हूँ मुझे सबसे बड़ी कमी यहाँ 'तेज' की दिखाई देती है, जो कि मेरी समझ में सब त्रुटियों की जननी है। पुरुषार्थ तेज का दूसरा नाम या ख़ास अंग है। जबसे हम पुरुषार्थ से नाता तोड़ने लगे, तब से हमारी विपत्तियाँ और हमारे दुःख बढ़ने लगे। किसी समाज के सर्वांग-सुंदर और सर्वांग-पूर्ण होने के लिए इतनी बातों की परम आवश्यकता है— (१) भिन्न-भिन्न जातियों में ऐक्यभाव हो, अर्थात् सब एक-दूसरे के हित में सहयोग और अहित में असहयोग करते हों, (२) कोई कुरीति न हो, (३) अनाथ और निर्धन तथा पतित और पिछड़े हुए लोग न हों, ४) अन्याय, दुर्व्यसन और दुराचार न हो। यदि किसी समाज में इनमें से एक भी त्रुटि हो तो मानना होगा कि वह उन्नत नहीं है और सेवा के योग्य है।

यदि हम अपने समाज की कमियों पर विचार करें तो कम से कम इतनी बातों पर हमारा ध्यान गये बिना न रहेगा—(१) हिन्दू-मुसलमानों का मनमुटाव। (२) अछूत मानी जानेवाली जातियों— भंगी, चमार, आदि के साथ दुर्व्यवहार, छूने, आम कूओं से पानी भरने, मन्दिरों में उन्हें आने देने आदि मनुष्योचित सामान्य अधिकारों से उन्हें वंचित रखना (३) किसान, मज़दूर के नाम से परिचित तथा कुछ अन्य जातियों और वर्गों का पिछड़ा हुआ रहना। (४) अनाथ और निर्धन विधवाओं और विद्यार्थियों की शिक्षा-रक्षा, और भरण-पोषण का प्रबन्ध न होना। (५) नशेबाज़ी खास कर शराबखोरी और

वेश्या-वृत्ति का प्रचलित रहना (६) असत्य-भाषण, दम्भ,दग़ा बाजी, बेईमानी, व्यभिचार, अन्याय, आदि दुर्गुणों और दुराचारों का अस्तित्व (७) बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधुर-विवाह, विवाह में गालियाँ गाना, दहेज देना तथा कन्या-विक्रय आदि अनेक अशास्त्रीय रूढ़ियों का प्रचलित रहना, मृत्यु के बाद जाति-भोजन-संबन्धी अनेक कुरीतियाँ। (८) सट्टे-बाजो, रिशवतख़ोरो, नज़राना, बेगार, साहूकारों को किसानों पर ज्यादती, कल-कारखानेवालों की मज़दूरों पर ज्यादती, सत्ताधारियों की प्रजा पर ज्यादती, चोरी, डकैती, खून आदि जुर्मों का होना। (९) मन्दिरों, मसजिदों उपासकों की दुर्व्यवस्था और अव्यवस्था, पुजारियों, महन्तों, आचार्यों की अनीति, अविनय; भिक्षुकों, भिखारियों और पुरोहितों का अज्ञान और ज्यादती। (१०) रोग, मृत्यु, आपत्ति के समय कष्ट-निवारण का समुचित प्रबन्ध समाज की ओर से न होना। (११) सत्-शिक्षा, सत्साहित्य, सद्धर्म और स्वच्छता, आरोग्य के प्रचार को व्यवस्था न होना आदि आदि। अब आप देखेंगे कि समाज-सेवा की कितनी आवश्यकता है और समाज-सेवा का कितना भारी क्षेत्र हमारे सामने पड़ा है।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि यह सेवा किस प्रकार की जाय ? इसमें सबसे पहली बात तो यह है कि जहाँ सेवा करने की इच्छा होती है, वहाँ रास्ता अपने आप सूझ जाता है। फिर भी सेवा के दो ही तरीक़े मुझे दिखाई देते हैं—व्यक्तिगत और समाजगत। जहाँ समाज-सेवा की व्याकुलता रखनेवाले व्यक्ति इने-गिने हों, वहां व्यक्तिगत रूप से सेवा आरंभ करनी चाहिए। जहाँ सेवा की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति अधिक हों, वहाँ संगठित-रूप से अर्थात् सामाजिक-रूप से सेवा का प्रयत्न करना चाहिए। यह समझना भूल है कि एक आदमी के किये कुछ नहीं

हो सकता। एक ही व्यक्ति यदि चाहे तो सारे संसार को हिला सकता है। सामाजिक प्रयत्न के लिए संगठन को आवश्यकता है। संगठन के दो तरीके हैं—एक तो ऊपर से नीचे और दूसरा नीचे से ऊपर। पर संगठन ऊपर से नीचे करने का मार्ग, मेरी समझ में, सदोष है। इमारत पहले बुनियाद से शुरू होती है, शिखर से नहीं। शुद्ध और पुख्ता संगठन नीचे से—जनता से शुरू होना चाहिए। यहां यह सवाल उठता है कि संगठन ग्रामानुसार करें या जात्यानुसार। एक विचार यह है कि ग्रामानुसार संगठन करने से उसकी सीमा बहुत संकीर्ण हो जायगी, जाति के अनुसार संगठन करना अधिक उपयोगी, अधिक आसान, अधिक स्वाभाविक और अधिक स्थायी होगा। भाषा, संस्कार, रस्म-रिवाज, नाता-रिश्ता, आदि की एकता के कारण जातीय संगठन अधिक ठोस और स्थायी होगा। और सच पूछिए तो प्रायः हर जाति में अपना कुछ न कुछ संगठन पहले से मौजूद हई है। हमें सिर्फ उसमें अधिक प्राण डाल देना है और जहाँ कहीं आवश्यक हो कुछ सुधार कर देना होगा। बहुत छोटी उपजातियाँ मिलकर अपनी एक बहुत बड़ी जाति बना लें। भिन्न भिन्न उपजातियों के संगठन के बाद सारी जाति का एक महान् संगठन होना चाहिए। ब्राह्मणों, वैश्यों, क्षत्रियों, मुसलमानों आदि की उपजातियों का संगठन होने के बाद सारी ब्राह्मण, या क्षत्रिय, या वैश्य, या मुसलमान जाति का एक-एक संगठन होना चाहिए। फिर हिन्दुओं के चारों वर्णों का एक सम्मिलित संगठन और मुसलमानों, ईसाइयों, पारसियों आदि का एक-एक संगठन हो और सबके ऊपर सब धर्मों और समस्त जातियों का एक बृहत् भारतव्यापी संगठन हो। हर छोटा संगठन अपनी सीमा में यथासम्भव स्वतन्त्र हो और हर क्रमशः बड़े संगठन में उन्हीं बातों और कामों का समावेश हो जो उसके अन्दर आनेवाली जातियों के लिए सर्व-सामान्य हों। एसे

अपने-अपने हितों में परस्पर-सहयोगी, संगठन से भिन्न-भिन्न जातियों में संकुचितता या स्वार्थ भाव की वृद्धि न होगी और दो जातियों में परस्पर वैमनस्य और कटुता के लिए तो जगह ही नहीं रह सकती। पहले उपजातियों का संगठन उन-उन जातियों के सेवेच्छु जन शुरू करें, या मौजूदा संगठन को ठीक-ठीक करें। कुछ उपजातियों का संगठन होने के बाद प्रधान जाति के संगठन का प्रयत्न करने के योग्य स्थिति उत्पन्न हो सकती है। किन्तु छोटे संगठन को महान् संगठन में मिला देने की भावना रहनी चाहिए, अपनी सीमा में संकीर्ण बना देने की नहीं।

संगठन के लिए न भारी ढकोसले की ज़रूरत है न उछल-कूद की। हर उपजाति में अपनी जाति-पंचायत होती है। जहां न हो वहां वह क़ायम की जाय। जहां हो वहां उसके काम की जांच करके जो त्रुटियाँ हों वे सुधार दी जायँ। पंचायत का मुखिया चुना हुआ हो और चुनाव की योग्यता धन, सत्ता या वैभव नहीं, बल्कि सेवा और सेवा-क्षमता हो। काग़ज़ी कार्रवाई कम-से-कम हो; विश्वास, प्रेम और सहयोग के भाव उसकी कार्रवाई में प्रधान हों। पंचायत की बहुमति के फैसलों या नियमों को सब लोग मानें और उन पर अमल करें। जो बिना उचित कारण के न मानें, न अमल करें, वे समाज के अपराधी समझे जायँ और पंचायत उन्हें यथायोग्य दण्ड दे। पर, हर बात में औचित्य का ख़याल रहे, न्याय-अन्याय का पूर्ण विचार रहे। अर्थ-दण्ड से लेकर जाति-च्युत करने तक का अधिकार पंचायतों का आजतक सुरक्षित है पर इसका दुरुपयोग न हो। ऊपर जिन सेवा-क्षेत्रों या त्रुटियों का ज़िक्र किया गया है उनमें एक भी ऐसी नहीं है जिसका समुचित प्रबंध ये पंचायतें न कर सकती हों। बात यह है कि हमारे पास सेवा के सब साधन मौजूद हैं, धन है, शक्ति है, संस्था भी है, नहीं है वे आँखें जिन्हें यह दिखाई दे सके। यदि हमारे

मन में समाज-सेवा की ज़रा भी इच्छा पैदा हो जाय तो हमारी इन्हीं आँखों से हमें ये सब बातें करतलामलक़वत् दिखाई देने लगें।

पंचायतों का सब से पहला काम यह हो कि वे अपनी जाति की कमियों, अभावों की जांच करें और उनमें जिस बात से जिस दल या वर्ग को सब से ज्यादा तकलीफ़ होती हो उसके प्रबन्ध को सबसे पहले अपने हाथ में लें और उस काम के लिए जाति में जो सबसे योग्य पुरुष हो उसके जिम्मे वह काम कर दें। वह अपनी पंचायत की, और ज़रूरत हो तो दूसरी जाति की पंचायत या किसी सुयोग्य सज्जन की, सलाह से उसका प्रबन्ध करे। पंचायत का एक कोष हो। हर कुटुम्ब को शक्ति देखकर उसके लिए चंदा लिया जाय। पूर्वोक्त बातों में मुझे किसानों की दरिद्रता, अछूतों की दयाजनक स्थिति, अनाथ और निर्धन विधवाओं और विद्यार्थियों की दुरवस्था, और हिन्दू-मुसलमानों का मनमुटाव ये सवाल सबसे ज्यादा ज़रूरी मालूम होते हैं। पंचायतों को चाहिए कि पहले इन पर ध्यान दें।

किसानों की दरिद्रता मिटाने के लिए तीन काम प्रधानतः करने होंगे। साहूकारों और राज-कर्मचारियों की लूट से उनकी रक्षा और चरखे के द्वारा अर्थात् मौसम पर कपास इकट्ठा कर उसे खुद ही लोढ़, धुनक और सूत कातकर तथा अपने गांव के जुलाहे से कपड़ा बुनवाकर पहनने की प्रेरणा के द्वारा उनको फुरसत के समय में कुछ आमदनी का साधन देना, और बेगार-नज़राना की प्रथा मिटवाने का उद्योग करना। अछूतोद्धार के लिए छुआ-छूत का परहेज़ न रखना, कुवों से उन्हें पानी भरने देना, मन्दिरों में जाने देना और मदरसों में पढ़ने देना, इतनी सहूलियत करनी होगी। अनाथ और निर्धन विधवाओं और विद्यार्थियों में धार्मिक और औद्योगिक तथा चरखा आदि की शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा और जब तक वे

स्वावलम्बी न हों तब तक उनके भरण-पोषण की व्यवस्था पंचायती फंड से करना। हिन्दू-मुसल्मान आदि भिन्न-भिन्न धर्म की अनुयायी जातियों में मेल-मिलाप रखने के लिए एक दूसरे के धर्म और धार्मिक रिवाजों के प्रति आदर और सहिष्णुता रखने के भावों का प्रचार करना और अपने अपने धर्म के शुद्ध, उच्च, उदार सिद्धान्तों के प्रेमपूर्वक ज्ञान-दान का प्रबंध करना—ये काम करने होंगे।

अब सवाल यह रह जाता है कि इस काम को कौन उठावे? इसका सीधा जवाब है वह जिसके मन में सेवा करने की प्रेरणा होती हो। समाज के दुःखों को देखकर जिसका हृदय छट-पटाता हो वही सेवा करने के योग्य है, वही सेवा करने का अधिकारी है, वह किसी के रोके नहीं रुक सकता। जो औरों के दुःख से दुःखी होता है, उनके दुःख दूर करने के लिए त्याग करने और कष्ट उठाने के लिए तैयार रहता है, समझना चाहिए कि उसकी आत्मा उन्नत है, और मानना चाहिए कि वही समाज-सेवा का अधिकारी है। ये लोग समाज के लिए आदरणीय, पूज्य, समाज के सहयोग के सर्वथा योग्य होते हैं। ऐसे सज्जन सब समाज में थोड़े-बहुत हुआ करते हैं। हमारे समाज में भी ऐसे महानुभाव हैं, उन्हींको मैंने ऊपर "इस भयानकता के अन्दर भी आशा की, प्रकाश की सुहावनी किरणें" कहा है। उन्हींके प्रयत्न पर हमारे समाज का कल्याण अवलम्बित है। वे यदि इने-गिने हों तो चिन्ता नहीं। एक दीपक अनेक घरों के दीपकों को प्रज्वलित कर सकता है—नहीं, सारे भूमण्डल को प्रकाश और दीप्तिमय कर सकता है। एक कर्वे ने भारत में अपूर्व स्त्री-संस्थायें खोल दीं, एक बुकरटी वाशिंगटन ने सारी निग्रो जाति का सिर संसार में ऊँचा कर दिया, एक मालवीयजी ने एक बड़ा हिन्दू-विश्वविद्यालय खड़ा कर दिया, एक दयानन्द ने हिन्दू-जाति में अद्भुत चेतना उत्पन्न कर दी, एक

तिलक ने भारतीय राजनीति में खलबली मचा दी, एक गाँधी ने संसार को नवीन प्रकाश से आलोकित कर दिया, एक विवेकानन्द और एक रामतीर्थ ने योरप और अमेरिका में हिन्दू-धर्म की कीर्ति अमर कर दी। यह न सोचिए कि जब तक आपके पास बड़ी भारी संस्था न हो, दफ्तर न हो, अमला न हो, फ़ण्ड न हो, तब तक आप कुछ सेवा नहीं कर सकते। कार्यारम्भ के लिए इन ढकोसलों की बिल्कुल ज़रूरत नहीं होती। यदि आप में से एक भी व्यक्ति अपनी शक्ति और प्रेरणा के अनुसार छोटा भी कार्य चुपचाप करने लगेगा तो उसकी ठोस और बुनियादी सेवा के आगे बीसों व्याख्यानों, लेखों और प्रस्तावों का कुछ भी मूल्य नहीं है। एक सिस्टर निवेदिता ने कलकत्ते की गन्दी गलियों को सुबह किसी को न मालूम होने देते हुए साफ़ करके जो सेवा की है, सत्याग्रहाश्रम के कितने ही लोग पाख़ाना साफ़ करके अछूतों की और समाज की जो सेवा कर रहे हैं, गांधीजी रोज़ चरख़ा कात कर निरन्न किसानों की, और लंगोट लगा कर वस्त्र-हीन भिखारियों की जो सेवा कर रहे हैं, उसके अभाव में रामकृष्ण मिशन, सत्याग्रहाश्रम और राष्ट्रीय महासभा की सेवायें फीकी और निस्सार मालूम होतीं हैं। सवाल इच्छा का है, कसक का है। जहाँ दर्द है, वहाँ दवा है। सिपाही न तो अभावों की शिकायत करता है, न बाधाओं की परवाह। वह तो तीर की तरह सीधा लक्ष्य की ओर दौड़ता चला जाता है—न इधर देखता है, न उधर। वह 'हवाई जहाज़' में सैर नहीं करता; वह तो जहाँ ज़रूरत हो, वहाँ 'दफ़न हो जाने' के लिए एक पाँव पर तैयार रहता है। अतएव यदि हम मानते हैं कि हम मनुष्य हैं, तो जिस रूप में हम से हो सके उसी रूप में समाज के दुःखों को दूर करने के उपाय में अर्थात् समाज-सेवा में अपना तन, या मन, या धन, या तीनों, लगाये बिना हमारे दिल को चैन नहीं पड़ने की। और जिन

लोगों का पुण्य इतना प्रबल न हो, जिनकी मनुष्यता जाग्रत न हुई है, उनमें समाज-सेवा के लिए आवश्यक तेज-पुरुषार्थ का अभाव हो, वे परमात्मा से प्रार्थना करें कि हे प्रभो, हमारी बुद्धि को विमल और हृदय को कोमल कर, जिससे हम अपनी जाति, समाज, देश और अन्त को सारी मनुष्य-जाति के दुःख को अनुभव कर सकें और—

तेजस्विनावधीतमस्तु

जिससे हम उनको दूर करने में समर्थ हों।

स्वतंत्रता के मूल

[३]

[१]

स्वतन्त्रता के साधन

स्वतन्त्रता का पूरा अर्थ और सच्चा रूप मालूम हो जाने के बाद यह प्रश्न सहज ही उठता है कि समाज में मनुष्य इस तरह स्वतन्त्र किन नियमों के अधीन होकर रह सकता है ? यदि मुझे अपनी स्वतन्त्रता उतनी ही प्यारी है जितनी कि औरों की तो दूसरों के प्रति मेरा व्यवहार कैसा होना चाहिए ? सच्चाई का या झुठाई का ? सहिष्णुता का या असहिष्णुता का ? न्याय का या अन्याय का ? संयम का या असंयम का ? उत्तर स्पष्ट है—सहिष्णुता का, न्याय का और संयम का। इसी तरह यह भी निर्विवाद है कि मनुष्य-मनुष्य में जबतक प्रेम और सहयोग का अटल नियम न माना जागया तबतक उभयपक्षी स्वतन्त्रता नहीं रह सकती । सच्चाई हमारे पारस्परिक व्यवहार को सरल और

निर्मल बनाती है। न्याय हमें एक-दूसरे के अधिकारों की सीमा को न लांघने के लिए विवश करता है। सहिष्णुता, ऐसे किसी उल्लंघन की अवस्था में, परस्पर विद्वेष, कलह और संघर्ष को रोकती है। संयम दूसरे को उसकी स्वतन्त्रता, अधिकार और सुख-सामग्री की सुरक्षितता की गैरण्टी देता है। प्रेम परस्पर के सम्बन्ध को सरस, उत्साह और जीवनप्रद बनाता है; कठिनाइयों, कष्टों, रोगों और विपत्तियों के समय मनुष्य को सेवा-परायण और सहयोगी बनाता है एवं सहयोग उन्नति और सुख के मार्ग में आगे बढ़ने का मार्ग सुगम बनाता है। इन सब भावों और गुणों के लिए हमारे पास दो सुन्दर और व्यापक शब्द हैं सत्य और अहिंसा।

पहले यहां अहिंसा का विचार कर लें। जो भाव या नियम हमें अपने स्वार्थ के लिए दूसरों की हानि चाहने, उसे दुःख पहुँचने के लिए प्रेरित करता है उसे हिंसा कहते हैं। उसके विपरीत जो भाव या नियम हमें परस्पर प्रेम और सहयोग सिखाता है वह है अहिंसा। संयम जिस प्रकार अहिंसा का कर्त्तरि (Subjective) और निष्क्रिय (Passive) रूप है और प्रेम सक्रिय तथा कर्मणि (Objective), उसी प्रकार संयम स्वतन्त्रता का निष्क्रिय और कर्त्तरि साधन एवं प्रेम सक्रिय तथा कर्मणि साधन है। इस तरह स्वतन्त्रता और अहिंसा साध्य और साधन बन जाते हैं। हम यह चाहते हैं कि समाज का बच्चा-बच्चा आजाद रहे, कोई एक दूसरे को न दबावे, न सतावे। तो क्या व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता के लिए अहिंसा का पालन परम अनिवार्य है ? अहिंसा यद्यपि स्वतन्त्रता की आन्तरिक साधन-सी प्रतीत होती है तथापि वह बाह्य-साधन भी है। यह सुनकर पाठक जरा चौंकेंगे तो; पर यदि वे भारत के अहिंसात्मक स्वातन्त्र्य-संग्राम पर दृष्टि डालेंगे, संसार के निःशस्त्री-करण-आन्दोलन का स्मरण करेंगे और विख्यात-विख्यात साम्यवादियों के

आदर्श समाज में हिंसा के पूर्ण त्याग पर विचार करेंगे तो उन्हें इसमें कोई बात आश्चर्यजनक और असम्भव न प्रतीत होगी। यह ठीक है कि आजतक मनुष्य जाति के इतिहास में ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है कि किसी एक बड़ी जाति, समूह या देश ने अहिंसात्मक रहकर अपनी स्वतन्त्रता पाली हो या रखली हो, इसके विपरीत शस्त्र-बल या हिंसा-प्रयोग के द्वारा स्वतन्त्रता लेनें, छीनने और रखने के उदाहरणों से इतिहास का प्रत्येक पन्ना भरा मिलेगा; पर यह इस बात के लिए काफी नहीं है कि इस समय या आगे भी अहिंसात्मक साधन बेकार साबित होंगे, या न मिलेंगे, न रहेंगे, न सफल होंगे। भारत में इस समय जो सफलता अहिंसा को मिल रही है उसे देखते हुए तो किसीको इस विषय में निराश या हतोत्साह होने का कारण नहीं है। फिर भी अभी यह प्रयोगावस्था में है। जबतक इसमें पूर्ण सफलता न मिल जायगी, इसी साधन के द्वारा भारत में सफल क्रान्ति न हो जायगी, तबतक बाह्य साधन रूप में इसका मूल्य लोग पूरा-पूरा न आंक सकेंगे। पर बुद्धि जहांतक जाती है अहिंसा किसी प्रकार हिंसा से कम नहीं प्रतीत होती। बल, प्रभाव, मत-परिवर्तन, हृदयाकर्षण, संगटन, एकता, सामाजिक-जीवन, युद्ध-साधन, शान्ति, आदि सब बातों में अहिंसा हिंसा से कहीं आगे और बढ़कर ही है। हमारा जीवन सच पूछिए तो अहिंसा के बल पर जितना चल रहा है उसका शतांश भी हिंसा के बल पर नहीं। क्या कुटुम्ब, क्या जाति और क्या समाज में अहिंसा का ही—प्रेम और सहयोग का ही—बोलबाला देखा जाता है। यदि आप गौर से देखें तो इसीकी भित्ति पर मनुष्य का व्यक्तिगत, कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन रचा हुआ दीख पड़ेगा। मनुष्य ही क्यों, पशु-पक्षी समाज में भी आपको हिंसा की अर्थात् द्वेष, कलह और मारकाट की अपेक्षा प्रेम और सहयोग ही अधिक मिलेगा।

जो शस्त्र-बल या सेना-बल समाज को अपने पास रखना पड़ता है वह भी बहु-जन-समाज के कारण नहीं, कुछ उपद्रवियों, दुर्जनों और दुष्टों के कारण ही। किसी भी समाज को आप ले लीजिए उसमें आपको सज्जनों की अपेक्षा दुर्जन बहुत ही कम मिलेंगे। जिस प्रकार एक मनुष्य में हिंसा की अपेक्षा अहिंसा के भाव बहुत अधिक पाये जायँगे, उसी प्रकार एक समाज में भी आप सज्जन, शान्ति-प्रिय मनुष्यों की अपेक्षा कलह-प्रिय और दुष्ट मनुष्यों की संख्या कम ही देखेंगे। अर्थात् जो सेना या शस्त्र आज रक्खा जाता है वह दरअसल तो थोड़े से बूरे अपवादस्वरूप लोगों के लिए है। यह दूसरी बात है कि मनुष्य या शासक सज्जनों को दुःख देने में भी उसका दुरुपयोग करते रहते हैं। पर संसार ऐसे कुकृत्यों की निन्दा और प्रतिकार ही करता रहा है। फिर यह शस्त्र-बल या सेना-संगठन रोज ही काम में नहीं आता। इससे भी इसका महत्व और आवश्यकता स्पष्ट ही कम हो जाती है। मुख्य उद्देश्य इसका है मनुष्य और समाज का दुष्टों से रक्षण। पर यदि हम समाज की रचना ही ऐसे पाये पर करें कि जिस में दुष्ट लोग या दुष्टता का मुकाबला प्रतिहिंसा एवं दमन के द्वारा करनें के बजाय, संयम, कष्ट सहन और क्षमाशीलता के द्वारा करने की प्रथा डाली जाय—महज उनके शरीर को बंधन में न डालकर, उन्हें त्रास न देकर, उनके हृदय पर अधिकार करनें की, उसे बदल देने की प्रणाली डाली जाय तो समाज का रक्षण ही न हो, बल्कि सम्मिलित और सुसंगठित प्रगति भी तेजी से हो। रक्षक की आवश्यकता वहीं हो सकती है, जहां कोई भक्षक हो; पर यदि हम भक्षक को ही मिटानें की तरकीब निकाल लें, 'मूले कुठारः' करें तो फिर रक्षण और उसके लिए संहारक शस्त्रास्त्र, सेना की एवं उनके अस्तित्व तथा प्रयोग के लिए अगणित धन-जन की आवश्यकता ही क्यों रहे? हां, यह अलबत्ता निर्विवाद है

कि जबतक समाज से भक्षक मिट नहीं जायगा, तबतक फौज, पुलिस और हथियार भी समाज से पूर्णतः जा नहीं सकते। किन्तु एक ओर यदि हम शिक्षा, संस्कार और नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति द्वारा दुष्टों, दुर्जनों पापियों और भक्षकों की जड़ काटने का, दूसरी ओर समाज को सहनशील, न्याय-प्रिय, और सहयोगवृत्तिवाला बनाने का सच्चे दिल से यत्न करें तो यह असम्भव नहीं है—हां, कष्ट और समय-साध्य जरूर है।

इतने विवेचन से यह भलिभांति स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता के लिए अहिंसा, अपने तमाम फलितार्थों और तात्पर्यों सहित, आन्तरिक साधन तो निर्विवाद रूप से है; पर प्रयत्न करने से बाह्य साधन भी हो सकता है। बल्कि सच्ची और पूर्ण स्वतन्त्रता की जो कल्पना हम पहले अध्यायों में कर चुके हैं; उसकी ष्टि से तो जब तक हम दोनों कामों के लिए अहिंसा को पूरा स्थान न रेंगे तबतक मनुष्य पूर्ण अर्थ में न स्वतन्त्र हो सकता है न रह सकता है।

[२]

सत्य का व्यापक स्वरूप

पिछले प्रकण में यह बताया गया है कि सच्चाई के द्वारा मनुष्य का पारस्परिक जीवन सरल और निर्मल बनता है। यह निश्चित बात है कि समाज में जब तक असत्य, पाखण्ड, अन्याय, द्वेष, डाह, चोरी, अनीति आदि दुर्गुण रहेंगे और इनको कब्जे में रखनेवाले या इनकी जड़ काटनेवाले सत्य और अहिंसा सांगोपांग इतने प्रबल न होंगे कि इन दुर्गुणों को दबाये या निर्बल बनाये रक्खें तब तक उसमें पुलिस, अदालत, फौज, शस्त्रास्त्र, जेल और इन सब की माता सरकार किसी-न-किसी

रूप में अवश्य रखनी पड़ेगी। और जब तक समाज में सरकार की अर्थात् शासक-मण्डल की जरूरत रहेगी तब तक उसे आदर्श या स्वतंत्र समाज नहीं कह सकते। जब तक समाज अपने आन्तरिक संगठन के बल पर नहीं, बल्कि किसी बाह्य नियंत्रण—सरकार—के सहारे कायम रहता है तब तक वह कमजोर और अधीन ही कहा जायगा। भले ही सरकार या शासक-मण्डल जनता के बनाये हों, समाज ने ही अपनी सत्ता का एक अंश देकर उनको काम किया हो, किन्तु उनका अस्तित्व और उसकी आवश्यकता ही समाज की दुर्बलता, कमी और संगठन-हीनता का परिचय देती हैं, अतएव यदि हम चाहते हों कि ऐसा समय जल्दी आ जाय जब समाज में कोई सरकार या शासक-मण्डल जैसी चीज न रहे, सब घर-घर के राजा हो जायँ, तो यह स्पष्ट है कि पहले समाज को सत्य और अहिंसा की दीक्षा देनी होगी—इन्हें समाज के बुनियादी पत्थर समझना होगा। प्रत्येक मनुष्य को सत्याग्रही बनना होगा। सत्य मनुष्य को सरल, न्यायी, निर्मल, दूसरों को हानि न पहुँचानेवाला, सदाचारी बनायेगा; और अहिंसा दूसरों की ओर से होनेवाले दोषों, बुराइयों और ज्यादतियों को रोकने और सहन करने का बल देगी। मनुष्य जब तक एक ओर खुद कोई बुराई न करेगा, और दूसरी ओर बुराई करनेवाले से बदला लेनें का भाव नहीं रक्खेगा तब तक समाज सरकार-हीन किसी तरह नहीं हो सकता। पहली बात समाज में सत्याचरण से और दूसरी अहिंसा के अवलम्बन द्वारा ही सिद्ध हो सकती है। सत्य और अहिंसा के मेल का दूसरा नाम सत्याग्रह है। अतएव इन दोनों महान् नियमों का मूल्य केवल व्यक्तिगत जीवन के लिए ही नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन के लिए भी है और उससे बढ़कर है। ये नियम केवल दूर से पूजा करने योग्य, 'आदर्श' कहकर टालनें योग्य, या 'साधू-सन्तों के लिए कहकर मखौल

उड़ाने लायक नहीं हैं। यदि हमने मनुष्य के सच्चे लक्ष्य को, समाज के आदर्श को, और सरकार तथा शासक-मण्डल नामक संस्था की हानियों को अच्छी तरह समझ लिया है, यदि हम उन हानियों से बचनें और समाज को जल्दी-से-जल्दी अपने आदर्श तक पहुँचाने के लिए लालायित हों, तो हम इन दोनों नियमों को अटल सिद्धान्त मानें और सच्चाई के साथ अन्तःकरण-पूर्वक इनका पालन किये बिना रह ही नहीं सकते। इनके महत्व की ओर से आंखें मूंदना, इन्हें महज एक आध्यात्मिक चीज बनाकर व्यवहार के लिए अनावश्यक या निरुपयोगी मानना, समाज के आदर्श को या उसके उपयों और पहली शर्तों को ही न समझना है।

तो प्रश्न यह है कि सत्य और अहिंसा का मर्म आखिर क्या है?

सत्य शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में होता है—तत्त्व, तथ्य और वृत्ति। सत्य 'सत्' शब्द का भाववाचक है। सत् का अर्थ है सदा कायम रहनें वाला, जिसका कभी नाश न हो। संसार के बड़े-बड़े दार्शनिकों और अनुभवी ज्ञानियों ने कहा है कि इस जगत् के सब पदार्थ नाशमान हैं; सिर्फ एक वस्तु ऐसी है जिसकी सत्ता सदा—सर्वकाल रहती है—वह है आत्मा। इसलिए आत्मा जगत् का परम सत्य अथवा तत्त्व हुआ। जब हम यह विचारते हैं कि इसमें सत्य क्या है, तब हमारा यही भाव होता है कि इसमें कौनसी बात ऐसी है जो स्थायी है, पक्की है। अतएव सत्य एक तथ्य हुआ। हम सच्चा उस मनुष्य को कहते हैं जो भीतर-बाहर एक-सा हो। इसलिए, सत्य वह हुआ जो सदा एक-सा रहता है। इस प्रकार सत्य एक तत्त्व, तथ्य और वृत्ति तीनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। तत्त्व-रूप में वह आत्मा है; तथ्य-रूप में वह सर्वोच्च जीवन-सिद्धान्त है; और वृत्ति-रूप में महान् गुण है। तीनों अर्थों में सत्य वांछनीय, आदरणीय और पालनीय है। आत्मा के रूप में वह अनुभव करने की वस्तु है;

सिद्धान्त के रूप में वह पालन करने की और वृत्ति या गुण के रूप में ग्रहण करने और बढ़ाने की वस्तु है। जब हम यह अनुभव करने लगें कि मेरी और दूसरे की आत्मा एक है—शरीर-भेद से दोनों में भिन्नता आ गई है, तब हम तत्त्व के रूप में सत्य को मानते हैं। जब हम यह निश्चय करते हैं कि मैं तो सत्य पर ही अटल रहूँगा, जो मुझे सच दिखाई देगा उसीको मानूंगा, तब मैं सिद्धान्त के रूप में सत्य को मानता हूँ। और जब मैं यह कहता हूँ कि मैं अपनें जीवन को छल-कपट और स्वार्थ से रहित बनाऊँगा, तब मैं एक गुण या वृत्ति के रूप से सत्य को मानता हूँ। इन भिन्न-भिन्न अर्थों में एक ही 'सत्य' शब्द से प्रयुक्त होनें के कारण कई बार भ्रम उत्पन्न हो जाता है। कभी गुण के अर्थ में उसका प्रयोग किया जाता है और वह तथ्य या तत्त्व के रूप में ग्रहण किया जानें लगता है, तब विवाद और कठिनाई पैदा होजाती है।

यों तो 'सत्य' का आग्रह रखना, सत्य पर डंटे रहना 'सत्याग्रह' है। किन्तु 'सत्याग्रह' में सत्य तीनों अर्थों में ग्रहण किया गया है। सबसे पहले सत्याग्रही को यह जानना पड़ता हैं कि इस बात में सत्य क्या है ? अर्थात् तथ्य, न्याय, औचित्य क्या है ? यह जानने के बाद वह उस पर दृढ़ रहने का संकल्प करता है। इस संकल्प में या व्यवहार में उसे सच्चा शुद्ध रहने की परम आवश्यकता है। ये दोनों आरंभिक क्रियायें उसे इसलिए करनी पड़ती हैं कि अन्तिम सत्य—आत्मत्व—को अनुभव करना चाहता है—सारे जगत् से अपना तादात्म्य करना चाहता है। इस प्रकार एक सत्याग्रही का ध्येय हुआ जगत् के साथ अपने को मिला देना—उसकी प्रथम सीढी हुई सत्य का निर्णय करना, दूसरी सीढी हुई उस पर दृढ़ रहना, और तीसरी सीढी हुई अपनें व्यवहार में सच्चा और शुद्ध रहना। इस आखिरी बात में वह जितना ही दृढ़ रहेगा उतनी ही सत्य-निर्णय में

उसे सुगमता होगी और उतना ही उसका निर्णय अधिक शुद्ध होने की संभावना रहेगी। सत्य पर दृढ़ रहने से उसकी तेजस्विता बढेगी, शुद्धता होनें से लोकप्रियता बढेगी और जगत् के साथ अपनेको मिलाने के प्रयत्न से उसकी आत्मा का विकास होगा। उसकी सहानुभूति व्यापक होगी, उसका क्षेत्र विशाल होगा, वह क्षुद्रताओं और संकीर्णताओं से ऊपर उठेगा। तीनों के संगम के द्वारा उसे पूर्ण, सच्चा या स्वाधीन मनुष्य बननें में सहायता मिलेगी।

सत्याग्रह मनुष्य-मात्र के लिए उपयोगी है। यह समझना कि यह तो साधुओं और वैरागियों के ही काम का है, भूल है। सत्य पर डटे रहना, सच्चाई का व्यवहार करना, प्रत्येक दुनियादार आदमी के लिए भी उतना ही जरूरी है जितना कि साधू या वैरागी के लिए है। यदि सत्य पर भरोसा न रक्खा जाय, सच्चाई का व्यवहार न किया जाय, तो दुनिया के बहुतेरे कारोबार बन्द कर देना पड़ेंगे; बल्कि सांसारिक जीवन का निर्वाह ही असंभव हो जायगा। संसार में यद्यपि सत्य और झूठ का मिश्रण है तथापि संसार-चक्र जिस किसी तरह चल रहा है उसका आधार असत्य नहीं, सत्य है। जितना सत्य है उतनी सुव्यवस्था और सुख है; जितना असत्य है उतनी ही अव्यवस्था और दुःख है। कुछ लोग छोटे स्वार्थों, थोड़े लाभों, और जल्दी सफलता के लोभ में झूठ से काम ले लेते हैं—इसीलिए दूसरे लोगों को असुविधा और कष्ट उठाना पड़ता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि दुनिया में सत्य सरल व्यवहार तो कठिन माना जाता है और झूठ में सुविधा और लाभ दिखाई पड़ता है। यदि प्रत्येक मनुष्य अपनें अनुभव से लाभ उठाना चाहे तो वह तुरंत देख सकता है कि झूठ में कितनी अशान्ति, कितनी दुविधा, कितनी कठिनाइयां, कितनी उलझनें हैं और सरल सत्य में मनुष्य कितनी झंझटों से बच जाता

है। यदि सत्य का आदर न हो तो परस्पर विश्वास रखना ही कठिन हो जाय और यदि परस्पर विश्वास न हो, वचन-पालन की महत्ता न हो, तो जरा सोचिए संसार-व्यवहार कितने दिन तक चल सकता है ? इसके विपरीत सत्य का व्यवहार करने से न केवल अपनी साख, प्रतिष्ठा और प्रभाव ही बढ़ता है; बल्कि शान्ति, तेजस्विता और दृढ़ता भी बढ़ती है, जो कि सांसारिक और सफल जीवन के लिए बहुत आवश्यक है।

परन्तु इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि व्यापारिक, आर्थिक और राजनैतिक मामलों में तो झूठ का सहारा लिये बिना किसी तरह काम नहीं चल सकता। यह बात इस अर्थ में तो ठीक है कि कुछ लोग जीवन में झूठ का आश्रय लेकर अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं; परन्तु इस अर्थ में नहीं कि यदि कोई यह निश्चय ही करले कि मैं तो किसी तरह सत्य से विचलित न होऊँगा तो उसका काम न चल सके या उसे हानि उठाना पड़े। यदि वह छोटे और नजदीकी लाभों को ही लाभ न समझेगा, आर्थिक कठिनाइयों से ही न घबरा जायगा, तो झूठ का आश्रय लेनेवाले की अपेक्षा वह अधिक सफल होगा; हां, उसे धीरज रखना होगा। सत्य का पालन करनेवाले को जो कष्ट और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उसका कारण तो यह है कि अभी समाज की व्यवस्था बिगड़ी हुई है—शिक्षा और सुसंस्कार की कमी है। यह कल्पना करना चाहे हवाई किले बनाना हो कि सारा मनुष्य-समाज किसी दिन सत्यमय हो जायगा; परन्तु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि जितना ही वह सत्य की ओर अधिक बढ़ेगा उतना ही वह सुख, सुविधा और सफलता में उन्नति करेगा।

सृष्टि में अकेलेपन के लिए जगह नहीं है। सृष्टि शब्द ही अकेलेपन का विरोधी है। यदि वेदान्तियों की भाषा का आश्रय लिया जाय

तो ईश्वर ने एक से अनेक—'एकोऽहं बहुस्याम'—होने के लिए सृष्टि-रचना की है। इसलिए सच्चे अर्थ में यहां कोई बात, कोई वस्तु 'व्यक्तिगत' नहीं हो सकती। जितने नियम, सिद्धान्त, आदर्श और व्यवहार बने हैं वे सब न बने होते यदि सृष्टि में 'अकेलापन' या 'व्यक्तिगत' कुछ होता। इनकी उत्पत्ति व्यक्ति के जगत् के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही हुई है। अर्थात् इनका मूल्य सामाजिक है। समाज में रहते हुए भी मनुष्य ने कुछ बातें अपने लिए ऐसी रख ली हैं जिनका समाज से बहुत सम्बन्ध नहीं है और इसलिए वे व्यक्तिगत कही जाती हैं। सत्य तत्व के अर्थ में तो सष्टि का आधार है; परन्तु सिद्धान्त और गुण के अर्थ में सामाजिक नियम है। इस प्रकार सत्य के दो भाग हो जाते हैं—एक स्वतंत्र सत्य और दूसरा सामाजिक सत्य। सामाजिक सत्य स्वतंत्र सत्य का साधक है। स्वतंत्र सत्य मनुष्य का ध्येय और सामाजिक सत्य उस तक पहुँचने की सड़क है। स्वतंत्र सत्य तो मनुष्य की एक कल्पित या अनुभूत स्थिति (Fact) है, जिसके आगे उसने कुछ नहीं पाया है – परन्तु सबकी दृष्टि वहां तक नहीं जाती, न वह उन्हें आकर्षित ही करता है, न उन्हें उसमें विशेष दिलचस्पी ही मालूम होती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य सामाजिक सत्य की मंजिलें तय करता जाता है त्यों-त्यों स्वतंत्र सत्य उसे लुभावना और गृहणीय मालूम होने लगता है और उसके गौरव, स्वाद या सौन्दर्य में उसकी रुचि होने लगती है। इसलिए जब तक बुद्धि में उसके स्वरूप को समझने की रुचि और हृदय में उसे अनुभव करने की उत्सुकता नहीं जाग्रत हुई है तब तक सामाजिक सत्य से ही मनुष्य को आरम्भ करना चाहिए। वह सत्य पर अटल रहने की और जीवन को भीतर बाहर शुद्ध बनाने की प्रतिज्ञा करे। यह सत्याग्रही के लिए पहली बात हुई।

दूसरे को कष्ट न देने की वृत्ति का नाम ही अहिंसा है। यह सत्य से उत्पन्न होती है और सत्य की सहायक या पूरक है। सामाजिक सत्य का जितना महत्व है उतना ही अहिंसा का भी महत्व है। परन्तु हम सत्य और अहिंसा को एक तुला पर नहीं रख सकते। सामाजिक गुण के अतिरिक्त सत्य का स्वतंत्र अस्तित्व और महत्व भी है। परन्तु अहिंसा ऐसी कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। फिर भी वह सत्य के ज्ञान और उसकी रक्षा के लिए अनिवार्य है। हालांकि उसका जन्म समाज की अपेक्षा से ही हुआ है। यदि संसार में कोई दूसरा व्यक्ति या जीव न हो तो किसीको कष्ट पहुँचाने का सवाल ही नहीं पैदा हो सकता।

सत्य जबतक स्वतंत्र है तबतक 'सत्य' है—परन्तु जब वह सामाजिक बनने लगता है तब अहिंसा का रूप धारण करने लगता है। सत्य का प्रयोग जब दूसरे पर किया जाता है तो वह वहां जाकर अहिंसा बन जाता है। हमसे सत्य के रूप में निकला और दूसरे तक पहुँचते हुए अहिंसा में बदल गया। हमसे उस तक पहुँचते हुए कुछ भावनाओं की रासायनिक क्रिया उसपर होती है जिससे वह अहिंसा बन जाता है। चूंकि मुझे यह मंजूर है कि जिस तक मैं अपना सत्य पहुँचाना चाहता हूँ वह उसे सत्य ही समझे, उसमें अपना लाभ ही समझे, इसलिए मैं उसमें मिठास और प्रेम की पुट लगा देता हूँ—यही अहिंसा का आरम्भ है। यदि मैं अपने ही मान्य सत्य की रक्षा कर लेता हूँ—दूसरे को अपने बरावर सुविधा और अधिकार नहीं देना चाहता—तो मैं सत्य का एकांगी और स्वार्थी पुजारी हुआ। परन्तु सत्याग्रही पूरे और सच्चे अर्थ में सत्य का भक्त होता है; इसलिए अज्ञानी के प्रति उसके मन में दया, प्रेम और सहानुभूति का ही भाव पैदा होता है। इन्हीं भावनाओं की पुट सत्य को अहिंसक बना देती है। सत्य जब मधुर और स्निग्ध होकर दूसरे तक

पहुँचता है तो उसे स्वादु और स्वागत-योग्य मालूम होता है। सत्य मूलतः भी कटु नहीं हो सकता। वह तीखा हो सकता है; पर कटु नहीं। यदि सत्य ही सबमें फैला हुआ है तो फिर सत्य एक में से दूसरे में पहुँचते हुए, कहीं तीखा, और कहीं कड़आ क्यों मालूम होता है? क्योंकि सत्य जिन साधनों, जिन उपकरणोंसे एक के अन्दर से निकलकर दूसरे के अन्दर पहुँचता है वे कु-संस्कारों और दोषों से लिप्त रहते हैं। उन कुसंस्कारों को पोंछने के लिए ही, या यों कहें कि उनके दोष से सत्य को बचाने के लिए ही प्रेम और मिठास की पुट जरूरी हो जाती है। कष्ट सहन प्रेम, मिठास तथा सहानुभूति की स्थूल अभिव्यक्ति है। जो व्यक्ति अज्ञानी है, स्वार्थ ने जिसे अन्याय और अत्याचार के गड़हे में गिरा रक्खा है, जो इस तरह अपने आप ही पतित हो चुका है, उसके प्रति एक मनुष्य के मन में तो सहानुभूति और दया ही उत्पन्न हो सकती है। यह सहानुभूति और दया ही उसे कष्ट देने के बदले कष्ट सहने के लिए प्रेरित करती है। और कष्ट-सहन के द्वारा सत्याग्रही दोनों हेतु सिद्ध कर लेता है—उस व्यक्ति का सुधार और अपने प्रति उसका मित्र भाव। सत्य के इतने विवेचन के बाद अब हम यह देखें कि सत्य की साधना से मनुष्य में कौन-कौन से गुण उदय होते हैं और वे किस प्रकार उसे पूर्ण स्वाधीन बनाने में सहायक होते हैं।

[३]

सत्य से उत्पन्न गुण

सत्य वह तत्व है जिसके बल पर सारा संसार-चक्र चल रहा है। उसको जानना, उसके लिए प्रयत्न करना, उसका अपने में अनुभव करना मनुष्य का स्वभाव-धर्म है। अनुभवियों ने कहा है कि

आत्मा, परमात्मा सत्य से भिन्न नहीं—सृष्टि में सत्य जो कुछ है वह यही कि घट-घट में, अणु-अणु में एक ही आत्म-तत्व समाया हुआ है। कई मनुष्य ऐसे मिलेंगे जो बुद्धि से इस ज्ञान को जानते हैं; किन्तु सत्य जिनके हृदय का धर्म नहीं बन गया है। वास्तव में आत्मा, जो जगत् का परम सत्य है, बुद्धि द्वारा जानने की वस्तु नहीं है। जिनका हृदय शुद्ध है उन्हें सत्य का स्फुरण अपने आप हुआ करता है। सत्य सीधा उनके दिल में जाकर बैठ जाता है। परन्तु कुसंस्कारों से जिनका हृदय दूषित और मलिन है उन्हें उसकी प्रतीति एकाएक नहीं होती। बुद्धि के द्वारा जिन्होंने सत्य को जानने का यत्न किया है उन्होंने बड़े-बड़े दर्शन-शास्त्र रच डाले हैं किन्तु वे इनें-गिनें विद्वानों के ही काम के हो गये हैं। वे बुद्धि की जिज्ञासा को तृप्त चाहे कर दें; किन्तु सत्य का साक्षात्कार तो, अनुभव करने से ही होता है। इसलिए सत्य को जीवन का धर्म बनाने—आचरण में उतारनें का ही यत्न सबसे सीधा और अच्छा मार्ग है। जो बात आपको सच प्रतीत हो, उसी पर डँटे रहिए; किन्तु यह न समझ लीजिए कि आपने उसमें जो कुछ सत्य जाना है वही अन्तिम सत्य है। सम्भव है, आपकी धारणा में गलती हुई हो। इसलिए आप आगे के लिए आंखें खोलकर रखिए—देखते जाइए, अपने मानें हुए सत्य के आगे भी कुछ दिखाई देता है या नहीं—किन्तु जब तक आगे निश्चत रूप से कुछ न दिखाई दे तब तक अपने माने सत्य पर ही अड़े रहिए। सत्य तो दुनिया में एक है। इसलिए यदि आपकी लगन सच्ची है तो आप उसे—असली सत्य को—किसी दिन अवश्य पाजायँगे। किन्तु आपकी वृत्ति हर बात में सत्य को देखनें, सत्य को खोजने की ओर रहे। जिस बात में जो सत्य प्रतीत हो उसे अपनाते जाइए, जो असत्य मालूम हो, उसे छोड़ते जाइए। असत्य कई बार बड़ा लुभावना होता है, शीघ्र

सफलता का प्रलोभन दिखाता है—किन्तु आप उसके फन्दे में न फँसिए। यह अनुभव सिद्ध है कि यदि आप उसके लालच में आते रहेंगे तो सम्भव है कि कुछ बार थोड़े परिश्रम में और जल्दी सफलता मिल जाय; किन्तु आप विश्वास रखिए कि यह लाभ आगे के बड़े लाभ को दूर फेंक देता है और इसलिए असल में हानि ही हो जाता है। बार-बार झूठ का आश्रय लेते रहने से तो मित्रों और समाज में पैंठ उठ जाती है और इससे होने-वाली हमारी भौतिक और नैतिक हानि का अन्दाज पाठक सहज ही लगा सकते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तो हमें यह अनुभव होगा कि झूठ को अपनाकर यदि आप कोई तात्कालिक लाभ कर रहे हैं तो उसी समय आप दूसरी बात में अपनी हानि करते हुए पाये जावेंगे। चूंकि आपका ध्यान लाभ की तरफ है, आपको जल्दी है, इसलिए आप अपने कार्य के समस्त परिणामों को शान्ति के साथ नहीं देख रहे हैं—इसलिए वह हानि अभी आपको दिखाई नहीं देती; किन्तु यदि आप झूठ का आश्रय लेते हुए इस बात पर ध्यान रक्खेंगे कि देखें इससे कौन-सी हानि हो रही है तो आपको उसे देखने में देर न लगेगी। फिर तो आपको असत्य से स्वाभावतः अरुचि और अन्त में घृणा होने लगेगी और उसकी हानि इतनी प्रत्यक्ष हो जायगी कि आप असत्य के विरोध में प्रचार करने लगेंगे।

इस प्रकार अपने प्रत्येक कार्य और प्रत्येक व्यवहार में सत्य और असत्य की बार-बार छान-बीन करते रहने से आपको सबसे पहला लाभ तो यह होगा कि आपकी विचार-शक्ति बढ़ेगी। इससे आपको सारा-सार का, कर्तव्य-अकर्तव्य का, हानि-लाभ का, अच्छे-बुरे का, विचार करने की आदत पड़ेगी और आपमें विवेक जाग्रत होगा। जब आप सत्य ग्रहण करने की ओर ही दृष्टि रक्खेंगे तो आपका मन एकाग्र होने

लगेगा, और-और बातों को छोड़कर एक सत्य की ही ओर मन को बार-बार आना पड़ेगा, इससे उसे संयम का अभ्यास अपने आप होगा। जब हम केवल सत्य पर ही दृढ रहेंगे तो हमें अपने बड़े-बूढ़ों प्रिय जनों और कुटुम्बियों के भी विरोध का सामना करना पड़ेगा। राज्य, समाज और धर्म के नाम पर स्थापित सत्ता का भी विरोध सहना पड़ेगा और करना पड़ेगा। इससे हमारे अन्दर साहस पैदा होगा। इन विरोधियों के विरोध और कष्टों को आनन्द के साथ सहने से कष्ट-सहन की शक्ति बढ़ेगी। सत्य-भक्त के लिए यह जरूरी होगा कि वह दूसरे के माने हुए सत्य का भी आदर करे। वह उसे अपने लिए सत्य तब तक न मानेगा जब तक कि स्वयं उसे उसकी प्रतीति न हो जाय; परन्तु उसे अपने सत्य पर कायम रहने का अधिकार जरूर देगा। ऐसा करने में उसे अहिंसा का पालन करना होगा। यदि वह अपना सत्य उस पर जबरदस्ती लादने लगेगा, दण्डबल, भय अथवा शस्त्र-बल से उसे अपना सत्य मानने पर मजबूर करेगा तो वह सत्य-भक्त नहीं रहेगा—अपने मान्य सत्य पर चलने का अधिकार सबको है—इस महान् सत्य की वह अवहेलना करेगा। इस प्रकार अहिंसा का पालना उसके लिए अनिवार्य हो गया। सत्य का निर्णय करने में भी अहिंसा उसकी सहायक होती है बल्कि अनिवार्य शर्त है। द्वेष हिंसा का एक रूप है। जब तक हमारा मन द्वेष से कलुषित होगा तब तक हमारे हृदय में सत्य की पूरी अनुभूति न होगी—हमारा निर्णय शुद्ध न होगा। द्वेष से प्रभावित मन हमें स्वार्थ की ओर ले जायगा—हमारे द्वेष-पात्र के हित की रक्षा का उचित भाव हमारे मन में न रहेगा—इसलिए हमारा निर्णय न्याय या सत्य-मूलक न होगा। इसी तरह शुद्ध निर्णय या सत्य-शोधन के लिए हमारा अंतः-करण राग से भी दूषित न होना चाहिए। क्योंकि जब एक के प्रति

राग यानी मोह, असक्ति अथवा स्वार्थ-मूलक स्नेह होगा तो हमारा मन उसके सुख, लाभ या हित की तरफ अधिक झुकेगा और हम दूसरे के स्वार्थ की उपेक्षा कर जायँगे। यह राग जन्म के समय चाहे हिंसा के रूप में न आता हो, परन्तु परिणाम के रूप में अवश्य हिंसा हो जाता है। जिसके प्रति हमारे मन में राग होता है उसका अहित हम अक्सर ही कर डालते हैं—अलबत्ता उसका हित-साधन करने की चेष्टा करते हुए ही। क्योंकि उसके प्रति अत्यधिक स्नेह हमें उसके सच्चे हित की ओर से अन्धा बना देता है—हम उसके श्रेय की अपेक्षा उसके प्रेम की अधिक चिंता करनें लगते हैं—और उसे गलत रास्ते ले जाते हैं। राग को अपनाकर स्वयं अपनी भी हानि करते हैं—हम भी पथ-भ्रष्ट होते हैं। अपने कर्तव्य का निर्णय करने में भी हम राग के वशीभूत हो सत्य का मार्ग छोड़ देते हैं—उसकी नाराजगी के अन्देशे या खुश करने की चिन्ता से सत्य की उपेक्षा होने लगती है। और हित तो अन्ततः सत्य की प्रतीति, पालन और रक्षण से ही हो सकता है। इस तरह सत्य का पालन हमें राग-द्वेष से ऊपर उठने की शिक्षा देगा इससे हमारे मन में समता का और स्थिरता का गुण आने लगेगा। अधिक और बार-बार कष्ट सहन करने से धीरज का विकास होगा। कठिनाइयों, विघ्नों, कष्टों से लड़ते हुए, पुरुषार्थ, निर्भयता की वृद्धि होगी। 'यह सब मैं सत्य के लिए सह रहा हूँ,' यह भावना अपूर्व बल और उत्साह को बढ़ावेगी। सत्य के पथ पर चलनेवाला अवश्य सफल होगा यह विचार आशा और उमंग की वृद्धि करेगा। यों किसी भी उच्च ध्येय को ग्रहण करके उसकी सिद्धि में तल्लीन रहने से इनमें से कई गुणों का विकास होगा; किन्तु अमर आशा और सफलता की अचल श्रद्धा सत्य के ध्येयवाले को ही प्राप्त होती है।

सत्य के साधक के लिए इतना ही काफी नहीं है कि वह स्वयं ही

सत्य का अनुभव और पालन करता रहे बल्कि उसका यह भी कर्तव्य है कि अपने सत्य से दूसरे को भी लाभ पहुँचावे—दूसरे को भी उसका अनुभव करावे। यह वह दो तरह से कर सकता है—स्वयं अपने सत्य पर दृढ़ रहकर—उसका आचरण करते हुए और दूसरे लोगों में उसके लिए रुचि, प्रीति और लगन उत्पन्न करके। यह दूसरा काम उसे सत्य का प्रचारक भी बना देता है। प्रचारक बनने से उसमें संगठन की योग्यता आवेगी। उसे जनता की और भिन्न-भिन्न वर्णों की संस्कृति और मनोदशा का अध्ययन करना पड़ेगा जिससे विवेक बढ़ेगा और समय तथा स्थिति देखकर भिन्न-भिन्न उपायों का आवलंबन करना पड़ेगा, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहों से काम लेना पड़ेगा—इससे साधन-बहुलता और प्रसंगावधान आवेगा। सत्य जैसे दूरवर्ती लक्ष्य को सामने रखने से और अपने वर्तमान कार्यक्रम को सदैव उसके अनुकूल बनाये रखने की चिन्ता से उसमें दूरदर्शिता का प्रादुर्भाव होगा। अहिंसा का मूल सत्य पर स्थित है; किन्तु उसका स्वरूप प्रेममय है। जब हम इतना ही कहते हैं कि 'दूसरे को कष्ट न पहुँचाओ' तो उसका नाम अहिंसा है। किन्तु जब कहते हैं कि 'दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझो' तो उसका नाम सहानुभुति है और जब हम कहते हैं कि 'दूसरे को अपने समान चाहो' तो उसका नाम प्रेम है। अहिंसा तटस्थ है; प्रेम सक्रिय है। जहां प्रेम है, सहानुभूति है, वहां सभी मृदुल गुणों का अधिष्ठान हो गया समझिए। रस की उत्पत्ति प्रेम से ही है। रस समस्त ललित कलाओं का प्राण है। एक ओर से सत्य का तेज और दूसरी ओर से अहिंसा की शान्ति तथा प्रेम का जीवन-रस मनुष्य को समस्त तेजस्वी और रमणीय गुणों से—मस्तिष्क और हृदय के गुणों से आभूषित करके जीवन की सार्थकता के द्वार तक निश्चित रूप से पहुँचा देगा।

सत्य के इतने विस्तृत विवेचन के बाद अब हम अहिंसा को और अधिक गहराई के साथ समझने का प्रयत्न करें।

[४]

अहिंसा का मूल स्वरूप

सत्य जिस तरह स्वतंत्र, निरपेक्ष और स्वयं पूर्ण है उस तरह अहिंसा नहीं। यह सृष्टि सत्य के विभिन्न रूपों के सिवा और कुछ नहीं है। यह सब सत्य का ही विकास है। यदि सत्य अपने मूल निराकाररूप और भावरूप में रहता तो अहिंसा की कोई आवश्यकता ही न रहती, उसका उदय ही न होता। सत्य तो उस तत्त्व या नियम का नाम है जो अपने आपमें परिपूर्ण है और जिसे रहने या फैलने के लिए किसी दूसरी वस्तु के सहारे की आवश्यकता नहीं। किन्तु अहिंसा निष्क्रिय पक्ष में किसीको दुःख न पहुँचाने और सक्रिय पक्ष में प्रत्येक के साथ प्रेम करने की भावना या वृत्ति का नाम है। कोई होगा तभी तो उसे दुःख न पहुँचाने का या उससे प्रेम करने का भाव पैदा होगा; जब कोई था ही नहीं, केवल सत्य ही अपने असली रूप में स्थित था—एक रूप में एकरस था—तब अहिंसा का उदय कैसे हो सकता था? किन्तु सत्य के विकसित और प्रसरित होते ही, भिन्न-भिन्न नाम-रूप धारण करते ही, उनका पारस्परिक सम्बन्ध कैसा रहे, यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न हुआ और चूंकि भिन्न-भिन्न नाम-रूप वास्तव में एक ही सत्य का विकास है इसलिए उनमें सम्बन्ध प्रेम, सहयोग और सहिष्णुता का ही हो सकता था—इसी स्वाभाविक भावना का नाम अहिंसा रक्खा गया।

इस प्रकार सत्य यद्यपि निरपेक्ष है और अहिंसा सापेक्ष—दूसरे की

अपेक्षा से स्थित—है तो भी जबतक सृष्टि है तबतक उसका अस्तित्व है। जबतक जगत् है और नाम-रूप है तबतक अहिंसा बनी ही हुई है। अर्थात् जबतक हम हैं तबतक अहिंसा है। हमारे अस्तित्व और पारस्परिक सम्बन्ध के साथ वह सदा मिली और लगी हुई है।

जब हम मूल पूर्ण और निरपेक्ष सत्य को समझने का यत्न करते हैं तब तो आगे चलकर यह भी मानना होगा कि अहिंसा-भाव सत्य का ही एक अंग या अंश है। वह सत्य से बढ़कर तो हो ही नहीं सकता, बराबर भी चाहे न हो, अंशमात्र ही हो, किन्तु वह सत्य से पृथक् नहीं है, न हो सकता है। यदि वस्तुमात्र और भावमात्र सत्य का ही विकास है तो अहिंसा को उससे पृथक् कैसे कर सकते हैं ? फिर जगत् में हम देखते हैं कि और भावों की अपेक्षा प्रेमभाव सबसे प्रबल है। आमतौर पर प्रेम जितना आकर्षित और प्रभावित करता है उतना सत्य नहीं। तब यह क्यों न कहें कि सत्य का आकर्षक रमणीय रूप ही प्रेम या अहिंसा है। जो हो, इतना अवश्य मानना होगा कि सत्य और अहिंसा का नाता अमिट है और केवल सत्य को पाने के लिए ही नहीं बल्कि जगत् का अस्तित्व ठीक-ठीक रखने के लिए, समाज को सुख-शान्तियुक्त बनाने के लिए, वह अनिवार्य है।

यह तो हुई सत्य और अहिंसा के स्थान और परस्पर-सम्बन्ध तथा महत्व की बात। अहिंसा का मूल तो हमने देख लिया, अब उसका स्वरूप देखने का यत्न करें। सत्य जिस प्रकार एक अनिर्वचनीय तत्त्व, सत्य, नियम या व्यवस्था है, उसी प्रकार अहिंसा भी वस्तुतः अवर्णनीय भाव है; दोनों की प्रतीति और अनुभूति तो हो सकती है, किन्तु परिभाषा नहीं बनाई जा सकती। परिभाषा शब्दों और उसके बनानेवाले की योग्यता और विकास-स्थिति से मर्यादित रहती है। किसीने अपने

जीवन को पूर्ण अहिंसा और सत्यमय बना भी लिया तो शब्दशक्ति की मर्यादा के बाहर वह नहीं जा सकता। अपने सम्पर्क से वह अहिंसा और सत्य का उदय आपमें कर सकता है, किन्तु वाणी या लेख द्वारा वह उतनी अच्छी तरह आपको नहीं समझा सकता। यह शब्दों द्वारा जानने की वस्तु है भी नहीं। किन्तु जहां तक शब्दों की पहुँच है वहां तक उसे समझाने का प्रयत्न भी अधिकारी पुरुषों ने किया है।

अहिंसा की साधारण और आरम्भिक व्याख्या यह हो सकती है—'किसीको भी अपने मन, वचन, कर्म द्वारा दुःख न पहुँचाना।' यह साधक की आरम्भिक भावना है। इसके बाद की भावना या अवस्था है प्राणि-मात्र के प्रति सक्रिय प्रेम की लहर मन में दौड़ाना। इससे भी ऊपर की और अन्तिम अवस्था है जगत् के प्रति अभेद-भाव को अनुभव करना। यह सत्य के साक्षात्कार की स्थिति है। यहां अहिंसा और सत्य एक हो जाते हैं। इसलिए कहते हैं कि अहिंसा सत्य के साक्षात्कार का साधन है। जबतक दो का भाव है तबतक अहिंसा साधनरूप में है; जब दो मिटकर एक हो गये तब अहिंसा लोप हो गई और चारों ओर एक सत्य-ही-सत्य रह गया।

पहले कहा जा चुका है कि सृष्टि में दो प्रकार के गुण-धर्म पाये जाते हैं—एक कठोर और दूसरे मृदुल। साहस, तेज, पराक्रम, शौर्य आदि कठोर और दया, क्षमा, सहनशीलता, उदारता आदि मृदुल गुणों के नमूने कहे जा सकते हैं। कठोर गुणों में सत्य का और मृदुल में अहिंसा का भाव अधिक समझना चाहिए। सत्य में प्रखरता और अहिंसा में शीतलता स्वाभाविक है। ये दोनों एक ही सिक्के की दो बाजू की तरह, पुरुष और प्रकृति की जोड़ी की तरह, अभिन्न हैं। दुष्टता और क्रूरता जिस प्रकार सत्य की विकृति हैं, उसी प्रकार दब्बूपन, कायरता, अहिंसा की विकृति है।

तब प्रश्न उठता है कि एक ओर दुष्टता और क्रूरता तथा दूसरी ओर दब्बूपन और डरपोकपन आया कहां से ? और ये भाव उदय भी क्यों हुए ? बुद्धि को तो यही उत्तर देना पड़ता है कि जब सत्य ने ही सारी सृष्टि के रूप में विकास पाया है तब दुष्टता, कायरता आदि भी सत्य में से ही पैदा हुए हैं और किसी-न-किसी रूप में वे सत्य के ही साधक या पोषक होते होंगे। यह मान भी लें कि इन दुर्गुणों से और दोषों से समष्टि या सृष्टि या सत्य का कोई हेतु सिद्ध होता होगा, तो भी उस व्यक्ति के लिए तो ये उस काल में सुखकारी नहीं हो सकते। सत्य और समष्टि के राज्य में, सम्भव है, गुण-दोष की भाषा ही न हो; वहां तो सब कार्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परस्पर पोषक ही होते हों, किन्तु साधारण मनुष्य और साधक के लिए तो गुण-गुण है और दोष-दोष है। सत्य स्वरूप हो जाने पर, सम्भव है, गुण दोषों की पहुँच के वह परे हो जाय, किन्तु तबतक तो गुण-दोष का विवेक रखकर ही उसे आगे बढ़ना होगा। कहने का भाव यह है कि यदि किसीमें दुष्टता, क्रूरता और कायरता या दब्बूपन है तो उसे यह मानकर सन्तोष न करना चाहिए कि आखिर इनसे सृष्टि का कोई-न-कोई हित ही सिद्ध होता होगा—बल्कि यह मानना चाहिए कि मुझे ये सत्य और अहिंसा की तरफ नहीं ले जायँगे। जहां दुष्टता और कायरता है वहां सत्य और अहिंसा की शुद्ध वृत्ति का अभाव ही समझना श्रेयस्कर है। जो सत्यवादी उद्दण्ड हो और अहिंसा-वादी डरपोक हो तो दोनों को पथभ्रष्ट ही समझना चाहिए। उद्दण्डता दूसरों को दबाती है और कायरता उद्दण्डता से डरती है। दूसरों से दबना और दूसरों को दबाना दोनों सत्य और अहिंसा की मर्यादा को तोड़ते हैं। जो मनुष्य चाहते हैं कि हमारा जीवन पूर्ण, स्वतंत्र और सुखी हो एवं दूसरे के सुख, स्वाधीनता और विकास में सहायक हो उन्हें सत्य

और अहिंसा की विकृति से बचकर उनकी शुद्ध साधना के सिवा दूसरा मार्ग ही नहीं है।

यह तो अहिंसा का तात्विक विवेचन हुआ। अब हमें उसके स्थूलरूप, उसके विकास और उसकी मर्यादाओं का भी विचार कर लेना उचित है।

[५]

अहिंसा का स्थूल स्वरूप

'हिंस' धातु से हिंसा शब्द बना है। इसका अर्थ है—मारना, कष्ट पहुँचाना। कष्ट दो तरह से पहुँचाया जा सकता है—एक तो प्राण निकालकर और दूसरे घायल करके। यह तो हुई प्रत्यक्ष हिंसा। अप्रत्यक्ष हिंसा उसे कहते हैं जिससे शरीर को तो किसी प्रकार कष्ट या आघात न पहुँचे; किन्तु मन जख्मी हो जाय। इसे मानसिक हिंसा भी कह सकते हैं। इसी तरह हिंसक की दृष्टि से भी हिंसा दो प्रकार की हो सकती है—एक तो वह जब हिंसक अपने शरीर या शस्त्र के द्वारा हिंसा करे और दूसरा वह जब अपनें मन, बुद्धि के व्यापारों के द्वारा कष्ट पहुँचावे। अहिंसा हिंसा के विपरीत भाव और क्रिया को कहते हैं। अर्थात् किसीके शरीर और मन को अपने शरीर या मन बुद्धि के द्वारा किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है।

हिंसा और अहिंसा मन की वृत्तियां हैं। जब तक कोई भाव मन में ही रहता है तब तक उससे दूसरे को विशेष लाभ-हानि नहीं पहुँचती, सिर्फ अपनेको ही पहुँचती है। यदि मेरे मन में किसीकी हत्या करने का विचार आया तो जब तक मैं प्रत्यक्ष हत्या न कर डालूंगा तब तक उसका भला-बुरा परिणाम मुझ तक ही मर्यादित रहेगा। इसीलिए समाज

या राज्य में कोई अपराध तब माना जाता है जब वह काम या उसका प्रयत्न हो चुकता है। हां, जरूर अपराध में अपराधी की भावना भी अवश्य देखी जाती हैं। यदि कार्य बुरा हो और भावना शुद्ध और ऊँची हो तो उसका दोष कम हो जाता है। अर्थात् एक दृष्टि से केवल भाव या विचार सामाजिक अपराध नहीं है तो दूसरी दृष्टि से भाव का महत्व क्रिया के परिणाम को न्यूनाधिक करने में बहुत है। यद्यपि सामाजिक रूप में क्रिया और प्रयत्न ही अपराध माना गया है तथापि इससे दूषित विचार या भाव का दोष कम नहीं हो जाता है। सिर्फ अन्तर इतना ही है कि उस व्यक्ति पर ही उसका विशेष असर होता है; इसलिए समाज-व्यवस्थापकों ने उसे सामाजिक दृष्टि से विशेष महत्व नहीं दिया है। परन्तु इससे भाव और विचार का असली महत्व कम नहीं हो जाता। भाव से विचार, विचार से प्रयत्न और प्रयत्न से काम बनता है। इसलिए किसी भी कार्य का बीज असल में भाव ही है। यदि कार्य से बचना हो तो ठेठ भाव तक से बचने की चेष्टा करनी होगी। फिर यदि व्यक्ति के मन में दूषित भाव भरा हुआ है तो किसी-न-किसी दिन उससे दूषित कार्य अवश्य हो जायगा और समाज को नुकसान पहुँच जायगा। केवल दूषित भावों और विचारों का भी बुरा असर पड़ता है। वह दूसरों में दूषित भाव और विचार उत्पन्न करता है। इसीलिए बुरे विचारों का समाज में फैलाना भी बुरा समझा गया है। इसके अलावा समाज के व्यक्ति जितने ही निर्दोष, शुद्ध और उच्च विचार और भाव रखते होंगे उतना ही समाज में सुख, स्वातंत्र्य, शान्ति अधिक होगी। स्वयं व्यक्ति तो उससे बहुत ऊँचा हो ही जाता है। इसलिए बुरे भावों तक की रोक व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों दृष्टियों से आवश्यकीय है।

यहां तक तो हमने हिंसा-अहिंसा के सूक्ष्म और स्थूल रूपों का विचार किया। अब यह प्रश्न उठता है कि हिंसा का निषेध क्यों किया जाता है? हिंसा एक त्याज्य दोष क्यों माना गया है? यह सिद्ध है कि सृष्टि अच्छे और बुरे भावों का मिश्रण है। सृष्टि में जब मनुष्य विविध व्यापार करने लगा तो उसे अनुभव होने लगा कि कुछ बातें ऐसी हैं जिससे हानि और दुःख होता है; कुछ ऐसी जिनसे लाभ एवं सुख होता है। यह लाभ और सुख पहुँचानेवाली बातों को अच्छा और हानिं तथा दुख पहुँचानेवाली बातों को बुरा ठहराता गया। आरंभ में उसकी दृष्टि अपने सुख-दुःख और लाभ-हानि तक ही केन्द्रित रही होगी—फिर कुटुम्ब, समाज आदि तक उसकी परिधि बढी है। ज्यों-ज्यों यह परिधि बढती गई त्यों-त्यों अच्छी और बुरी समझी जानेवाली बातों में भी भिन्नता होती गई। शुरू में उसने दूसरों को मारकर या कष्ट पहुँचाकर अपना लाभ कर लेने में बुराई न समझी। होगी उसे यह स्वाभाविक व्यापार मालूम हुआ होगा, पर ज्यों ज्यों उसकी भावनाओं का विकास हुआ और कुटुम्ब तथा समाज के सुख-दुःख उसे अपने ही सुख-दुःख से मालूम होने लगे, त्यों-त्यों उसे अपने सुख, स्वाद, लाभ के लिए दूसरे को कष्ट पहुँचाना अनुचित प्रतीत होनें लगा। उसने यह भी देखा कि स्वेच्छाचार, अत्याचार को यदि बन्द करना है तो 'हिंसा' को बुराई मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार व्यक्तिगत उन्नति और सामाजिक सुव्यवस्था के लिए अहिंसा की उत्पत्ति हुई; किन्तु आरंभ में यह मनुष्य तक ही सीमित रही होगी। फिर उन पशु-पक्षियों तक फैली जिनसे मनुष्य-समाज का लाभ होता था। सिर्फ उन्हीं मनुष्यों या पशुओं की हिंसा क्षम्य या अपरिहार्य समझी गई जिनसे समाज को प्रत्यक्ष हानि पहुँचती है। इस तरह मूलतः हिंसा अच्छी तो कहीं भी—किसी भी

समाज में—नहीं मानी गई है सिर्फ अनिवार्य समझकर कहीं-कहीं उसे मर्यादित रूप में क्षम्य मान लिया गया है।

परन्तु लाभ या हानि, सुख या दुःख से अर्थात् स्वार्थ से बढकर भी एक उच्च भावना अहिंसा की जड़ में समाई हुई मालूम होती है। मनुष्य ने देखा कि यदि मुझे कोई घायल करता है, मेरे किसी आत्मीय को कोई मार डालता है तो मुझे कितना दुःख होता है। वह नहीं चाहता कि उसे ऐसा दुःख कोई दे। तो उसने यह भी अनुभव किया कि दूसरे को भी—पशु-पक्षी कीट-पतंग तक को भी—मारनें या घायल करने से कष्ट पहुँचता है; तो उसकी स्वाभाविक सहानुभूति नें उसे अपने पर से यह लगाना उचित और आवश्यक समझा। इस सहानुभूति या दया की भावना ने उन मनुष्यों और पशु-पक्षियों को भी न मारना, न कष्ट देना उचित समझा, जो मनुष्य-समाज को हानि भी पहुँचाते हों। यदि कष्ट पहुँचाना अनिवार्य हो जाय तो ऐसा ध्यान रक्खा जाय कि वह कम-से-कम हो। यहां आकर अहिंसा एक त्रिकालाबाधित धर्म हो गया। इस सहानुभूति नें ही मनुष्य को एक सत्यता के अनुभव पर पहुँचाया। या यों कहें कि सबमें एक ही आत्मा होने के कारण स्वभावतः मनुष्य में इस सहानुभूति का भी जन्म हुआ है। सबमें एक आत्मा, एक चेतन-प्रवाह है, यह जगत् का परम सत्य है और इसीके अनुसार जीवन बनाते समय अहिंसा की उत्पत्ति हुई। आगे चलकर यह भाव दृढ़ हुआ कि सबमें एक ही आत्म तत्व है तो फिर न कोई किसीका शत्रु है, न कोई किसीको हानि पहुँचाते हैं सब अपनें-अपने कर्मों के अनुसार फल पाते हैं और अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य करते हैं। जो हमें हानि पहुँचाता है, या हमारा शत्रु बनता है, यह उसकी कुबुद्धि या अज्ञान है, इसलिए वह तो और भी सहानुभूति या दया का पात्र है।

जिन महापुरुषों ने इस ऊँची अहिंसावृत्ति की साधना अपने अन्दर की है उनके सामने बड़े-बड़े हिंस्र पशुओं ने हिंसा भाव छोड़ दिया है। इससे दो बातें सिद्ध हुई—एक तो एकात्मभाव और दूसरे उसकी साधना के लिए अहिंसा का प्रभाव।

इस प्रकार यद्यपि अहिंसा की उत्पत्ति स्वार्थ-भाव से हुई परन्तु वह चरम सीमा तक पहुँची दयाभाव के योग से। अब प्रश्न यह रहता है कि एक व्यक्ति तो अपने जीवन में अहिंसा की चरम सीमा तक पहुँच सकता है, परन्तु सारा समाज कैसे पहुँच सकता है? और जबतक सारा समाज न पहुँचे तो किसी-न-किसी रूप में हिंसा अनिवार्य हो जाती है। मामूली जीवन व्यापार में भी कई प्रकार की अनिच्छित हिंसा हो जाती है। तब व्यवहार शात्रियों ने यह व्यवस्था बांधी कि अहिंसा है तो सर्वोच्चवृत्ति, हिंसा है तो सर्वथा त्याज्य, परन्तु यदि खास-खास स्थितियों में वह अपरिहार्य ही हो जाय तो उसे क्षम्य समझना चाहिए—किन्तु उस दशा में भी यह शर्त रखदी कि उस हिंसा में हमारी भावना शुद्ध हो अर्थात् हमारा कोई स्वार्थ उसमें न हो। बल्कि यों कहें कि संकल्प करके यदि कोई हिंसा करनी पड़े तो वह उस हिंसा-पात्र के सुख और हित के ही लिए होनी चाहिए। फिर भी यह दोष तो समझा ही जायगा—इसका दोषत्व हलका करने के लिए हमें उचित है कि हम दूसरी बातों में उसकी विशेष सेवा-सहायता कर दें, जिससे उसको और समाज को हमारी भावना की शुद्धता का परिचय मिले।

इस विवेचन से हम इन परिणामों पर पहुँचे—

(१) किसीको किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है।

(२) यदि मन में हिंसा की भावना न हो और मामूली जीवन-

व्यापार करते हुए किसीको कष्ट पहुँच जाय तो उस हिंसा में कम दोष समझा जाय। जैसे भोजन करने, खेती करने आदि में होनेवाली हिंसा।

(३) यदि किसी दशा में संकल्प करके किसीको कष्ट पहुँचाना पड़े तो यह केवल उसीके हित और सुख की भावना से करने पर क्षम्य समझा जा सकता है। जैसे डाक्टर द्वारा किया जानेवाला आपरेशन। पिछली दोनों अवस्थाओं में दो शर्तें हैं—

(अ) हिंसा की भावना न हो, और

(ब) दूसरी बातों में हिंसा-पात्र की विशेष सेवा-सहायता की जाय।

[६]

शंका समाधान

परन्तु सत्य और अहिंसा के इन श्रेष्ठ सिद्धान्तों पर अनेक तर्क-वितर्क और शंकायें की जाती हैं। उन पर भी यहीं विचार कर लेना उचित होगा। वे इस प्रकार हैं—(१) यदि समाज में हम सत्यवादी और अहिंसक बनकर रहें तो चोर-डाकू हमें लूट न ले जायेंगे? (२) अत्याचारी हमें बरबाद न कर देंगे? (३) दुराचारियों के हाथों समाज और व्यभिचारियों के हाथों बहन-बेटियों की रक्षा कैसे होगी? (४) दूसरे सशस्त्र समाज या देश हमें निगल न जायेंगे? (५) फिर इनका पालन है भी कितना कठिन? यह तो योगी-यतियों और साधु-सन्तों के किये ही हो सकता है। झूठ बोले और डर बताये बिना तो समाज में एक मिनट काम नहीं चल सकता। (६) फिर अबतक इतिहास में किसी ऐसे समाज या देश का उदाहरण भी तो नहीं मिलता कि जहां सत्य और अहिंसा मनुष्य का दैनिक जीवन बन गया हो। (७) मनुष्य के

आदिम काल में भी तो गण-तंत्र और प्रजातंत्र थे—पर क्या वहां सत्य और अहिंसा का ही साम्राज्य था ? (८) जिन ऋषि-मुनियों ने या विचारकों अथवा दार्शनिकों ने इन तत्वों को खोज निकाला है उन्हींके ज़माने में ऐसे समाज के अस्तित्व का पता नहीं मिलता—फिर अब इस विज्ञान और बुद्धिवाद के युग में, इन बातों का राग आलापने से क्या फ़ायदा ? (९) बुद्ध, महावीर और ईसामसीह तो सत्य और अहिंसा के के महान् प्रचारक और हामी हुए न ? क्या वे संसार को सत्य और अहिंसामय बना गये ? बल्कि इसके विपरीत यह देखा जाता है कि बौद्ध और ईसाई आज सबसे बड़े हिंसक साधनों को अपनाये हुए हैं और जैन बुजदिल बने बैठे हैं !! (१०) हिंसा तो जब प्रकृति में भरी हुई है, जब खुद ईश्वर का ही एक रूप हिंसा-प्रधान है, तब मनुष्य में से उसे हटाने का प्रयत्न कैसे सफल हो सकता है और इस प्रकार प्रकृति और ईश्वर के विरुद्ध चलने की आवश्यकता भी क्या है ? (११) यदि लेनिन अहिंसा का नाम जपता रहता तो क्या आज बोलशेविक क्रान्ति द्वारा वह संसार को चकित कर सकता था ? (१२) क्या अशोक ने अहिंसा की दुहाइयां देने और ढिंडोरा पिटवाने का प्रयत्न नहीं किया ? तो क्या लोग अहिंसक और सज्जन बन गये ? दुर्जनों का अन्त आ गया और वे सुधर गये ? (१३) और यदि एक समाज अथवा राष्ट्र निशस्त्र रहने या नीतिमान् बनने का बीड़ा भी उठा ले तो जबतक दूसरे सभी समाज और राष्ट्र इन बातों को न अपनायें तबतक अकेले के बल पर काम कैसे चल सकता है ? उसकी सिधाई, भलमनसाहत और निःशस्त्रता का लाभ उठाकर दूसरे समाज और राष्ट्र उसे डकार न जायँगे ? (१४) क्या युधिष्ठिर तक को प्रसंग पड़नें पर झूठ नहीं बोलना पड़ा ? राम और कृष्ण नें दुष्टों का दलन करने के लिए हथियार नहीं उठाये ? क्या

कृष्ण ने असत्य और कपट का आश्रय नहीं लिया ? गीता के रचयिता से बढ़कर तुम अपनेंको ज्ञानी और होशियार समझते हो ? (१५) समाज का लाभ मुख्य है। जिस किसी साधन से वह सिद्ध हो वही हमारे अपनाने लायक है। हम साधन को उद्देश से बढ़कर नहीं मानना चाहते। उद्देश को भूलकर वा समाज-हित को बेचकर हम किसी तरह सत्य और अहिंसा पर चिपके रहना नहीं चाहते। यह अन्ध-श्रद्धा है और हम इसके कट्टर विरोधी हैं। (१६) हम बुद्धिवादी और विज्ञानवादी हैं; जब जैसा मौका देखते हैं काम करते हैं। उन्हीं बातों को मानते हैं, जिनका कारण, हेतु और लाभ समझ में आ जाय। अन्धे की तरह जिन्दगीभर एक ही दवा पीने के लिए, एक ही सड़क पर चलने के लिए हम तैयार नहीं। (१७) कौन कह सकता है कि कपट का आश्रय लेने वाले या शस्त्र बांधनेवाले उपकारी, आदर्शवादी या देशभक्त नहीं थे ? शिवाजी, प्रताप, क्या देश-सेवक न थे ? लेनिन क्या रूस की जनता का महान् उद्धारक नहीं साबित हुआ है ? (१८) अत्यन्त सत्य का पालन करनेवाला व्यवहार में भोंदू और बुद्धू ठहरता है और अत्यन्त अहिंसा का पालक कायर और निर्वीर्य। दूसरे उसे ठगकर ले जाते हैं, बेवकूफ बना जाते हैं, डरा-धमकाकर अपना मतलब साध लेते हैं और वह सत्य और अहिंसा का पल्ला पकड़े रहकर रोता बैठता है। आदि आदि।

इनका समाधान इस प्रकार है—

(१) सत्यवादी और अहिंसक बनने का परिणाम तो उलटा यह होगा कि चोर-डाकू भले आदमी बनने की कोशिश करेंगे। क्योंकि सत्य और अहिंसा का प्रेमी इस बात की खोज करेगा और उसका असली उपाय ढूंढ निकालेगा कि समाज में चोर-डाकू पैदा ही क्यों होते हैं ? शारीरिक आवश्यकताओं की और मन के अच्छे संस्कारों की कमी ही

चोर-डाकुओं की जननी है। अतएव सत्यवादी और अहिंसक या यों कहें कि एक सत्याग्रही या सच्चा स्वतंत्र मनुष्य समाज के उस ढांचे को ही, उस नियम को ही बदल देगा, जिससे आज, औरों के मुकाबले में, शारीरिक आवश्यकतायें पूर्ण नहीं होती हैं। फिर वह सत्-शिक्षा और सत्-संस्कारों के प्रचार में अपनी शक्ति लगावेगा, जिससे उनका विवेक-बल जाग्रत होगा और वे रफ्ता-रफ्ता हमारे ही सदृश भले आदमी बनकर चोर-डाकू बनना अपने लिए अपमान, शर्म और निन्दा की बात समझेंगे। समाज में आज भी यदि बहुतांश लोग चोर-डाकू नहीं हैं तो इसका कारण यही है कि उनके लिए शारीरिक आवश्यकताओं और मानसिक विकास की पूर्ति के सब दरवाजे खुले हैं। इसी तरह इन दो बातों की सुविधा होने पर वे भी अपनी बुराई क्यों न छोड़ देंगे ?

पर हां, जबतक उनका सुधार नहीं हो जाता तबतक उनके उपद्रवों का डर रह सकता है। हमारी अपनी सरकार होते ही ५ साल के अन्दर ऐसी स्थिति पैदा की जा सकती है कि सरकार के तथा खानगी प्रयत्नों से उनके खाने-पीने आदि का सुप्रबन्ध हो जाय और उनके मन पर भी इतने संस्कार डाले जा सकते हैं, जिससे वे इस बुराई को छोड़ दें। अपनी सरकार होते ही सत्याग्रही का यह कर्तव्य होगा कि एक ओर तो वह सरकार पर प्रभाव डाले कि वह समाज-रचना के विषयों में आवश्यक सुधार करे और दूसरे स्वतः भी अपनी शक्ति उनके मानसिक विकास और आचारिक सुधार में लगावे। उनके सुधार होने तक यदि सशस्त्र पुलिस और जेल आदि रख भी लिए जावें तो हर्ज नहीं हैं। हां, ये होंगी कम से कम बल-प्रयोग करनेवाली। पुलिस का काम रक्षा करना और जेल का काम सुधार करना होगा। फिर यदि समाज में अधिकांश लोग सत्याग्रही-वृत्ति के होंगे तो अव्वल तो उनके पास इतना धन-दौलत ही न होगा

जो चोर-डाकू उन्हें लूटने के लिए उत्साहित हों, दूसरे जिनके पास होगा भी और वे लूटे भी जायंगे तो उनकी अहिंसा-वृत्ति उनसे बदला लेने की कोशिश न करेगी। या तो वे खुद ही आगे होकर, यह समझ कर कि ये पेट के लिए बुराई करते हैं, अपने पास से उन्हें आवश्यक सामग्री दे देंगे, या उनके बलपूर्वक ले जाने पर वे उन्हें सजा दिलाना न चाहेंगे, उलटा उनके सुधार और सेवा का उद्योग करेंगे, जिसका कुदरती असर यह होगा कि वे शर्मिन्दा होंगे, अपनी बुराई पर पछतावेंगे और उसे छोड़ने का उद्योग करेंगे।

फिर अहिंसकों के मुकाबले में हिंसकों को ही उनसे तथा अत्याचारियों से हानि पहुँचने का अधिक डर रहेगा, क्योंकि वे अपनी प्रतिहिंसा के द्वारा उनके बुरे और हिंसक भावों को बढ़ाते और दृढ़ करते रहते हैं। इसके विपरीत अहिंसक उनकी बुराई और हिंसा का बदला भलाई और प्रेम तथा सेवा के द्वारा चुकावेगा, जिससे वे उसके मित्र बनेंगे और अपना सुधार करेंगे। इसका एक यह भी सुफल होगा कि अहिंसक लोगों की वृत्ति का सुफल देखकर हिंसक भी अहिंसक बननें का प्रयत्न करेंगे, जिससे चोर-डाकओं एवं अत्याचारियों की जड़ और भी खोखली हो जायगी। जब हम जेल को सुधार-गृह बना कर, जगह-जगह और खासकर ऐसे ही उपद्रवी लोगों में पाठशालायें खोलकर, मौखिक उपदेश, साहित्य और अखबार तथा अपने सदाचरण के उदाहरण के द्वारा एवं समाज के ढांचे में परिवर्तन करके सारा वातावरण ही बदल देंगे तो फिर चोर-डाकूओं और अत्याचारियों के उपद्रवों की शंका रह ही कैसे सकती है ? आज तो हम उनके रोगों का असली इलाज कर नहीं रहे हैं—अपनी स्वार्थी और हिंसक प्रवृत्तियों द्वारा उलटा उनको बढ़ावा ही दे रहे हैं और फिर उनका डर बताकर अपनेको सज्जन और सत्याग्रही बनाने से हिचकते हैं। यह उलटी गंगा नहीं तो क्या है ?

(२), (३), (४) चोर और डाकुओं के बाद अत्यचारियों में उन्हीं लोगों की गणना हो सकती है जो या तो समाज में किसी तरह, जोरो-जब्र से, सत्ता को हथियाना चाहते हैं, या किसीकी बहन-बेटी पर बालत्कार करना चाहते हैं। सत्ताभिलाषी स्वदेश के कुछ व्यक्ति या समूह तथा पड़ौस के विदेशी लोग या राष्ट्र दोनों हो सकते हैं। स्वदेश के लोग दो प्रकार के होंगे जो सत्ता को हथियाना चाहेंगे—एक तो वे जो समाज और सरकार में अपनी पूछ कम हो जाने के कारण या सत्ता छिन जाने के कारण उससे असन्तुष्ट होंगे और दूसरे वे जो तत्कालीन सत्ता या सरकार को काफी अच्छा न समझते होंगे। पहले प्रकार के लोग विदेशी राष्ट्रों से सांठ-गांठ करके भी उपद्रव मचा सकते हैं और पड़ौसी राष्ट्रों को आक्रमण के लिए बुला सकते हैं। परन्तु अव्वल तो इतने बड़े बलशाली और प्रभुताशाली ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लेनेवाले लोग और उनकी बनी सरकार* इतनी कमजोर, अ-कुशल और अप्रिय न होगी कि स्वदेश के उपद्रवी लोगों का इलाज शान्तिपूर्वक न कर सके और यदि थोड़े समय के लिए उसे बल-प्रयोग की आवश्यकता हुई भी तो वह उससे पीछे न हटेगी। वह उन लोगों के भी सुख-सुविधा, सन्तोष आदि का इतना ध्यान रक्खेगी और उनके अन्दर ऐसा संस्कार डालने का प्रयत्न करेगी जिससे उनके असन्तोष की जड़ ही कट जाय। पड़ौसी राष्ट्रों से वह सन्धि कर लेगी, उन्हें निर्भयता का आश्वासन देकर उनसे मित्रभाव रक्खेगी और समय पड़ने पर बन्धुभाव से उनकी सहायता भी करेगी।

***सत्य और अहिंसा का प्रयोग चूंकि संसार के इतिहास में सामाजिक और राष्ट्रीय रूप में पहली ही बार भारतवर्ष में हो रहा है, इसलिए प्रधानतः उसीको ध्यान में रखकर इन अध्यायों की रचना की गई है।**

—लेखक

उनकी विपत्तियों में वह मित्र का काम देगी, तो फिर वे व्यर्थ ही क्यों हम पर आक्रमण करने लगेंगे ? फिर आज-कल यों भी अपने-अपने देश में स्वतंत्र और सन्तुष्ट रहने की मनोवृत्ति प्रत्येक राष्ट्र में प्रबल हो रही है। ऐसी दशा में यह आशंका रखना व्यर्थ है, और इतना करते हुए भी जबतक उनसे ऐसे किसी प्रकार के हमले की संभावना है तबतक राष्ट्रीय रक्षक सेना भी, अपवाद के तौर पर, रक्खी जा सकती है। सत्याग्रही सरकार तो एक विशेष लक्ष्य को लेकर, अपने आदर्शों की प्रचारिका बन कर स्थापित होगी; अतएव उसका प्रयत्न तो केवल पड़ौसी राष्ट्रों को ही नहीं, बल्कि सारे भू-मण्डल को अपने प्रचार के प्रभाव में लाना होगा। और चूंकि उसका मूलाधार हिंसा, प्रतिहिंसा, लूट आदि न होंगे, इसलिए दूसरे राष्ट्र उसके प्रति सिवा मित्रभाव के और भाव रख ही न सकेंगे।

अब रह गई, दुराचारियों और बहन-बेटियों पर बलात्कार करनेवालों की बात। सो अव्वल तो सत्याग्रही अर्थात् सज्जन समाज में यों ही नीति और सदाचार का बोलबाला होगा, जिससे ऐसे दुष्टों के दुराचार और बलात्कार का हौंसला बहुत कम हो जायगा। और आज भी बलात्कार के उदाहरण तो इनेगिने ही होते हैं। छिपे या प्रकट दुराचार का कारण तो है गुलामी और सन्नीति-प्रचार की कमी। सो अपनी सरकार होते ही गुलामी तो चली ही जायगी और नीति तथा सदाचार के प्रचार और उदाहरण से इन बुराइयों को निर्मूल करना कठिन न होगा। यदि वातावरण और लोकमत इन बुराइयों के खिलाफ रहा और सरकार ने समाज में सदाचार को सर्वप्रथम स्थान दिया तो कोई कारण नहीं कि ये बुराइयां समाज में रहने पावें।

अक़्सर यह भी पूछा जाता है कि बलात्कारियों और अत्याचारियों से साबका पड़ने पर झूठ बोलकर या बल-प्रयोग करके काम चलाये

बिना कैसे रह सकते हैं ? यदि झूठ बोलने से किसीकी जान बचती हो, एक छोटी या थोड़ी हिंसा करने से बड़ी और अधिक हिंसा से समाज बच जाता हो, तो उनका अवलम्बन क्यों न किया जाय ? सो अव्वल तो ऐसे बलात्कारियों और अत्याचारियों के उदाहरण समाज में इने-गिनें होते हैं । मैंने अपने कितने ही मित्रों से यह सवाल पूछा है कि आपके सारे जीवन में कितने ऐसे प्रसंग आये हैं, जब एक अत्याचारी तलवार या पिस्तौल लेकर आपके सामने खड़ा हो गया है और आपको झूठ बोलकर जान बचानी पड़ी हो, या कोई बलात्कारी आपकी आंखों के सामनें तलवार के बल किसी स्त्री पर बलात्कार करने पर उतारू हुआ हो और आपके सामने झूठ बोलनें या उसे मार डालने की समस्या पैदा हुई हो ? प्रत्येक पाठक यदि इस प्रश्न का उत्तर दे तो वह सहज ही इस नतीजे पर पहुँच जायगा कि ऐसी दुर्घटनायें आज भी समाज में इक्की-दुक्की, अपवाद-रूप ही, होती हैं । चोर-डाकू, दुराचारी और बलात्कारी का दिल खुद ही इतना कमजोर होता है कि किसीकी आहट पाते ही, जरा भी भय की आशंका होते ही, उनके पैर छूटने लगते हैं । ऐसी दशा में अपवाद-रूप उदाहरणों को इतना महत्व देकर समाज-व्यवस्था के मूल-भूत नियमों और सिद्धान्तों का महत्व कम करना, या उनको गौण-रूप देना किसी प्रकार उचित नहीं है । दूसरे यदि मनुष्य सचमुच सत्याग्रही, या पूरे अर्थ में सज्जन है, तो उसकी उपस्थिति का नैतिक प्रभाव, जो भी उसके साथ या सामने हो, उस पर पड़े बिना नहीं रह सकता । यदि कहीं इने-गिने अवसर जीवन में ऐसे आते भी हैं कि मनुष्य सत्य और अहिंसा का पालन करते हुए बड़े धर्म संकट मे पड़ता है, तो उसे सजग और दृढ़ रहकर अपने नियम पर डटे रहना चाहिए । वास्तविक सत्य और अहिंसा का प्रभाव तो कभी

विफल हो ही नहीं सकता; किन्तु, यदि मान भी लें कि इनका अवलंबन करने से ऐसे समय में कुछ हानि, किसीकी गिरफ्तारी, वध, सतीत्व-हरण, आदि न भी बच सके, तो वह उतना बुरा नहीं है, जितना झूठ या हिंसा का आश्रय लेकर ऐसे किसी प्रसंग पर तात्कालिक लाभ या बचाव कर लेना। मनुष्य के किसी भी कार्य का असर अकेले उसीपर नहीं होता। उसकी जिम्मेवारी जितनी अधिक होती है उतना ही उसका असर बढ़ता जाता है। उसे सदा इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि मुझसे कोई काम ऐसा न बन पड़े, जिसकी मिसाल लेकर दूसरे भी वैसा ही करने लगें। यदि एक सत्य या अहिंसावादी, आनबान के और परीक्षा के ऐसे अवसरों पर ही, अपने नियम से डिगने लगे तो उसकी सच्चाई और दृढ़ता ही क्या रही ? यों तो आम तौर पर हर आदमी, जबतक कोई भारी दिक्कत नहीं आती, या कोई धर्म-संकट नहीं उपस्थित होता, तबतक नियमों का पालन करता ही है; आजमाइश का मौका तो उसके लिए ऐसे अपवादों और असमंजसताओं के समय ही होता है और उन्हींमें यदि वह कच्चा उतरा तो फिर वह बेपेंदी का लोटा ही ठहरेगा। जहां खतरे का या दृढ़ता का अवसर है वहां यदि वह दुम दबानें लगा, या डगमगाने लगा, तो फिर उसकी सच्चाई पर कौन विश्वास करेगा ? यदि वह सचमुच सत्य और अहिंसा का कायल है, तो ऐसे प्रसंगों पर अव्वल तो आततायियों को समझाने और उनके दिल तथा धर्म को जाग्रत करने—अपील करने—का अवसर थोड़ा-बहुत जरूर रहता है। यदि इसमें वह विफल हुआ, या इसके लिए अवसर नहीं है, तो वह बजाय इसके कि खामोश देखता हुआ या भागकर अथवा छिपकर आततायी का मनोरथ पूरा होनें दे, उसके और मजलूम के बीच में पड़ जायगा और अपनी जान में जान है तब

तक उसे अत्याचार या बलात्कार न करने देगा। एक बलात्कारी की क्या हिम्मत कि वह उसके प्राण लेकर भी बलात्कार पर आमादा रहे ? चोर-डाकुओं को उनकी इच्छित चीजें या तो खुद आगे होकर दी जा सकती हैं, या उनकी रक्षा में अपने प्राणों की आहुति दी जा सकती है। यदि हम सचमुच प्राणों को हथेली पर लिये फिरते हैं तो हमारे इस बलिदान का नैतिक असर या तो उसी समय या कुछ समय बाद खुद उन्हीं आततायियों पर और उनके दूसरे लोगों पर भी पड़े बिना न रहेगा। समाज के सामने भी हम नियम-पालन, निर्भयता और बलिदान की मिसाल पेश करेंगे, जिसका नैतिक मूल्य उसके लिए भी बहुतेरा होगा। आततायियों की आत्मा जाग्रत होगी, समाज में निर्भयता और बलिदान के लिए दृढ़ता आवेगी। पर यदि झूठ बोलकर ऐसी अवस्था में काम चलाया जाय तो मेरी राय में वह सिवा कायरता के और कुछ नहीं हैं। ऐसे अवसर पर भाग जाना और झूठ बोलना बराबर है। भाग जाना शारीरिक क्रिया है और झूठ बोलना मानसिक—इसलिए वह अधिक बुरा है। भाग जाने, या झूठ बोलनेवाले की अपेक्षा तो आततायी को मार डालनेवाला ज्यादा बहादुर है—लेकिन बिना हाथ उठाये, उनके अज्ञान और आवेग पर दया खाकर, अपनी आहुति दे देनेंवाला सब तरह श्रेष्ठ, वीर, आदरणीय और अनुकरणीय होता है। अहिंसक में एक नंबर की बहादुरी होती है। वह खतरे से नहीं घबराता, दूसरे की रक्षा, सहायता के लिए जीवन का कुछ मूल्य नहीं समझता, मृत्यु उसके सामने एक भय नहीं बल्कि एक सखी होती है और जिसे मृत्यु का अथवा और संकटों एवं आपत्तियों का भय नहीं है उसके सामने अत्याचारियों और बलात्कारियों के सामने कायरता दिखाने का मौका और प्रश्न ही क्या है ?

(५) यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जो बात बहुत सीधी, सरल, सुसाध्य और स्वाभाविक है वह कठिन समझी जाय। क्या सच बोलने और सच कहने से ज्यादा आसान झूठ बोलना और उसे निबाहना है ? एक झूठ को छिपाने या मजबूत बनाने के लिए आदमी को और कितना झूठ बोलना पड़ता है, कितनी उलझनों और परेशानियों में पड़ना पड़ता है और अन्त को पोल खुलने पर उसे कितना बदनाम होना पड़ता है— अपनी सारी साख खो देनी पड़ती है। क्या इससे अधिक कठिन और हानिकर सच का बोलना और करना है ? क्या किसीके साथ प्रेम करना, दया दिखाना, माफ कर देना ज्यादा मुश्किल है, बनिस्बत उससे घृणा या द्वेष करने या मार-पीट करने और मार डालने के ? जरा दोनों क्रियाओं के परिणामों पर तो गौर कीजिए ! हमारे मन पर प्रेम, सचाई, क्षमा, सहयोग, उदारता, उपकार के संस्कार अधिक होते हैं या असत्य और हिंसा, घृणा, द्वेष आदि दुर्विकारों के ? खुद अपने, कुटुम्ब के तथा समाज के और पशु-पक्षी के भी जीवन को बारीकी से हम देखेंगे तो हमको पता चलेगा कि पहले प्रकार के संस्कार अधिक हैं और इसीलिए यह समाज एवं संसार टिका हुआ है। तो फिर मनुष्य के लिए अधिक सरल, सुसाध्य और स्वाभाविक बात क्या होनी चाहिए—सत्य और अहिंसा का पालन या असत्य और हिंसा का ? जिसके परिणामों का स्वागत करने के लिए लोग उत्सुक रहते हैं वह, या जिसका विरोध और प्रतिरोध करने पर तुले रहते हैं वह ?

भला कोई बतावे तो कि योगी-यति कहे जानेवालों और सांसारिक पुरुष कहे जानेवालों के जीवन-नियमों में फर्क क्या है ? क्या सांसारिक मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्रता का उपासक नहीं है ? यदि है तो वह सत्य और अहिंसा की अवहेलना कैसे कर सकता है ? योगी-यति या साधु-सन्त तो

हम उन लोगों को कहते हैं, जिनकी रग-रग में ये दोनों बातें भर गई हैं। ऐसी दशा में तो जिन लोगों को सच्चा स्वतंत्र, पूरा मनुष्य हमें कहना चाहिए और जिनके जीवित आदर्शों को देख-देख हमें अपना जीवन स्वतंत्र और सुखी बनाना चाहिए, उनकी हम मखौल उड़ाकर स्वतंत्रता के पाये को ही ढीला कर डालना चाहते हैं ! जो मन, कर्म और वचन से जीवन के अच्छे नियमों का पालन करता है वही योगी-यति और साधु-सन्त है । किसी गृहस्थ या सांसारिक समझे जानेवाले व्यक्ति के लिए मन-कर्म-वचन से सच्चा होना क्यों मुश्किल, मुजिर और बुरा होना चाहिए यह समझ में नहीं आता । झूठ बोल देने, या मारपीट कर देने से थोड़े समय के लिए काम बनता हुआ भले ही दिखाई दे; पर आगे चलकर और अन्त को उसकी साख उठे बिना एवं उसपर प्रतिहिंसा का आक्रमण हुए बिना न रहेगा, जिसकी हानि सत्य और अहिंसा का पालन करने में दिखाई देने वाली कठिनाइयों से कहीं बढ़कर होगी । सत्य और अहिंसा का पालन करने के लिए तो सिर्फ स्वतंत्रता के प्यार की, हृदय को सच्चा और सरस बनाने की आवश्यकता है । क्या यह बुरी और कठिन बात है ? मनुष्य का यह सबसे बड़ा भ्रम है कि झूठ बोले बिना संसार में एक मिनिट काम नहीं चलता । जैसे हम होंगे वैसा ही समाज बनायेंगे । यदि आज समाज गिरा हुआ है, पिछड़ा हुआ है, उसमें झूठ पाखण्ड और हिंसा का बोलबाला है और यदि हम सच्चे मनुष्य और स्वतंत्रता के प्यासे हैं, तो हमारे लिए अधिक आवश्यक है कि हम दृढ़ता और उत्साह से इन नियमों का पालन और प्रचार करके समाज को सुधारें । गंदे, गिरे और पिछड़े समाज में यदि ये बातें कठिन, हानिकर और भयंकर प्रतीत होती हैं तो स्वच्छ, उठे और आगे बढ़े समाज में क्यों होने लगीं ? और यदि अच्छी, हितकर बातें कठिन हों, महँगी भी हों, तो भी वे प्राप्त करने

और रखने योग्य हैं; तथा बुरी बातें यदि आसान और सस्ती भी हों तो भी छोड़ने और फेंक देनें योग्य हैं। अच्छी बातें शुरू में कठिन होनेपर भी आगे चलकर आसान हो जाती हैं और बुरी बातें शुरू में आसान होने पर भी अन्त में उलझन और परेशानी में डाल देती हैं—यह किसे अनुभव नहीं होता है ? संसार में शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो, जिसनें सत्य के बजाय झूठ को और प्रेम के बजाय द्वेष को अपने जीवन का धर्म माना हो और जो सदा-सर्वदा झूठ ही बोलकर, गालियां ही देकर या मारपीट कर ही जीवन-यापन करता हो। यदि यह ठीक है, और झूठ या भय-प्रयोग अर्थात हिंसा मनुष्य की कमजोरी के साथ थोड़ी रियायत-मात्र है, केवल अपवाद है, तो फिर यह कहना कहां तक ठीक है कि झूठ और धमकी के बिना संसार का काम चल ही नहीं सकता। आज जो झूठ और भय-प्रयोग दिखाई दे रहा है या उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है उसका कारण यही है कि हम अपनी कमजोरियों से बिल्कुल ऊपर उठने का सतत प्रयत्न नहीं करते हैं, रियायतों से लाभ उठानें और सुविधायें भोगने का आदी हमने अपने को बना रक्खा है, अपनी वर्तमान नर-पशुता को ही हमने मनुष्यता समझ रक्खा है। मनुष्य ने अभी तक सामूहिक रूप से सच्ची मनुष्यता, या सामाजिकता के पूरे दर्शन नहीं किये है, और जिस हद तक किये हैं, उनका पालन करने में वह सदा ही एक-से उत्साह से अग्रसर नहीं रहा है। इसपर यह कहा जा सकता है कि यह सृष्टि तो ऐसी ही चली आ रही है, और चलती रहेगी—मनुष्य और समाज को पूर्ण और आदर्श बनाने की उछल-कूद चार दिन की चांदनी से अधिक नहीं रह सकती तो इसका उत्तर यह है कि फिर मनुष्य में बुद्धि और पुरुषार्थ नामक जो महान् गुण और शक्तियां हम देखते हैं उनका क्या उपयोग ? यह तो काहिली और अकर्मण्यता की दलील प्रतीत होती है।

(६) इतिहास में ऐसे व्यक्तियों के तो उदाहरण जरूर मिलते हैं, जिनकी मानवी उच्चता, श्रेष्ठता और भव्यता को लोग मान रहे हैं। बहुत दूर के ऋषि-मुनियों को जाने दीजिए—ऐतिहासिक काल के बुद्ध, महावीर, ईसा, सेंट फ्रांसिस ऑफ एसिसि, तुकाराम, रूसो, टॉल्सटॉय, थोरो और वर्तमान काल के रोमारोलां तथा महात्मा गांधी के ही नाम इसके लिए काफी हैं। इतिहास में यदि किसी अहिंसा और सत्य के पुजारी देश या समाज का उदाहरण नहीं मिलता तो क्या इससे यह सिद्ध हो सकता है कि इतिहास का बनना अब खतम हो चुका? क्या हम आगे कोई नया इतिहास नहीं रच सकते? मेरा तो खयाल है कि भारतवर्ष इस समय एक नये और भव्य इतिहास की नींव डाल रहा है। १० साल पहले जिस अहिंसा का मजाक उड़ाया जाता था और अहिंसा की दुहाई देनेवाला जो गांधी पागल और हवाई किले बनानेवाला समझा जाता था उसी अहिंसा के बल और संगठन की प्रशंसा आज सारे जगत् में हो रही है और वही गांधी आज महान् जागृति का नेता बन रहा है—हालांकि अभी तो यह शुरुआत-मात्र है। जब हम अपनी आंखों के सामने अहिंसा और सत्य के बल को फैलते और अपना चमत्कार बताते हुए देख रहे हैं तब इतिहास के खण्डहरों को खोदनें की क्या जरूरत है?

(७) आदिम-कालीन गणतंत्रों और प्रजातंत्रों के टूटकर उनकी जगह बड़े-बड़े एकतंत्री साम्राज्यों के बनने का कारण यह है कि उनमें अहिंसा और सत्य का प्रचार नहीं था। जो-कुछ था वह यही कि छोटी-छोटी जातियां अपनी-अपनी पंचायतें बनाकर अपना मुखिया चुन लेती थीं और अपना काम-काज चला लिया करती थीं। अपने मुखिया के अतिरिक्त और किसीका शासन वे न मानती थीं। उनकी स्वतंत्रता का अर्थ था—पंचायत के अधीन रहना। उनमें अपनी इच्छा के खिलाफ

दूसरे से न दबने का तो भाव था; पर जातीयता या सामाजिकता को अक्षुण्ण रखने के लिए परम आवश्यक सत्य और अहिंसा की कमी थी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का न्याय प्रचलित था। लोग आपस में लड़ते-झगड़ते थे, और न्याय के लिए पंचायतों में उन्हें आना पड़ता था। नीति और सभ्यता उनमें थी तो; पर वह ज्ञानपूर्वक उतनी नहीं थी, जितनी परम्परागत थी। फिर भी उस समय की और अब की नीति और सभ्यता की परिभाषा में भी कितना अन्तर है! उन गणतंत्रों का टूट जाना और उनकी जगह महान् साम्राज्यों का स्थापित होना उलटा इसी बात को सिद्ध करता है कि उनमें सत्य और अहिंसा की कितनी आवश्यकता थी।

(८) भारतीय ऋषि-मुनियों के समय में सत्य और अहिंसा को सामाजिक रूप प्राप्त करने का अवसर इसलिए नहीं मिला कि उस समय में ससाज के पूर्ण परिणत रूप की कल्पना के इतने स्पष्ट दर्शन नहीं हुए थे। उनके काल में यद्यपि नीति का प्रचार था, राजा या मुखिया लोग भी जनता का हित-साधन करते थे; फिर भी शस्त्र, सेना आदि सामाजिक आवश्यकतायें समझी जाती थीं। और यह निर्विवाद है कि जब तक समाज से झूठ और तलवार का पूर्ण बहिष्कार नहीं हो जाता, तब तक वह पूर्ण स्वाधीन किसी भी दशा में नहीं हो सकता।

मेरी समझ में नहीं आता कि विज्ञान और बुद्धिवाद सत्य और अहिंसा के विरोधक कैसे हो सकते हैं? सत्य की शोध तो विज्ञान का और सत्य का निर्णय बुद्धि का मुख्य कार्य ही ठहरा। विज्ञान और बद्धिवाद का अर्थ यदि उपयोगितावाद लिया जाय तो सत्य और अहिंसा समाज के लिए महान् उपयोगी और कल्याणकारी साबित हुए बिना न रहेंगे—और अपवादरूप परिस्थितियों को साधारण स्थिति से भी

अधिक महत्व देना न तो विज्ञान के अनुकूल होगा न बुद्धिवाद के। वैद्य रोगी की हालत देखकर दवा, पथ्य अनुपान बतलाता है; पर बुखार में हैजे की दवा नहीं देता, और हृदयरोग को दूर कर देने के लिए धड़कन बन्द कर देनेवाली दवा नहीं देता। सत्य और अहिंसा सामाजिक रोगों की छोटी-बड़ी औषध नहीं हैं; बल्कि समाज की नींव है, जिनको हिलाकर समाज की रक्षा करना और उसे स्वाधीन बनाने का खयाल तक करना व्यर्थ है।

(९) बुद्ध, महावीर और ईसा ने जरूर सत्य और अहिंसा के जबरदस्त उपदेशों द्वारा मनुष्यजाति को बहुत आगे बढ़ाया है। इतिहास और मानव-विकास के अवलोकन कर्त्ता इस बात से किसी प्रकार इन्कार नहीं कर सकते। अपने पैदा होने के समय की अपेक्षा उन्होंने मानव-समाज को उन्नति के पथ में अग्रसर होने के लिए बहुत जोर का धक्का दिया है। पीछे उनके अनुयायियों ने यद्यपि उनकी शत्शिक्षाओं का दुरुपयोग किया है, जिसके फलस्वरूप वे नीचे गिर गये हैं; पर उनकी शिक्षाओं और प्रेणाओं से आज भी समाज लाभ उठा रहा है। वे साहित्य और समाज में फैल गई हैं। यदि इतिहास में से बुद्ध, महावीर, ईसा को और मानव-जीवन में से उनकी सत्शिक्षाओं को निकाल दीजिए तो तुरन्त मालूम हो जायगा कि जगत् और मानव-जीवन कितना दरिद्र और दुःखी रह गया होगा। मनुष्य में अभी तक जो कमजोरियां, फिसल पड़ने और दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति बची हुई हैं उनका यह परिणाम है। अतएव इससे यह नतीजा नहीं निकला कि बुद्ध आदि अपने कार्य में विफल हुए, बल्कि यह कि मनुष्य को अभी दृढ़ता और निःस्वार्थता की साधना बहुत करना बाकी है। उसे इसमें सचेष्ट रहने की जरूरत है।

(१०) प्रकृति में यदि हिंसा दीख पड़ती है और ईश्वर भी प्रसंगोपात्त हिंसा करता है तो इससे यह नतीजा हर्गिज नहीं निकलता कि मनुष्य भी हिंसा अवश्य करे। देखना यह चाहिए कि प्रकृति और ईश्वर ने मनुष्य को किस उद्देश से बनया है। यदि उन्होंने उसके अन्दर स्वाधीनता के भाव पैदा किये हैं, साथ ही सामाजिकता भी कूटकर भर दी है एवं पुरुषार्थ और बुद्धि नामक दो शक्तियां उसे दी हैं, फिर सरसता और स्नेह से भी उसे परिप्लुत किया है, तो फिर वह इन गुणों और शक्तियों का उपयोग क्यों न करेगा ? प्रकृति और ईश्वर ने तो सृष्टि रच दी और उनके रहने और मिटने के नियम बना दिये। उनकी सृष्टि में अबतक मनुष्य से बढ़कर किसी जीव का पता नहीं लगा है। अतएव वह अपने से हीन जीवों का अनुकरण नहीं कर सकता। वह प्रकृति और ईश्वर की रचना में श्रेष्ठता, उच्चता, भव्यता का नमूना है और उसे यह सिद्ध करना होगा। फिर प्रकृति और ईश्वर से बढ़कर या उनके समान तो मनुष्य है नहीं, जो हर बात में इनकी बराबरी का दावा करे। यदि वह इनकी रचना है तो वह हर बात में इनके समान हो भी कैसे सकता है ? यदि वह इनसे बड़ा और श्रेष्ठ है तो इनके हीन गुणों का अनुकरण उसे क्यों करना चाहिए ? इसके अलावा प्रकृति और ईश्वर की हिंसा में कल्याण छिपा हुआ रहता है। मनुष्य की हिंसा में स्वार्थ। इसलिए भी वह इनका अनुकरण नहीं कर सकता।

(११) लेनिन का उदाहरण यहां मौजूं नहीं है। मेरा कहना यह नहीं है कि हिंसा 'शार्टकट' का काम नहीं देती है, या मनुष्य-समाज में अबतक उसके उपयोग का आदर नहीं चला आ रहा है। मेरा मतलब तो यह है कि यदि हमें समाज-रचना में पूर्ण स्वतन्त्रता का आदर्श प्रिय है, यदि हम मनुष्य-समाज को एक कुटुम्ब के रूप में देखने के लिए उत्सुक

हैं और यदि हमें कीड़ों-मकोड़ों की तरह जीवन बितानेवाले अपने करोड़ों भाई-बहनों को मनुष्यता के सच्चे गुणों से लाभान्वित करना है, तो हमें सत्य और अहिंसा का अवलम्बन किये बिना गुजर नहीं है। लेनिन ने जो क्रान्ति की है और जिस तरह की समाज-रचना करनी चाही है वह अभी पूर्णता को कहां पहुँची है? पूर्ण समाज की कल्पना में तो उसे भी अहिंसा को अटल स्थान देना पड़ा है और प्रत्येक विचारशील मनुष्य इसी नतीजे पर पहुँचे बिना न रहेगा। यदि रूस में उसे हिंसा का अवलम्बन शुरुआत में या थोड़े समय के लिए करना पड़ा तो एक तो यह उसके स्वभाव के कारण था, और दूसरे वहांवालों को अहिंसा के बल और परिणाम पर इतना भरोसा नहीं था, जितना अब हम भारतवासियों को होता जा रहा है। फिर भी रूस में यही प्रयत्न हो रहा है कि समाज में हिंसा का स्थान दिन-दिन कम होता जाता रहे। पर भारत की स्थिति जुदा है। हमने वह चीज पहले ही पाली है, जिसके लिए रूस को अभी और ठहरना होगा। तो हम यहां क्यों अपनी स्थिति के प्रतिकूल हिंसा का नाम लेकर खुश हों और अपने उद्देश के प्रतिकूल चलने में सुख और सन्तोष मानें?

(१२) इसका उत्तर नं० ९ में आजाता है। इतना और कह देने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि यदि बुद्ध, महावीर, ईसा-मसीह, अशोक आदि ने सत्य, प्रेम, दया, अहिंसा आदि का उपदेश और प्रचार जन-समाज में न किया होता और उनका असर लोगों पर न हुआ होता या न रहा होता तो आज महात्माजी के वर्तमान अहिंसा-संग्राम को न भारत में इतना सहयोग मिला होता और न संसार में उसकी इतनी कदर हुई होती।

(१३) यह दलील तो वैसी ही है, जैसी यह कि जबतक सारा समाज ऐसा न करे तबतक मैं अकेला क्यों करूँ? इस दलील में यदि

कुछ सार ही होता तो मनुष्य-समाज का अबतक इतना विकास ही न हुआ होता। एक आदमी उठकर पहले एक चीज करके दिखाता है तब दूसरे उसे अपनाते हैं। पहले आदमी को अवश्य जोखिम उठानी पड़ती है। भारत इसके लिए तैयार हो रहा है। फिर अहिंसा और सत्य अर्थात् प्रामाणिकता के पक्ष में वह अकेला ही नहीं है। तमाम समाजवादी और कुटुम्बवादी समुदाय, तमाम आदर्शवादी लोग उसके साथ हैं। सचाई और अहिंसा का मतलब बेवकूफी नहीं है, न बुजदिली ही है। जो सदा सजग रहता है, वही सत्य और अहिंसा का प्रेमी बन सकता है। भारत गुलाम इसलिए नहीं बना कि वह सत्य और अहिंसा-परायण था; बल्कि इसलिए कि उसमें फूट और स्वार्थ-साधना प्रबल थी। इसलिए दूसरे राष्ट्रों के डकार जाने का भय व्यर्थ है।

(१४) युधिष्ठिर ने यदि सारे जीवन में एक प्रसंग पर 'नरो वा कुञ्जरो वा' अर्द्ध-सत्य कहा तो उससे कम अनर्थ संसार में नहीं हुआ है। उससे लाभ तो सिर्फ इतना ही हुआ कि अश्वत्थामा के पिता द्रोणाचार्य का वध हो गया; किन्तु हानि यह हुई कि आज लाखों लोग धर्मराज की इतनी-सी झूठ का सहारा लेकर बड़े-बड़े मिथ्याचार करते हैं और फिर भी अपनेको निर्दोष समझते हैं। खुद युधिष्ठिर को नरक में से होकर स्वर्ग जाना पड़ा था और उनका एक अंगूठा गल गया था। यद्यपि महाभारतकार ने इतनी-सी झूठ को भी क्षमा नहीं किया, तथापि जन-समाज में वह आज भी बड़ी-बड़ी झूठों का आश्रय बनी हुई है। युधिष्ठिर की इस च्युति से सत्य की असंभवता नहीं प्रतीत होती, बल्कि ख़ुद उनकी कमजोरी ही प्रकट होती है। इसी तरह कृष्ण ने यदि युद्धों में कपट का आश्रय लिया है या राम आदि ने दुश्मनों का संहार किया है तो इससे कपट और हिंसा की अनिवार्यता नहीं सिद्ध

होती, बल्कि राम और कृष्ण-कालीन समाज की विकासावस्था पर प्रकाश पड़ता है। इससे तो एक ही नतीजा निकलता है कि उनके समय में युद्ध या राजनीति में थोड़ा-बहुत कपट शस्त्र-बल जायज समझा जाता था, जैसा कि आज भी प्रायः सारे संसार में समझा जाता है। पर आज दुनिया में ऐसे विचारशील और क्रियाशील पुरुष भी पैदा हो गये हैं, जिन्होंने सारे समाज और राष्ट्र के लिए कपट, झूठ और हिंसा के अनिवार्य न रहने की कल्पना करली है और जिन्होंने इस दिशा में थोड़ा-बहुत काम करके भी दिखाया है। इनके थोड़े-से कार्य का भी फल संसार को आश्चर्य में डाल रहा है। अतएव ठहर कर हमें इन प्रयोगों के पूर्ण फल की राह देखनी चाहिए। इतिहास या ऐतिहासिक पुरुष हमारा साथ न दें तो हमें घबराना न चाहिए, न निराश ही होना चाहिए।

(१५) यह दलील तो तब ठीक हो सकती हैं, जब सत्य और अहिंसा समाज या राष्ट्र-हित के विघातक हों। क्या कारण है कि प्रत्येक महा-पुरुष, प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय, प्रत्येक समाज-व्यवस्थापक ने सत्य और अहिंसा—सचाई और प्रेम—को सर्वोपरि नियम माना है ? हां, राजनीति में युद्ध के समय शत्रु के मुकाबले में अपवाद-रूप कपट या हिंसा का मार्ग बहुतों ने खुला अवश्य रक्खा है, पर साथ ही उन्होंनें इस बात की भी चिन्ता रक्खी है कि—'सत्यान्नास्ति परो धर्मः। 'सत्यमेव जयते नानृतम्।' 'अहिंसा परमो धर्मः।' 'प्रेम एव परो धर्मः।' इन अटल और समाज के नींव-रूप नियमों का महत्व किसी तरह कम न होने पावे। जिन महान् पुरुषों और नेताओं ने सत्य और अहिंसा की इतनी महिमा गाई है, या तो वे बेवकूफ थे, अन्धे थे, झूठे थे, या सांसारिक और सामाजिक लाभा-लाभ के अनुभवी थे। यदि आज भी हम अपने गार्हस्थ्य और समाज-

संचालन की जड़ों को टटोलें तो उनमें सत्य और अहिंसा ही अद्भुत और व्यापक रूप में कार्य करते हुए दिखाई देंगे । अतएव जिन नियमों पर समाज का स्थायी कल्याण और अस्तित्व अवलंबित है उन्हें यदि समाज के धुरीण लोग इतनी उच्चता और महत्ता दें तो इसमें कौन आश्चर्य है ? जरा कोई एक दिनभर तो झूठ-ही-झूठ बोलकर, दगा-फरेब ही करके, और मार-काट तथा गाली-गुफ्ता ही करके देखले । एक ही दिन में वह अनुभव कर लेगा कि उसकी जिन्दगी कितनी मुश्किल हो गई है । जो लोग व्यवहार में झूठ और हिंसा का आश्रय लेकर थोड़ा-बहुत काम चला लेते हैं वे थोड़े लाभों के लालच में बड़े लाभों को खो देते हैं, वे छोटे व्यापारी हैं, टुटपूंजिये हैं । संसार में साख और ईमानदारी की इतनी महिमा क्यों है ? और झूठे और प्रपंची आदमियों से भले आदमी क्यों दूर रहना पसंद करते हैं ? अतएव जो यह विचार रखते हैं कि सत्य और अहिंसा आदि सिद्धान्तों पर अटल रहने से समाज का घात होता होगा, या यह समझते हैं कि दीखनेवाले समाज के लाभ के लिए झूठ और हिंसा का सहारा बुरा नहीं है—वे भ्रम में चक्कर काट रहे हैं । वे मुहरों को खोकर कोयलों को तिजोरियों में बन्द रखने की चेष्टा करते हैं । मनुष्य और समाज का सारा व्यवहार चारित्र्य—शील--पर चलता है। जो मनुष्य हाथ का सच्चा, बात का सच्चा और लंगोट का सच्चा होता है, वह समाज में सच्चरित्र कहलाता है । इन सच्चाइयों को खोकर कोई अपना हित साधना चाहे तो उसे जिस डाल पर बैठे हैं उसीको काटनेवाला न कहें तो और क्या कहेंगे ? और यही नियम एक कुटुम्ब तथा समाज या राष्ट्र पर भी भलीभांति घटित होता है । समाज का हित और उद्देश आखिर क्या है ? पूर्ण तेजस्विता, पूर्ण स्वाधीनता, यही न ? तो अब बताइए, कि ईमानदारी और स्नेह-सहानुभूति को खोकर कोई कैसे अपने

समाज को तेजस्वी और स्वाधीन-वृत्ति बनाये रखने की आशा कर सकता है ? यदि निमोनिया को जल्दी ठीक करने के लिए मैंने ऐसी दवा खाली, जिससे उलटा फेफड़ा ही बेकार हो गया, तो मुझे समदार और शरीर का हितचिन्तक कौन कहेगा ? कामेच्छा की तृप्ति के सीधे रास्तों को छोड़ कर कोई मनुष्य वेश्या-संस्था की उपयोगिता और आवश्यकता का प्रचार करने लगे तो उसे जितना अक्लमन्द कहा जायगा उससे कम अक्लमन्द वह शख्स न होगा, जो झूठ-कपट और मार-काट को समाज के लिए अनिवार्य बतावेगा। मनुष्य के समाज-सुधार के आज तक के प्रयत्नों के होते हुए भी यदि कुछ बुराइयां उसमें शेष रह गई हैं तो उससे यह नतीजा नहीं निकलता कि अबतक के उसके प्रयत्न बेकार हुए है, बल्कि यह स्फूर्ति मिलनी चाहिए कि अभी और पूरे बल से उद्योग करने की आवश्यकता है।

(१६) समाज में दो प्रवृत्ति के लोग पाये जाते हैं। एक तो वे जो 'आज' पर ही दृष्टि रखते हैं; और दूसरे वे जो 'कल' पर भी नजर रखते हैं। पहले लोग अपनेको 'व्यावहारिक', बुद्धिवादी या विज्ञानवादी कह कर दूसरे को 'आदर्शवादी' या सिद्धान्तवादी कहते हैं। इधर दूसरे दल के लोग पहले वर्गवालों को अ-दूरदर्शी और घाटे का सौदा करनेवाले कहते हैं। जमीन पर खड़े रहनेवाले की अपेक्षा चोटी पर खड़े रहनेवाले को दूर-दूर की चीजें और दृश्य दिखाई पड़ते हैं। पर जमीन पर खड़े रहनेवाले को उसकी बातें हवाई मालूम होती हैं। इधर चोटीवाला उसके अविश्वास पर झल्लाता है। दोनों की कठिनाइयां वाजिब हैं। आदर्शवादी और सिद्धान्तवादी अपने आदर्श और सिद्धान्त पर इसलिए अटल बना रहना चाहता है कि उसे उनसे गिरने की हानियां स्पष्ट आती हुई दिखाई देती हैं। व्यवहारवादी, बुद्धिवादी या विज्ञानवादी इसलिए चकराता है

कि उसे तात्कालिक लाभ जाता हुआ दिखाई देता है। वह उसे बटोर रखने के लिए उत्सुक होता है, तहां दूसरा बड़े लाभ को खोकर उसे प्राप्त करने के लिए नहीं ललचाता । उसकी उदासीनता और अटलता पहले को मूर्खता मालूम होती है, और पहले की यह उत्सुकता दूसरे को खोखलापन दिखाई देता है। सिद्धान्तवादी और आदर्शवादी को दूर के परिणाम स्पष्ट देख पड़ते हैं, इसलिए वह राह के छोटे-बड़े प्रलोभनों और कठिनाइयों से विचलित न होता हुआ तीर की तरह चला जाता है— इस दृढ़ता, निश्चय, को पहले लोग भ्रम से 'अन्ध-श्रद्धा' कहते हैं और अपनी अदूरदर्शिता तथा अस्थिरता को 'बुद्धिमानी'। मेरी समझ में यह बात बहुत परिश्रम करने पर भी नहीं आती कि बुद्धि और विज्ञान कैसे हमें समाज़-कल्याण के लिए झूठ-कपट और मार-काट के नतीजे पर पहुँचा सकते हैं ? हां, यह बात जरूर है कि नियम या सिद्धान्त महज दूर से पूजा करने या व्याख्यान देने की चीज नहीं हैं। वे जीवन में उतारने, आचरण करने और मज़ा लेने की चीजें हैं । आप जीवन में उनका आनन्द लूटिए और कठिनाइयों, विपत्तियों, विघ्न-बाधाओं, आंधी-तूफानों के अवसर पर अलग रहिए, फिर देखिए आपकी बुद्धि को कितना भोजन, कितना उत्साह, कितना बल और कितना तेज एवं उल्लास मिलता है ! कठिनाइयों के अवसरों पर दुबक जानेवाली आपकी 'बुद्धिमत्ता' पर आपको अपने आप झेंप आनें लगेगी—'जैसी हवा देखो वैसा काम करो', इस नियम का खोखलापन और दिवालियापन आपको समझाने के लिए किसी दलील की जरूरत न रहेगी ।

(१७) जब यह कहा जाता है कि झूठ बुरा है, कपट बुरा है, हिंसा और शस्त्र-बल मनुष्य-जाति के लिए अपेक्षाकृत कल्याणकारी नहीं साबित हुआ है, यदि और सुधार तो कर दिये गये, पर झूठ, कपट या शस्त्र का

समाज में स्थान रहने दिया गया तो मनुष्य लुटेरा और पशु ही बना रहेगा, तब यह अर्थ नहीं होता है कि जिन महान् पुरुषों ने अपने देश, जाति या धर्म की भलाई के लिए कभी-कभी झूठ-कपट का आश्रय लिया हो या शस्त्र-बल से काम लेना पड़ा हो तो वे देश-सेवक और उपकारक न थे। उनके लिए तो, आज के विचारों की रोशनी में, अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि यदि वे बिलकुल शुद्ध और निर्दोष साधनों से काम लेते तो और अधिक एवं स्थायी उपकार कर पाते। किन्तु पूर्वोक्त कथन का यह अर्थ अवश्य है कि यदि महज प्रणाली को बदल कर मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाने का प्रयत्न नहीं किया, उसके हाथ में एक ओर तलवार रहने दी गई और दूसरी ओर झूठ-कपट का रास्ता खुला रहा, तो तलवार और लुटेरेपन को अमर ही समझिए; और तबतक स्वतंत्रता के नाम की कोरी माला जपते रहिए—स्वतंत्रता के नाम पर स्वतंत्रता का बिगड़ा हुआ कोई रूप आप पावेंगे और फिर गुलामी के गड्ढे में गिर पड़ेंगे।

(१८) जहां सत्य और अहिंसा में सक्रिय प्रेम है वहां बुद्धूपन ठहर ही नहीं सकता। उसे धोखा देनेवाला खुद ही धोखे में रहता है, और धोखा खाता है। सत्य और अहिंसा के पालन करनेवाले को कदम-कदम पर विचार करना पड़ता है। सत्य का निर्णय करने के लिए उसे अपनी बुद्धि खूब दौड़ानी पड़ती है और उसे निष्पक्ष एवं निर्मल रखना पड़ता है। सत्य के अनुयायी को यह ध्यान रखना पड़ता है कि मेरे कहने का भाव दूसरे ने गलत तो नहीं समझ लिया है। इसलिए उसे अपनी बात में यथार्थता का पूरा ध्यान रखना पड़ता है। कितनी ही बातें न कहने लायक होती हैं—कितनी ही का कहना जरूरी हो जाता है। इसका उसे हमेशा विचार करना पड़ता है। अहिंसावादी होने के कारण

उसे सदा अपनी बातों और व्यवहारों में इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि दूसरे को अकारण ही दुःख तो नहीं पहुँच गया। भरसक बिना किसीको दुःख पहुँचाये वह अपने उद्देश्य में सफलता पाना चाहता है—इससे उसे बात-बात में विचार और विवेक से काम लेना पड़ता है। सत्य का प्रेमी होने के कारण वह सदा सजग रहने का प्रयत्न करता है। ऐसी दशा में कोई कैसे मान सकता है कि सत्य और अहिंसा का अनुयायी बुद्धू होता है और लोग उसे ठग लेते हैं? हां, वह उच्च, उदार-हृदय, क्षमाशील, विश्वासशील होता है, इसलिए इससे भिन्न प्रकृति के लोग उसे बुद्धू भले ही समझ लें; पर जिन्हें सत्य और अहिंसा के महत्व का कुछ भी ज्ञान और अनुभव है, वे ऐसा कदापि नहीं कह सकते। जहां बुद्धूपन होगा, वहां सत्य और अहिंसा का अभाव ही होगा, अस्तित्व नहीं।

[७]

शस्त्र-बल के ऐवज़ में : सत्याग्रह

सत्याग्रह भारतवर्ष को और उसके निमित्त से सारे जगत् को महात्माजी की एक अपूर्व देन है। विचार-जगत् में यद्यपि टालस्टाय ने इसको आधुनिक संसार में फैलाने का थोड़ा यत्न किया है फिर भी व्यावहारिक जगत् में तो गांधीजी को ही उसे प्रचलित करने का श्रेय प्राप्त है। इस अध्याय के आरम्भ में हमने सत्याग्रह के मूल-तत्त्व रूप को समझने का यत्न किया है; किन्तु यहां हम उसको एक बल, एक शस्त्र के रूप में विचारने की कोशिश करेंगे। महात्माजी का यह दावा है कि सत्याग्रह शस्त्र-युद्ध का स्थान सफलता पूर्वक ले सकता है। यहां हम इसी

विषय पर कुछ विचार कर लेना चाहते हैं। महात्माजी जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, जिसके आधार पर उन्होंने अपना जीवन बनाया है, जिसके बल पर उन्होंने दक्षिण अफरीका और भारतवर्ष में अपूर्व सफलतायें प्राप्त की हैं, एक-से-एक बढ़ कर चमत्कार दिखाये हैं, उसे उन्होंने 'सत्याग्रह' नाम दिया है

सत्य+आग्रह इन दो शब्दों को मिलाकर 'सत्याग्रह' बनाया गया है। इसमें मूल और असली शब्द तो सत्य ही है। सत्य पर डटे रहने का नाम है सत्याग्रह। अब प्रश्न यह है कि 'सत्य' क्या है ? इसका निश्चयात्मक उत्तर वही दे सकता है, जिसने सत्य को पा लिया हो, जिसका जीवन सत्य मय हो गया हो, जो स्वयं ही सत्य हो गया हो। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों और दर्शनकारों ने इसे समझाने का यत्न किया है; पर वे इसकी महिमा का बखान करके या कुछ झलक दिखाकर ही रह गये हैं। मैं समझता हूँ—इससे अधिक मनुष्य के बस में है भी नहीं। सत्य की पूर्णता, व्यापकता और घनता न तो बुद्धिगम्य ही है और न वर्णन-साध्य ही है। उसकी व्यापकता पर विचार करने लगते हैं तो यह ब्रह्माण्ड भी छोटा मालूम होता है, घनता की तरफ बढ़ते हैं तो कल्पित या मनोगत बिन्दु भी बड़ा दिखाई देता है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्म और विराट् से भी विराट् है। 'अणोरणीयात् महतो महीयात्' इससे अधिक वर्णन उसका नहीं हो सकता।

तब मनुष्य उसे समझे कैसे ! प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि और शक्ति के ही अनुसार उसे समझ या ग्रहण कर सकता है। तो प्रत्येक मनुष्य के लिए सत्य वही हुआ, जो उसे जंच गया। तो क्या प्रत्येक जंचने वाली बात को सत्य ही मान लेना चाहिए ? नहीं; निर्मल अन्तःकरण में जो स्फुरित हो, सात्विक बुद्धि में जो प्रवेश कर जाय, वही 'सत्य' शब्द से

परिचित कराया जा सकता है। वह वास्तविक सत्य चाहे न हो, किन्तु उस व्यक्ति के लिए तबतक तो वही सत्य रहेगा, जबतक उसे आगे सत्य का और या भिन्न प्रकार से, दर्शन न हो। इसको सापेक्ष्य या अर्ध या आंशिक सत्य ही ससनझा चाहिए;—यह उस मनुष्य की असमर्थता, अपूर्णता अवश्य है, किन्तु अपने विकास की वर्तमान अवस्था में इससे अधिक सत्य का दर्शन उसे हो ही नहीं रहा है, तो वह क्या करेगा? वह उसी आंशिक सत्य पर दृढ़ रहेगा और आगे सत्य-दर्शन की राह देखेगा, एवं उसके लिए यत्न करेगा। सत्य-शोधन का, सत्य को पाने का यही मार्ग है। किन्तु इसमें यह बात न भूलनी चाहिए कि सत्य-शोधन में प्रगति करने के लिए अन्तःकरण की निर्मलता और बुद्धि की सात्विकता को दिन-दिन बढ़ना अनिवार्य है। ऐसा न करेंगे तो आपकी गति कुण्ठित हो जायगी; आप उसी अपने माने हुए अर्ध या आंशिक सत्य पर ही—जो असत्य भी हो सकता है—चिपके रह जायेंगे और सम्भव है कि उससे आपकी अधोगति भी हो जाय।

अब इन आंशिक सत्यों में झगड़ा शुरू हो तो क्या किया जाय? आप एक बात को सत्य माने हुए हैं, मैं दूसरी बात को। और वे दोनों परस्पर विरुद्ध है तो आपका मेरा परस्पर व्यवहार और संघर्ष कैसा होना चाहिए? सहिष्णुता का या जोर-जुल्म का? यदि जोर-जुल्म का, तो फिर आप मुझ से मेरे सत्य पर डटे रहने का अधिकार छीनते हैं। यह तो सत्य की आराधना नहीं हुई। आपको अपना ही सत्य प्रिय है, उसी की आपको चिन्ता है; मेरे सत्य की आप बिल्कुल ही उपेक्षा करते हैं, तो आप जुल्मी, स्वार्थी, एकांगी, पक्षपाती क्यों नहीं हुए? यदि आपकी वृत्ति एसी है तो फिर क्या आप स्वयं भी अपने सत्य-शोधन का रास्ता नहीं रोक रहे हैं? इस दशा में तो आप अपने और मेरे दोनों के सत्य के

बाधक हो गये। दूसरे शब्दों में आप सत्य के द्रोही बन गये। पर यदि आप सहिष्णुता का व्यवहार रखते हैं तो अपनें और मेरे दोनों के लिए सत्य-शोधन का मार्ग विस्तत कर देते हैं। दोनों में विग्रह और द्वेष की जगह प्रेम और मिठास का भाव एवं सम्बन्ध बढ़ाते हैं। इसी वृत्ति का नाम अहिंसा है।

सत्य के शोधन में अहिंसा के बिना काम चल ही नहीं सकता। आप एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। यही नहीं, बल्कि अन्तःकरण की निर्मलता, बुद्धि की सात्विकता, जिनके बिना आपका अन्तःकरण सत्य स्फुरित होने के योग्य ही नहीं बन सकता, वास्तव में देखा जाय तो इस अहिंसा-वृत्ति के ही फल हो सकते हैं। अन्तःकरण को निर्मल और बुद्धि को सात्विक आप तभी बना सकते हैं, जब आप अपने को राग-द्वेष से ऊपर उठाते रहेंगे। राग-द्वेष से ऊपर उठना अहिंसा का ही दूसरा नाम है।

इस तरह सत्य के साथ अहिंसा अपने आप जुड़ी हुई है। दोनों एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते। दोनों की एक-दूसरे से पृथक या भिन्न कल्पना करना अपने को सत्य से दूर हटाना है। फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि सत्य साध्य है और अहिंसा साधन। अहिंसा के बिना आप सत्य को पा नहीं सकते, इसलिए उसका महत्व सत्य के ही बराबर है; किन्तु उसका दरजा सत्य के बराबर नहीं हो सकता।

सत्य यदि वास्तव में सत्य है, सारा ब्रह्माण्ड यदि एक सत्य ही है, या सत्य नियम पर ही उसका आधार और अस्तित्व है, और यदि वही सत्य हममें ओत-प्रोत है तो फिर हमें अपनी छोटी-सी तलवार, पिस्तौल या मशीनगन अथवा अन्य भीषण भीमकाय शस्त्रास्त्रों से उसकी रक्षा करने की आवश्यकता ही क्या है? क्या हमारे ये भयानक और मारक साधन उसकी रक्षा भी कर सकेंगे? यदि हम मानते हैं कि हां, तो फिर ये सत्य

से बढ़कर साबित हुए। तो फिर सत्य की अपेक्षा इन्हीं की पूजा क्यों न होनी चाहिए ? 'सत्यमेव परो धर्मः' की जगह 'शस्त्रमेव परो धर्मः' का प्रचार होना ही उचित है। 'सत्यमेव जयते नाऽनृतम्' की जगह 'शस्त्रमेव जयते' की घोषणा होनी चाहिए। तो फिर अब तक जगत् में किसी ने शस्त्र को सत्य से बढ़ कर क्यों नहीं बनाया ? इसीलिए कि सत्य और शस्त्र की कोई तुलना नहीं। शस्त्र यदि किसी बात का प्रतीक हो सकता है तो वह असत्य का। सत्य तो स्वयं रक्षित है। सूर्य की कोई क्या रक्षा करेगा ? सत्य के तेज के मुकाबले में हजारों सूर्य कुछ भी नहीं हैं। चूंकि हममें सत्य कम होता है, इसीलिए हमें शस्त्र की सहायता की आवश्यकता प्रतीत होती है; क्योंकि असत्य हममें अधिक होता है और वह अपने मित्र, साथी या प्रतीक की ही सहायता प्राप्त करने के लिए हमें प्रेरित करता है। अतएव सत्य का हिंसा या शस्त्र से कोई नाता नहीं। यह बात सूर्य के प्रकाश की तरह हमारे सामने स्पष्ट रहनी और हो जानी चाहिए।

सत्य की शोध और सत्य पर डटे रहने की प्रवृत्ति से ही वह प्रतिकार-बल उत्पन्न होता है, जो सत्याग्रही का वास्तविक बल है। सत्य को शोधने की बुद्धि उसे नित्य नया प्रकाश देती है और जो सत्य स्फुरित हुआ है उस पर डटे रहने से उसमें दृढ़ता, बल और असत्य से लड़ने की स्फूर्ति आती है। इस प्रकार सत्याग्रह में ज्ञान और बल दोनों का समावेश अपनें आप होता रहता है। जहां ये दोनों हैं वहां पराजय, असफलता, अशांति, दुःख और चिन्ता कैसे टिक सकते हैं ? सत्य के इसी अनन्त और नित्य-नवीन ज्ञान, एवं अमोघ बल के आधार पर महात्माजी कहा करते हैं कि शुद्ध सत्याग्रही एक भी हो तो वह सारी दुनिया को हिला सकता है। कौन कह सकता है कि उनका यह दावा

बुद्धिगम्य नहीं है ? सत्य के त्रुटियुक्त, अपूर्ण और छोटे प्रयोगों से भी जब हमने जबरदस्त शक्ति उत्पन्न होती हुई देखी है तो इसमें क्या शक हो सकता है कि सत्याग्रही जितना ही अधिक शुद्धता और पूर्णता के निकट पहुँचेगा, उतनी ही उसकी गति, तेज, बल अपरिमित और दुर्दमनीय होंगे ।

सारांश यह कि एक ओर सत्य का अमित तेज, बल, पराक्रम, पौरुष, साहस और दूसरी ओर अहिंसा की परम आर्द्रता, मृदुता, मधुरता विनयशीलता, स्निग्धता, सुजनता, इन दोनों के सम्मेलन का नाम है सत्याग्रह ।

सत्याग्रह एक गुण भी है और बल भी है । प्रत्येक गुण के दो कार्य होते हैं—एक तो हमारी अनुकूलताओं को बढ़ाना और दूसरे प्रतिकूलताओं को रोकना । जब हमारा कोई गुण प्रतिकूलताओं को रोकता है, बाधाओं को हटाता है तब वह एक बल हो जाता है । जब हम किसी सामाजिक, व्यक्तिगत, राजनैतिक या किसी भी दोष, कुप्रथा, कु-नियम को मिटाने के लिए किसी न्याय, या सत्य बात पर अड़े रहते हैं, सब प्रकार के कष्ट और कठिनाइयों को आनंद और धीरज के साथ सहते हैं, किन्तु अपनी बात पर से नहीं डिगते तब हम सत्याग्रह को एक बल के रूप में संसार के सामने पेश करते हैं । 'सत्याग्रह' वस्तु की उत्पत्ति वास्तव में इसी बल के रूप में हुई है; परन्तु 'सत्याग्रह' शब्द बनते समय उसमें सत्य के सभी सामाजिक गुणों का तथा स्वतंत्र सत्य का भी समावेश कर दिया गया है जिससे 'सत्याग्रह' का भाव एकांगी, या संकुचित या अपूर्ण न रहे ।

सत्याग्रह का एक रूप सविनय कानून भंग है । यह एक बलवान अस्त्र है । जिस नियम को हम न्याय और नीति के विरुद्ध समझते हैं

उनको न मानने का हमें अधिकार है। यदि एक कु-नियम को हटाने के लिए दूसरे और समय पड़ने पर विरोध-स्वरूप सभी नियमों का अनादर करना पड़े तो यह भी करने का हमें अधिकार है। परन्तु बुरे नियमों को हम सदा के लिए अमान्य कर सकते हैं और दूसरे नियमों को थोड़े काल के लिए केवल विरोध-स्वरूप ही। दोनों अवस्थाओं में अनादर का दण्ड भुगतना ही वह बल है जिससे समाज जाग्रत होता है और समाज-व्यवस्था बिगड़ने नहीं पाती। यदि हमारा नियम-भंग उचित होगा तो हमारा कष्ट-सहन समाज में हलचल और जागृति उत्पन्न करेगा, यदि अनुचित होगा तो हम उसका फल अपने-आप भुगत के रह जायंगे और आगे के लिए अपना रास्ता ठीक कर लेंगे।

परन्तु नियम-भंग का वास्तविक अधिकार उन्हींको प्राप्त होता है जो दूसरी सब परिस्थितियों में नियमों का पालन चिन्ता के साथ करते रहते हैं। जो नियम-भंग में अच्छे बुरे नियमों का भेद नहीं करते अथवा जब चाहें तभी नियम-भंग करते रहते हैं उनके नियम-भँग का कोई नैतिक मूल्य नहीं होता और इसलिए उनकी प्रतिष्ठा और प्रभाव चला जाता है और उनके नियम-भंग से समाज का उपकार या सुधार भी नहीं होता। नियम-भंग तभी प्रभावशाली होता है, तभी वह एक अमोघ अस्त्र का काम देता है जब वह बुरे नियम का हो और नियम-पालक व्यक्ति के द्वारा किया गया हो।

फिर नियम-भंग सत्याग्रही का अन्तिम शस्त्र है। सत्याग्रही सबसे पहले तो उस नियम की बुराई समाज या राज्य के सूत्र-संचालकों को बताता है; फिर लोकमत को तैयार करके उसके विरुद्ध शिकायत कराता है; इतने से यदि काम न चले तो आन्दोलन खड़ा करके उस नियम को भंग करता है—और अन्त में सारी व्यवस्था के ही खिलाफ

बगावत खड़ी कर देता है। इस क्रम से चलने से उसका बल दिन-दिन बढ़ता जाता है; उसके पक्ष की न्यायता को लोग अधिकाधिक समझने लगते हैं और इसलिए उसके साथ सहानुभूति रखते हैं, उसे सहायता देते हैं एवं अन्त में उसका साथ भी देते हैं। इसके विपरीत एक बारगी नियम-भंग करनेवाला अकेला रह जाता है और हतबल होजाता है।

इस प्रकार सत्याग्रही एक सुधारक होता है; जहां भी उसे असत्य, अन्याय, अनौचित्य मालूम होगा वहीं वह सुधार करने में प्रवृत्त होगा। उसका सुधार करनें के लिए यदि उसे विरोध करना पड़ेगा, लड़ाई लड़नी पड़ेगी तो वह पीछे नहीं हटेगा; परन्तु वह लड़ाई मोल ले लेने के लिए किसी के घर नहीं जायगा। 'आ बैल सींग मार' यह उसकी रीति नहीं होगी। उसका पथ निश्चित है। वह चला जा रहा है। रास्ते में कठिनाई, रुकावट, विघ्न आजाते हैं तो उन्हें हटाने लगता है। इसीके लिए उसे विरोध, आंदोलन, लड़ाई करनी पड़ती है। जब विघ्न हटगया, रास्ता साफ होगया, वह फिर शान्ति और उत्साह के साथ आगे बढ़नें लगता है। इस अर्थ में वह योद्धा तो है; युद्ध उसे कदम-कदम पर करना पड़ता है—कभी अपनें दुर्गुणों के साथ, कभी कुटुंबियों के साथ, कभी समाज के नेताओं के साथ और कभी राज्य-कर्त्ताओं के साथ; किन्तु युद्ध उसके जीवन का लक्ष्य नहीं है।

सत्याग्रही व्यक्ति का सुधार चाहता है, उसका नाश नहीं। क्योंकि वह मानता है कि कोई भी व्यक्ति दो कारणों से अन्याय, अत्याचार करता है या किसी दोष को अपनाता है। या तो स्वार्थ-वश या अज्ञान-वश। स्वार्थ-साधना की जड़ में भी अन्ततः अज्ञान ही है। अब अज्ञान को दूर करने के, मनुष्य को जाग्रत और न्यायी बनाने के दो ही साधन उसके पास हैं—एक तो युक्तियों के द्वारा उसके दिमाग को समझाना

और इतने से काम न चले तो स्वयं कष्ट उठाकर उसके हृदय को जाग्रत करना। मारकर व्यक्ति को वह मिटा सकता है; पर उसका सुधार नहीं कर सकता। वह अन्यायी और अत्याचारी को सुधार करके अपना मित्र, साथी बनाना चाहता है। उसका नाश करने से यह उद्देश सिद्ध न होगा। फिर व्यक्ति का नाश करने से हम उसके गुणों का भी तो नाश कर देंगे। बुरे से बुरे व्यक्ति के भी लिए हम यह नहीं कह सकते कि उसमें कोई गुण नहीं है। यदि उसमें गुण है तो उसकी रक्षा करना, उससे समाज को लाभ पहुँचाना हमारा धर्म है। हां, उसकी बुराई को हम नहीं चाहते—तो बुराई को मिटानें का उद्योग करें। किन्तु बुराई मिटाने के ऐवज में हम उस व्यक्ति को ही मिटा दें तो क्या इसे हमारी उद्देश- सिद्धि कहेंगे ?

सत्याग्रही व्यक्ति पर तलवार इसलिए भी नहीं उठाना चाहता कि वह मानता है कि अपने विचारों के अनुसार चलनें का अधिकार सब को हैं। अधिकार के मानी हैं समाज द्वारा स्वीकृत नियम के अन्दर चलने की पूर्ण स्वाधीनता। यदि आपके और उसके विचार या निर्णय में भेद है तो क्या एक के लिए यह उचित है कि इसी बात के लिए दूसरे का नाश कर दे ? सत्याग्रही, ऐसे प्रसंगों पर, दूसरों पर बलात्कार करने की अपेक्षा स्वयं कष्ट उठाता है। अपनी इस सहनशीलता के द्वारा एक तो वह दूसरे को अपने विचारों पर चलनें की उतनी स्वाधीनता देता है जितनी कि वह खुद लेता है और दूसरे उसके मन में एक हलचल पैदा करता है कि मैं गलती पर तो नहीं हूँ। उसे वह आत्म-निरीक्षण में प्रवृत्त करता है। यह आत्म-निरीक्षण उसे सुधार के पथ पर पहुँचाता है। बस सत्याग्रही का काम हो गया।

सत्याग्रही की अहिंसा का सम्बन्ध व्यक्तियों से है, प्रणालियों, नियमों और संगठनों से नहीं। आवश्यकता होजाने पर इन्हें मिटाने में वह

बिलकुल हिचकिचाहट नहीं करता। वह मानता है कि प्रणालियां आखिर मनुष्य ही बनाता है इसलिए मनुष्य के सुधार के साथ प्रणालियां भी सुधरने लगेंगी। यह सच है कि प्रणालियां भी मनुष्य के सुधार के ही लिए बनाई जाती हैं और यदि प्रणाली अच्छी हुई तो मनुष्य जल्दी सुधर सकेगा; परन्तु प्रणाली और मनुष्य की तुलना में मनुष्य बड़ा है। इसलिए मनुष्य को नष्ट कर देने की कल्पना सत्याग्रही को अनुचित और हानिकर मालूम होती है। किसीको मारने की कल्पना हम तभी-तक कर सकते हैं जब तक हम अपने हित का विचार करते हैं—यदि उसके हित का विचार करने लगें तो तुरंत समझ में आ जायगा कि मारना हमारी स्वार्थ-साधुता है। जो मनुष्य सबके हित की भावना नहीं कर सकता तो वह सत्य का अनुयायी कैसे हो सकता हैं? और यदि सत्य का अनुयायी नहीं है तो वह अपनी और समाज की प्रगति कैसे कर सकता है—यह समझ में आना कठिन है। अब तक का इतिहास और वर्तमान जगत् इसलिए हमारी विशेष सहायता नहीं कर सकता कि वह स्वयं ही अपूर्ण और दुखी है। यदि हिंसा और असत्य के मुकाबले में अहिंसा और सत्य हमें व्यक्ति और समाज के लिए अधिक हितकर मालूम होते हों तो हमारा इतना ही कर्त्तव्य है कि हम उनका दृढ़ता से पालन करते चले जायँ। यह सम्भव है या नहीं, ऐसी शंका किसी पुरुषार्थी के मन में तो नहीं उत्पन्न होनी चाहिए। जगत् के कई असम्भव समझे जानेवाले चमत्कार मनुष्य के ही प्रयत्न और पुरुषार्थ के फल हैं। यदि हम समाज में सुव्यवस्था कर सकें, शिक्षा और संस्कार फैलाने की अच्छी योजना कर सके तो यह ऐसी बात नहीं है जो मनुष्य की क्षमता के बाहर हो। सत्याग्रही मनुष्य के अपार बल को जानता है; इसलिए न तो असंभावनाओं से हतोत्साह होता है, न विघ्नों से घबराता

है। सत्याग्रही निराशा, असफलता और थकान को जानता ही नहीं। यदि हमने सत्य को आंशिक रूप में भी अनुभव कर लिया है तो बिना किसी बाहरी प्रेरणा और प्रोत्साहन के भी हमारी प्रगति दिन-दिन होती ही चली जायगी और हमारे पथ की बाधायें हुंकार-मात्र में हटती चली जायंगी।

सत्य में यह बल और यह सामर्थ्य कहां से आ गया ? सत्य चूंकि सारे जगत् में फैला हुआ है इसलिए उसकी ओर सबका सहज आकर्षण है। जो व्यक्ति केवल सत्य की ही साधना करता है; सत्य के पीछे तमाम सुखों, वैभवों और प्रियजनों को भी छोड़ने के लिए तैयार रहता है उसके प्रति शत्रु-मित्र सब खिंचते चले आते हैं। उनके अन्दर समाया हुआ सत्यांश उन्हें बड़े सत्यांश की ओर खींचकर ले जाता है। फिर सत्याग्रही दूसरे को कष्ट देना नहीं चाहता—दूसरे का बुरा नहीं चाहता, तो ऐसा कौन होगा जो उसकी सहायता करना न चाहे ? वह तो शत्रु से भी प्रेम करना चाहता है, तो शत्रु उससे कितने दिन तक शत्रुता रख सकेगा ? शत्रु या प्रतिपक्षी तक जिसके सहायक होने लगते हैं उसे सफलता क्यों न मिलती जायगी ? सफलता में उसे उतनी ही कमी रहेगी, या देरी लगेगी जितनी कि उसकी सत्य और अहिंसा की साधना में कसर रहेगी।

चूंकि समाज व्यक्तियों से ही बना है, इसलिए व्यक्तियों के और व्यक्तियों पर किये गये प्रयत्नों से समाज प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। समाज में कुछ ही व्यक्ति सूत्र-संचालक हुआ करते हैं। जन-समाज प्रायः उन्हींका अनुसरण करता है। यदि हमने उन कुछ लोगों को अपने सत्य और अहिंसा-बल से प्रभावित किया होगा तो उनके सारे समाज पर और उनकी बनाई प्रणालियों पर उसका असर हुए बिना कैसे रह सकता है ? सत्याग्रही जब यह कहता है कि मैं तो हृदय-

परिवर्तन चाहता हूँ तब उसका यह भाव होता है कि प्रतिपक्षी हमारे सत्य और अहिंसा-बल को अनुभव करे—पहले उसके मन में यह क्रिया होने लगती है कि 'अरे, इनका कहना ठीक है, इनकी बात वाजिब है, इनकी मांग न्यायोचित है।' इसके बाद हमारे कष्ट-सहन और उसके आत्म-निरीक्षण से उसके हृदय-कपाट खुलने लगते हैं और हम पर अत्याचार करते हुए भी उसका दिल भीतर से कमजोर पड़ता चला जाता है। फिर एक दिन आता है जब वह थक जाता है और हमारा मतलब पूरा करने की तैयारी दिखाता है। यही हृदय-परिवर्तन की क्रिया के चिन्ह हैं। जब वह हमारा मतलब पूरा कर देता है तब हृदय-परिवर्तन पूर्ण हो जाता है। सत्य और अहिंसा की यही विशेषता है कि वह प्रतिपक्षी की बुराई को मिटाकर उसे हमारा मित्र और साथी बनाता है एवं दोनों ओर प्रेम, सद्भाव, एकता की वृद्धि करता है—जहां कि असत्य और अहिंसा कभी एक को और कभी दूसरे को मिटाने का यत्न करते हुए द्वेष, मत्सर, कलह, वैर और इनके कितने ही बुरे साथियों का प्राबल्य समाज में करता रहता है।

शत्रु का मरना हमें सहज और स्वाभाविक इसलिए प्रतीत होता है कि हमने अपने स्वार्थ पर ही प्रधान दृष्टि रक्खी है। हम यह भूल जाते हैं कि हमारा शत्रु भी आखिर मनुष्य है, उसे भी घर-बार, बाल-बच्चे हैं, उसका भी समाज में कुछ स्थान है, उसमें भी आखिर कुछ गुण हैं और उनका भी समाज के लिए उपयोग है। कोई मनुष्य अपनी बुराई के ही बल पर समाज में नहीं टिका रह सकता। हमें उसकी अच्छाई ढूंढनें का यत्न करना चाहिए। ऐसा करने पर हम अपनी इस भूल को तुरन्त समझ लेंगे। यदि हम स्वार्थी होंगे तो हम न्यायी नहीं हो सकते। यदि हम न्यायी नहीं हैं, तो हममें और हमारे शत्रु में, जिसे कि हम

अन्यायी कहते हैं, अन्तर क्या रहा ? सिर्फ अंशों का ही अन्तर हो सकता हो। पर इसका भी कारण यह क्यों न हो कि हमें अभी इतने अन्याय और अत्याचार की सुविधा नहीं मिली है। यदि मूल, बुराई हमारे अन्दर मौजूद है और हमें उसकी चिन्ता नहीं है तो सुविधा और अनुकूलता की देर है कि हम अन्यायी और अत्याचारी बनने लग जायँगे। यदि हम अपने स्वार्थ को उतना ही महत्व देंगे जितना कि दूसरे के स्वार्थ को तो हमें किसी को मार-मिटाने की कल्पना अग्राह्य होने लगगी।

यहां हमें यह न भूलना चाहिए कि हिंसा का सम्बन्ध मनुष्य के मन और शरीर से है। किसी के शरीर और मन को कष्ट पहुँचाना ही हिंसा है। आत्मा तो दोनों की उससे परे है। आत्मा को कष्ट नहीं पहुँचता, परन्तु शरीर और मन को अवश्य पहुँचता है। यदि आत्मा की एकता और अमरता पर ही हमारी मुख्य दृष्टि है—शरीर और मन के सुख-दुःखों का विचार नहीं है तो फिर अत्याचार, पराधीनता आदि की भी शिकायत हमें क्यों करनी चाहिए ? हमें यदि गोली मारी जाय तो बुरा कहा जाता है; पर यदि हम मार दें तो उसे हम जायज मानते हैं; यह न्याय समझ में नहीं आता। यदि आप वास्तव में न्याय-प्रिय हैं तो दोनों के हित, कार्य और स्वार्थ पर समान दृष्टि रखिए। यदि आप दोनों एक ही साधन को जायज मानते हैं तब तो फिर आपके और उसके बीच न्याय-अन्याय का प्रश्न नहीं है—सत्यासत्त्य का प्रश्न नहीं है बल्कि बलाबल और अनुकूलता-प्रतिकूलता का प्रश्न है। यदि आप सूक्ष्म रीति से विचार करेंगे तो आप तब तक न्याय करने में समर्थ न हो सकेंगे जब तक आप हिंसा को अपने हृदय में स्थान देते रहेंगे। जब तक आपमें हिंसा भाव होगा तब तक आपकी वृत्ति अवश्य स्वार्थ की ओर अधिक झुकेगी और दूसरे का सुख, स्वार्थ, हित आपके हृदय में

सुरक्षित न रह सकेगा। यदि आप सच्ची समता, साम्य भाव चाहते हैं तो आपको शत्रु-मित्र के प्रति एक-सी न्याय-भावना रखनी होगी। जब तक शत्रु के प्रति मन में द्वेष है तब तक उसे कष्ट पहुँचाने की भावना बनी ही रहेगी। और जब तक द्वेष है तब तक समता और न्याय की सम्भावना कैसे रहेगी?

सत्याग्रही सत्य और न्याय के लिए लड़ता है। वह दिन-दिन प्रबल इसीलिए होता चला जाता है कि वह शत्रु-मित्र सबके साथ न्याय करना चाहता है—न्याय से ही रहना चाहता है। वह शत्रु को मिटाना नहीं, सुधारना चाहता है। इसलिए शत्रु भी उसकी बड़ाई को मानता है। सत्याग्रही अपने शरीरबल के द्वारा नहीं; बल्कि आत्मिक गुणों और बलों के द्वारा शत्रु को प्रभावित करना चाहता है। वह अपने शत्रु के हृदय पर विजय प्राप्त करना चाहता है। शारीरिक विजय की परिणति प्रति हिंसा में होती रहती है—जहां कि हार्दिक विजय की परिणति मैत्री में होती है। बल्कि सत्याग्रह में हार-जीत किसी एक पक्ष की नहीं होती—दोनों की विजय होती है—सत्याग्रही की उसके प्रतिपक्षी पर और प्रतिपक्षी की अपनी बुराइयों पर। इस तरह सत्य और अहिंसा अर्थात् सत्याग्रह उभय-कल्याणकारी है।

[८]

सत्याग्रह और आध्यात्मिकता

कितने ही स्थूल बुद्धि लोग आध्यात्मिक शब्द सुनते ही बिगड़ उठते हैं। जब यह कहा जाता है कि सत्याग्रह एक आध्यात्मिक बल है तब उनकी बुद्धि चक्कर खाने लगती है। वे महात्माजी को यह

कहकर कोसने लगते हैं कि इन्होंने राजनीति में धार्मिकता और आध्यात्मिकता घुसेड़कर देश को पीछे हटा दिया है। अतएव इस बात की परम आवश्यकता है कि हम आध्यात्मिक शब्द का मर्म समझने का यत्न करें।

हर वस्तु के दो रूप होते हैं—एक सूक्ष्म और मूल तथा दूसरा स्थूल और विस्तृत। वस्तु के सूक्ष्म और मूल रूप को आध्यात्मिक एवं स्थूल तथा विस्तृत रूप को व्यावहारिक कहते हैं। पहला अदृश्य और दूसरा दृश्य होता है। पहला बीज और दूसरा पेड़ है। इतना समझ लेने पर महात्माजी की धार्मिकता और आध्यात्मिकता का व्यावहारिक—राजनैतिक भाषा में अर्थ किया जाय तो वह ईमानदारी, दयानतदारी, वफादारी, सच्चाई, यही हो सकती है। महात्माजी कहते हैं कि सत्याग्रह का पूरा चमत्कार देखना हो तो उसेठीक उसी तरह चलाओ, जिस तरह मैं बताता हूँ। क्या उनका यह कहना अनुचित है? उन्होंने बार-बार कहा है कि सत्याग्रह को बल मिलता है मनुष्य को अपनी सच्चाई से। क्या अपने तईं सच्चा होना एक मनुष्य और स्वतंत्रता के सिपाही के लिए लाजिमी नहीं है? सच्चाई के मानी भी आखिर क्या हैं? तन, मन और वचन की एकता। यह एकता तो किसी भी कार्य की सफलता के लिए अनिवार्य है, फिर ३५ करोड़ को आजाद बनाने के यत्न में सफलता पाने के लिए इसकी उपेक्षा हम कैसे कर सकते हैं?

सत्याग्रह प्रेम का अस्त्र है। यदि हम शत्रु से वैसा ही प्रेम कर सकें, जैसा कि हम अपने भाई से करते हैं, तो हम अकेले भी उसे जीतने के लिए काफी हैं। परन्तु जो इतने ऊँचे न उठ सकें, वे यदि बदले की भावना भी निकाल दें तो सत्याग्रह के बल का अनुभव अपने अन्दर कर सकते हैं; और शत्रु भी उसे अनुभव किये बिना न रहेगा। यदि शत्रु का हृदय स्वार्थ से इतना गन्दा और अन्धा हो गया है कि हमारा प्रेमास्त्र सीधे

उसके हृदय को नहीं जगा सका, तो हमारे और उसके मित्रों और हमदर्दों पर उसका असर इतना जरूर पड़ेगा कि उनकी संयुक्त शक्ति उसके हृदय को जगने पर मजबूर कर देगी। सत्याग्रह तो अमोघ और पावक बल है। ऐसा बल है कि वह उस शस्त्र के बांधनेवाले को भी मनुष्यत्व में ऊँचा उठाता है, और जिस पर वह चलाया जाता है उसे भी ऊँचा उठनें के लिए मजबूर करता है। दोनों का फल होता है आम तौर पर समाज में मनुष्यता की वृद्धि। इस प्रकार सत्याग्रह की लड़ाई हमें पशु की भूमिका से उठाकर मनुष्य की भूमिका में ले जाती है।

यदि राजनैतिक आन्दोलन या युद्ध का अर्थ यह किया जाय कि उसका आधार तो प्रतिहिंसा ही है, शत्रु के प्रति घृणा और बदले की भावना ही वह बल है जिससे एक देशभक्त को बलिदान की प्रेरणा मिलती है, तब तो देशभक्ति, राष्ट्रीयता, राष्ट्र-प्रेम नाम की कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं रह जाती है। और यदि इसीका नाम देश-भक्ति या राष्ट्र-सेवा है, तो कहना होगा कि हमने मनुष्यता को पशुता के समकक्ष कर दिया है। प्रतिहिंसा पशु का धर्म है, मनुष्य में वह पशुता के अवशिष्ट को सूचित करती है। मनुष्य के विकास की गति पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर है और मानवी गुणों का समुचित विकास किये बिना हम न तो ऐसी राज्य-व्यवस्था और न समाज-व्यवस्था कायम कर सकेंगे, जिसमें बहुजन-समाज का अधिकांश हित सिद्ध हो सके। यदि घृणा, प्रतिहिंसा, बदला, इन भावनाओं की बुनियाद पर हम राज्य-व्यवस्था बनायेंगे तो समाज में इन्हींकी स्पर्धा मुख्य होगी और समाज के सूत्र उन्हींके हाथों में रहेंगे जो इन बलों में बढ़-चढ़ कर हों। क्या उनसे हम जनता के स्वराज्य की आशा रख सकते हैं? वर्तमान प्रजा-सत्ताओं में यद्यपि स्वतंत्र-देशभक्ति जैसी चीज भी है, तथापि मानना होगा कि उनके राष्ट्र-धर्म का आधार परस्पर का भय

अर्थात् हिंसा प्रति-हिंसा का बल है। किन्तु यदि हमें उसीका अनुकरण करना हो, तो कहना होगा कि हम पश्चिमी राष्ट्रों के वर्तमान आन्दोलनों से, स्थान-स्थान पर फूटती हुई क्रान्ति-धाराओं से, कोई शिक्षा लेना नहीं चाहते।

यदि राष्ट्र-धर्म, स्वातंत्र्य-प्रेम, स्वतंत्र वस्तु है, हम अपने राष्ट्र और स्वातंत्र्य के लिए सब कुछ स्वाहा कर दे सकते हैं, तो उसीकी साधना के लिए क्या हम अपने कुछ दोषों, कुछ भावनाओं को त्याग या बदल नहीं सकते ? मान लीजिए कि हमारे सामने प्रतिहिंसा का मार्ग बन्द हो— फिर वह हमको चाहे कितना ही प्रिय हो और हमारी दृष्टि में कितना ही फलोत्पादक हो—और शत्रु से प्रेम किये बिना, अथवा बदले का भाव हटाये बिना, हम उस पर हावी न हो सकते हों, तो क्या हमारे राष्ट्र-धर्म और स्वातंत्र्य-प्रेम का यह तकाजा नहीं है कि हम इतना-सा त्याग उसके लिए कर दें ? यदि हम इतना भी नहीं कर सकते, जो कि हमारे जीवन का एक अंश-मात्र है, और सो भी अवांछनीय अंश है, तो कैसे माना जा सकता है कि हम अपने-आपको उसके लिए सच्चे अर्थ में मिटा दे सकते हैं ? यह कितने आश्चर्य की बात है कि देश-हित के लिए हम नीच कर्म तक करनेवाले की तो सराहना करें, किन्तु यदि हमसे उच्च कर्म करने के लिए कहा जाय, उच्च भावनाओं का पोषण करने के लिए कहा जाय, तो हम कहें—'हम देवता नहीं हैं, हमसे तो असम्भव शर्तें करायी जाती है !' यदि हम देवता नहीं हैं, तो मैं कहता हूँ कि, हम पशु भी नहीं हैं। हम पशुता से मनुष्यता की ओर जा रहे हैं और देवता बनना पशु बनने से तो हरगिज बुरा नहीं है।

राजनीति क्या मनुष्य के समग्र जीवन और समाज के व्यापक जीवन से कोई भिन्न या बाहर की वस्तु है ? यदि नहीं, तो उसे मानव और

समाज-जीवन से मिलकर ही रहना पड़ेगा और उसकी पुष्टि ही उसे करनी पड़ेगी। यह कितनी अदूरदर्शिता है कि हम समस्त और सम्पूर्ण मानव-जीवन को भुलाकर राजनीति का विचार करें और फिर उन लोगों को बुरा कहें जो एक अंश पर नहीं बल्कि सम्पूर्णता पर विचार किये हुए हैं और अंश को अंश के बराबर एवं पूर्ण को पूर्ण के बराबर महत्व देते हैं।

सत्याग्रह के प्रयोगों के कुछ फल तो हमने देख लिये हैं। हमारी अधीरता यदि सत्याग्रह की पूरी कीमत चुकाने के लिए तैयार नहीं है, और जिस 'राजनीति' के हम हिमायती बन रहे हैं उसमें से यदि ईमानदारी, सच्चाई, वफादारी, दयानतदारी निकाल दी जाय, तो वह आजादी का परवाना बननें के बजाय गले की फांसी सिद्ध होगी, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

[९]

सत्याग्रह—व्यक्तिगत और सामूहिक

बहुतेरे लोग समझते हैं कि व्यक्गित और सामूहिक सत्याग्रह में केवल मात्रा का ही भेद है—दिये अलग-अलग जलते हैं तब तक व्यक्तिगत है और हजारों दिये एक साथ जलने लग गये तो वही सामूहिक हो गया। पर केवल इतना ही समझ लेना काफी नहीं है। व्यक्तिगत सत्याग्रह जहां गुण पर विशेष ध्यान देता है तहां सामूहिक में संख्याबल प्रधान है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उसमें गुण-बल वांच्छनीय नहीं है। उसका तो अर्थ सिर्फ इतना ही है कि कुछ व्यक्तियों में जिस गुण-बल की आशा रक्खी जा सकती है, वह सामूहिक में सहसा संभवनीय नहीं है। व्यक्तिगत सत्याग्रह की विशेषता या प्रभावोत्पादकता

उसकी शुद्धता और उज्ज्वलता में ही है, जहां कि सामूहिक की संख्या-बल में। निःसन्देह दोनों के प्रभाव में भी अन्तर होगा। व्यक्तिगत सत्याग्रह, शुद्ध—उज्ज्वल होने के कारण, सात्विक और निर्मल स्फूर्ति हृदय में पैदा करेगा; जिसके प्रति वह किया गया है उसमें भी, तथा आसपास के वायुमण्डल में भी वह प्रेरणा और पथ-दर्शन का काम देगा; किन्तु सामूहिक अपने संख्याबल से आपके कामको ही बन्द कर देगा, आपकी गति को ही, आपके यन्त्र या तन्त्र को ही रोक देगा। व्यक्तिगत सत्याग्रह का प्रभाव सीधा मनुष्य के हृदय पर पड़ेगा, वह उच्च भावनाओं और उच्च विचारों के क्षेत्र में विचरने लगेगा, और उच्च मनोवृत्ति से अपना निर्णय करेगा। इससे भिन्न, सामूहिक सत्याग्रह मुकाबलेवाले के सामने अपनें हानि-लाभ का चित्र खड़ा कर देगा, उसके मन में यह तुलना होने लगेगी कि इसकी मांग को पूरा कर देने में भलाई है, या अपनी बात पर डटे रहनें में। यदि सामूहिक सत्याग्रह काफी जोरदार है तो उसे यही निर्णय कर लेना होगा कि आपकी मांग पूरी कर दें। व्यक्तिगत सत्याग्रह अपनी निर्मल, उज्ज्वल, निर्धूम ज्योति से वायुमण्डल को प्रदीप्त करता है, तहां सामूहिक की एकत्र आग चारों ओर अपनी लपटें फैलाती हुई एक प्रचण्ड ज्वाला निर्माण करती है, जिसमें बड़े-बड़े भयंकर और विषैले जन्तु भी स्वाहा हो जाते हैं और सारा वायुमण्डल तपने लगता है। यदि समाज सुसंस्कृत है तो व्यक्तिगत सत्याग्रह काफी और शीघ्र-परिणामदायी हो सकता है; किन्तु यदि समाज हानि-लाभ की ही भाषा समझता और बोलता है, तो सामूहिक सत्याग्रह ही वहां अधिक और जल्दी परिणाम ला सकता है। सामूहिक सत्याग्रह में क्रान्तिकारिणी शक्ति है। किन्तु यह न मान लेना चाहिए कि सामूहिक सत्याग्रह के संचालकों से भी वही गुण-बल न

चाहा जाता हो, जो व्यक्तिगत सत्याग्रह से चाहा जाता है। जब तक व्यक्तिगत सत्याग्रह की परीक्षा में उत्तीर्ण संयोजक या संचालक न हों, तब तक सामूहिक सत्याग्रह चलाया ही नहीं जा सकता।

सत्याग्रह-युद्ध एक पूर्ण युद्ध-कला है, और वह विधि-वत् ही होना चाहिए। उसका पूरा शास्त्र अभी बन नहीं पाया है, और न बन ही सकेगा। क्योंकि सत्य नित्य नवीन विकास पानेवाली वस्तु है, इसलिए सत्याग्रह का शास्त्र कभी पूर्ण नहीं होगा, वह भी नित्य नया विकास पावेगा। फिर भी उसके स्थूल नियम और कसौटियां तो स्थिर होती जायँगी, जैसे-जैसे भिन्न-भिन्न प्रयोगों के फलाफल पर विचार होकर निर्णय बँधते जायँगे। मनुष्य की अपनी अपूर्णता भी सत्याग्रह-शास्त्र को पूर्ण न होने देगी। और इसमें कुछ हानि का भी डर न रखना चाहिए। सत्याग्रह में सत्य की शोध तो जारी रहती ही है अर्थात् एक परिणाम के अनुभव के आधार पर दूसरा प्रयोग किया और उसके परिणाम पर तीसरा। इसी तरह जब तक एक वैज्ञानिक की तरह सत्याग्रही की सत्यशोधक-वृत्ति जागृत और उद्यत है तब तक हानि का कोई डर नहीं है। क्योंकि सत्याग्रह का मूल बल आन्तरिक वृत्ति पर जितना अवलम्बित है उतना बाहरी नियमोपनियम पर नहीं।

[१०]

सत्याग्रह—वैध या अवैध

यद्यपि केवल भारतवर्ष ही नही सारा जगत् पिछले २० वर्षों से सत्याग्रह के व्यक्तिग तऔर सामूहिक प्रयोगों से परिचित है फिर भी हमारे देश में तथा बाहर भी एक ऐसा समुदाय है जो सत्याग्रह को

'अवैध' मानता है। इसलिए यहां हम इस विषय पर भी विचार कर लेना चाहते हैं।

सविनय कानून-भंग सत्याग्रह का एक राजनीतिक स्वरूप है और इसी पर आपत्ति उठाई जाती है। वे कहते हैं कि राज-नियमों के भंग करने का किसीको अधिकार नहीं है। राज-नियम यानी कानून आखिर तो प्रजा के प्रतिनिधियों के ही द्वारा प्रजा के भले के लिए ही बनाए जाते हैं। फिर उनको भंग करनेवाला प्रजा-द्रोही, प्रजा का मान भंग करनेवाला, समाज की व्यवस्था को तोड़नेंवाला क्यों न माना जाय ? और ऐसे प्रजा-द्रोह को यदि वैध माना जाय तब तो व्यवस्था, शांति, प्रजा-हित सबका खातमा ही समझना चाहिए। सरकार के लिए यह एक जटिल समस्या हो जायगी। यही एक ऐसा बड़ा काम हो जायगा कि उसको सुलझाने और उसका मुकाबला करने में ही उसकी सारी या अधिकांश शक्ति लगती रहेगी एवं दूसरे जन-हितकारी कामों के लिए उसे अवकाश ही नहीं रहेगा। अतएव कानून-भंग का अधिकार किसीको देना सरकार और समाज का नाश करना है।

सत्याग्रह या सविनय कानून-भंग के हिमायती कहते हैं कि कानून प्रायः बहुमत से पास होते हैं ओर उस अंश में अल्प-मत पर उनका प्रयोग उनकी इच्छा के विरुद्ध होता है, अतएव यदि वे नियम या कानून या उसके किसी अंश को न मानें तो उनका यह व्यवहार सर्वथा नीतियुक्त है। फिर यदि नियम या कानून ऐसा हो जिससे उनकी समझ में प्रजा के वास्तविक नहीं, बल्कि झूठे प्रतिनिधियों द्वारा बनाये गये हों, जिन से सरेदस्त प्रजा का पोषण नहीं, शोषण होता हो, तो उनका तोड़ा जाना, उनके खिलाफ बगावत खड़ी करना, धर्म और पुण्य कार्य है, उनके आगे सिर झुकाना अधर्म और पाप है। यदि ऐसे नियमों के विरोध और

भंग करने का अधिकार प्रजा और उसके प्रतिनिधियों को न रहे तो अनर्थ होगा। अन्याय और अत्याचार का ठिकाना न रहेगा। मुट्ठी भर लोग धन-बल या प्रभाव-बल से प्रजा के प्रतिनिधियों के आसन पर बैठ कर प्रजा के हित के नाम पर प्रजा को चूसते रहेंगे और मनमानी करते रहेंगे। क्या इसीका नाम व्यवस्था और सरकार है? ऐसी सरकार का विरोध करने का अधिकार प्रजा के पास न रहनें से ही एक ओर सशस्त्र बगावत और क्रांतियां होती हैं, एवं प्रजा शासकों के अत्याचार से त्राहि-त्राहि करती है। भारत को छोड़ दीजिए जहां कि विदेशी शासन है; किंतु उन देशों को ही लीजिए जहां कि स्वदेशी शासन है। वहां भी यह पुकार जोरों से मच रही है कि थोड़े से प्रभावशाली और बलशाली व्यक्ति मनमाने तौर पर प्रजा की बागडोर घुमाते हैं, थोड़े लोगों के, धनी, रईस, जमींदारों के, हितों की ही विशेष परवा करते हैं, और जन-साधारण, किसान-मजदूरों की पूछ और सुनवाई नहीं होती। यदि सरकार समाज की बनाई हुई होती है, और यदि समाज में जन-साधारण किसान-मजदूरों की ही संख्या अधिक है, तो फिर कानून ऐसे ही बनने चाहिएँ जिनसे जनता का भला हो। ऐसे ही कानून नीतियुक्त हो सकते हैं। किंतु यदि इसके विपरीत होता हो तो ऐसे कानून का बल नैतिक नहीं रह जाता और इसलिए उन्हें तोड़ना किसी प्रकार अपराध या प्रजाद्रोह नहीं हो सकता।

दोनों प्रकार की दलीलें सुननें के बाद हम स्पष्टतः इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि केवल अक्षरार्थ करने से पहले पक्ष की बात भले ही एक हद तक ठीक प्रतीत होती हो, किंतु यदि मूलाधार पर ध्यान रक्खा जाय तो दूसरे पक्ष का ही कथन यथार्थ है। शरीर की अपेक्षा आत्मा का महत्त्व सदा से ही अधिक रहा है, रहना चाहिए और रहेगा। कानून

शरीर है, जन-हित आत्मा है। यदि कानून जन-हित का विरोधी हो तो उसका भंग करना सब से बड़ा जन-हित है। और जिन पर समाज या शासन व्यवस्था का भार हो उन्हें उचित है कि वे कानून भंग करने वालों की बातों को प्रेम और गौर से सुनें और उनका समाधान करने का यत्न करें, न कि सत्ता-बल से उन्हें दबावें या कुचलें। प्रजा-हित का जितना दावा शासक करते हैं, कम से कम उतना ही दावा वे कानून भंग करनेवालों का मान लेंगे तो फिर उन्हें उनके दमन करने का प्रयोजन ही न रह जायगा। यदि कानून-भंग करनेवालों की एक बड़ी जमात बन गई तब तो शासकों के लिए, यदि वे सच्चे अर्थ में शासक हैं तो और भी उचित है कि उनकी मांगों पर गौर करें और उनकी पूर्ति करें। जो शासक ऐसा नहीं कर सकते हैं, समझना चाहिए कि उनकी व्यवस्था का नैतिक आधार खिसक गया है और वह अधिक समय तक नहीं टिक सकेगी।

[११]

उपवास और भूखहड़ताल

सविनय कानून-भंग की तरह सत्याग्रह के दो और अंश हैं—उपवास और भूखहडताल। आत्मशुद्धि और प्रायश्चित्त की भावना से जो अनशन किया जाता है उसे उपवास और दूसरे से अपनी न्यायोचित मांग को पूरा कराने के उद्देश से जो अनशन किया जाता है उसे भूख-हड़ताल कहते हैं। भारतवासियों के धार्मिक जीवन में यद्यपि उपवास कोई नई वस्तु नहीं है, परन्तु फिर भी गांधीजी जिस तरह और जिस स्वरूप में उसे देश के सामने रख रहे हैं वह प्रत्येक हिन्दू ही नहीं,

भारतवासी के मनन करने योग्य है। गांधीजी ने अपने जीवन में कई बार उपवास किये हैं। उन पर इधर-उधर आपस में और सार्वजनिक-रूप से टीका-टिप्पणियां तो बहुत हुईं, परन्तु मुझे दुःख है कि, हमने इन उपवासों के महत्व और रहस्य को समझने का, जितना कि चाहिए, यत्न नहीं किया। यह उदासीनता या उपेक्षा हमारी निर्बलता और निर्जीवता की सूचक है। जीवित मनुष्य वह है जो नये विचार, नये प्रकाश और नवीन धारा के लिए अपना जीवन-द्वार खुला रखता है। विवेक से काम लेना एक बात है और दरवाजा बन्द कर रखना या आगन्तुक की उपेक्षा करना दूसरी बात है। उपेक्षा से विरोध हजार दर्जे अच्छा। विरोध में जीवन होता है। विरोध से जीवन खिलता है। उपेक्षा और उदासीनता मीठे जहर की पिचकारी है। उपेक्षा और उदासीनता मनुष्य और समाज को अन्त में निर्बल, भीरु और निस्सत्व बनाकर छोड़ते हैं।

उपवास के दो स्वरूप हैं—एक आध्यात्मिक, अर्थात् जिसका प्रधान असर कर्त्ता पर होता है और दूसरा व्यावहारिक, जिसका प्रधान असर दूसरों पर होता है। विवाद अध्यात्मिक उपवास के सम्बन्ध में इतना नहीं खड़ा होता जितना व्यावहारिक के सम्बन्ध में। आत्मशुद्धि के लिए उपवास की योग्यता को प्रायः सब स्वीकार करते हैं, किन्तु दूसरों को सुधारने या दूसरों से अपनी मांग पूरी कराने के लिए किये गये उपवास अर्थात् भूख-हड़ताल को लोग या तो बलात्कार कहते हैं या कायरता। मुंड़चिरापन कहकर लोग उसका मखौल भी उड़ाते हैं। परन्तु यदि गम्भीरता से वे इस पर सोचने लगें तो तुरन्त जान जायँगें, कि जो मनुष्य किसी उच्च और न्याययुक्त उद्देश के लिए रोज थोड़ा-थोड़ा घुल घुलकर अपने प्राण का बलिदान करे वह कायर कैसे कहा जा सकता है? उसी प्रकार जो दूसरे को किसी प्रकार का कष्ट न देकर स्वयं मरणान्त

१०

कष्ट उठा लेता है वह अत्याचारी कैसे कहा जा सकता है ? यदि मैं आपके लिए उपवास करता हूँ तो मैं आपके हृदय को स्पर्श करता हूँ। आपका दिल तुरन्त आपके दिमाग को जाग्रत करता है और आप सोचने लगते हैं कि यह उपवास जा है या बेजा ? मेरी इसमें जिम्मेवारी कहां तक है ? वह किसी एक नतीजे पर पहुँचेगा, या तो उपवास-कर्त्ता गलती पर है, या उसका खयाल गलत है। यदि उसवास-कर्त्ता उसकी समझ से गलती पर है तो उसमें यह हिम्मत आवेगी कि वह उसके बलिदान को सहन करे। यदि उसका खयाल गलत है तो उसे उसके सुधारने की प्रेरणा होगी और बल मिलेगा। दोनों दशाओं में वह किसी एक निर्णय पर पहुँचेगा और वह उसका अपना निर्णय होगा। इस सारी विधि में, बतलाइए, बलात्कार कहां है ?

फिर जिस मनुष्य ने हिंसक साधनों का परित्याग कर दिया है, उसके पास अपने कार्य-साधन के लिए कोई अन्तिम बल भी तो होना चाहिए न। हिंसा में यदि अन्तिम बल दूसरों को मार डालना है, तो अहिंसा में अन्तिम बल अपनें आपको मिटा देना है। सो, उपवास करते-करते अन्त में प्राणतक दे देना अर्थात् प्रायोपवेशन करना अहिंसक का ब्रह्मास्त्र है। हां, बेशक उसके लिए बहुत योग्यता और सावधानी की जरूरत है। परन्तु यदि किसीनें गलत बात पर और बिना प्रसंग के ऐसे ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर दिया तो घाटे में खुद वही अधिक रहेगा और अपनी साख एवं प्रतिष्ठा खो बैठेगा। किन्तु कई बार प्रयोग के दोष को हम सिद्धान्त का दोष मान लेते हैं। उसमें दबाव की कल्पना कर लेते हैं। यह भूल है। यहां इसे जरा विस्तार से समझ लें।

यदि भूख-हड़ताल का 'इशु' (प्रयोजन) गलत नहीं है, तो फिर भूख-हड़ताल मूलतः दूसरे पर दबाव डालनेवाली नहीं है। अपनी किसी

न्यायपूर्ण मांग को पूरा करवाने के लिए जब भूख-हड़ताल की जाती है, तब हम ऊपर कह चुके हैं कि हड़ताली जबरदस्ती नहीं करता है। वह सिर्फ प्रतिपक्षी के हृदय को स्पर्श करके मस्तिष्क को जाग्रत करता है। मस्तिष्क सोचने लगता है कि हड़ताली की मांग पूरी की जाय या नहीं। इसके लिए उसे मांग के औचित्य-अनौचित्य पर विचार करना पड़ता है; अपने हानि व लाभ उसके सामनें खड़े होनें लगते हैं। फिर वह दो में से एक बात को चुन लेता है। यह हो सकता है कि कहीं तो वह अपने लाभ को महत्व दे, कहीं नहीं। किन्तु जो-कुछ वह निर्णय करता है, खूब विचार-मन्थन के बाद करता है। जहां इतनी मानसिक क्रियायें होती हों, वहां दबाव की कल्पना कैसे की जा सकती है? दबाव तो तब हो सकता है, जब सोचने और निर्णय करने का अवसर न दिया जाय। 'इशु' यदि गलत है, मांग यदि न्याययुक्त नहीं है, तो वह दुराग्रह हो सकता है; किन्तु उसमें दबाव नहीं हो सकता। यदि आप यह समझते हैं कि हड़ताली की मांग न्यायोचित है, तो आप उसे स्वीकार कर लें, यदि समझते हैं कि कोरा हठ है, दुराग्रह है, तो उसे मर जाने दें। दोनों चुनाव आपके सामने हैं। इनमें से किसी एक के लिए आपको मजबूर नहीं किया जाता है। अब आप यदि मांग की न्याय्यान्याय्यता को भूलकर हड़ताली के कष्टों या मरण के भय से किसी बात को मंजूर कर लेते हैं, तो यह आपकी गलती है, आपकी कमजोरी है, न कि भूख-हड़ताल के सिद्धान्त का दोष।

यदि आपका निर्णय आपको न्यायपूर्ण मालूम होता है, तो आप दृढ़ रहिए; हड़ताली को मर जानें दीजिए। इसमें घबरानें या डरने की बात ही क्या है? यदि हड़ताली सत्य और न्याय पर है, तो आखिर तक अविचल रहेगा और उसका सत्य आपको ढीला कर देगा; यदि

आप सत्य पर हैं, तो वह आगे चलकर ढीला पड़ जायगा, हड़ताल को आगे चलाने का उत्साह कम होता चला जायगा। यदि कोई दुराग्रह-पूर्वक प्राणत्याग ही कर दे, तो अपने दुराग्रह का फल पा गया। यदि न्यायपूर्ण मांग के होते हुए भी उसको प्राण ही छोड़ देना पड़े तो वह सत्य के खातिर मर मिटा। उसका बलिदान आपसे अपनी मांग पूरी कराने का बल दूसरों में उत्पन्न करेगा। मनुष्य आखिर अन्तिम अस्त्र का प्रयोग ही तो कर सकता है, फिर वह अस्त्र चाहे पिस्तौल हो, चाहे अपना प्राणत्याग। सफलता की गारण्टी तो कोई भी नहीं दे सकता है। यदि दे सकता है तो शस्त्र नहीं, बल्कि प्राणोत्सर्ग ही दे सकता है।

मैं तो जितना ही अधिक विचार करता हूँ, सत्याग्रही के पास अन्तिम बल के रूप में, हिंसात्मक शस्त्रों की जगह, उपवास और अन्त में प्रायोपवेशन ही उपयुक्त दिखाई पड़ते हैं। शस्त्र-युद्ध में सेनापति यदि हजारों सशस्त्र सैनिकों की फौज लेकर लड़ सकता है तो निःशस्त्र-युद्ध में भी हजारों सत्याग्रही जिस प्रकार जेलों में जा सकते हैं उसी प्रकार अनशन द्वारा प्रायोपवेशन भी कर सकते हैं। हां, शस्त्र-युद्ध की तरह अभी इसके नियम-उपनियम नहीं बने हैं; किन्तु जैसे-जैसे इसके प्रयोग सफल होते जायँगे और हम इस दिशा में आगे बढ़ते जायँगे तैसे-तैसे विधि-विधानों की रचना अपने आप होती जायगी। आवश्यकता है उत्साह के साथ इनके प्रयोगों को देखने और करने की। मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि सत्याग्रह दुनिया की सुव्यवस्था और शान्ति के लिए एक अमूल्य ईश्वरी प्रसाद सिद्ध हुए बिना न रहेगा।

स्वतंत्रता : नीति के प्रकाश में—

[४]

[१]

धर्म और नीति

भारतीय स्वतन्त्रता की साधना में धर्म, नीति, ईश्वर, विवाह-प्रथा ये ऐसे विषय हैं जिन पर अक्सर चर्चा होती रहती है और एक ऐसा समूह देश में है जो इनका मखौल उड़ाता है और इन्हें जीवन के विकास के लिए अनावश्यक या हानिकर मानता है। अतएव यह आवश्यक है कि हम इन विषयों पर भी अपना दिमाग साफ कर लें और अपने विचार सुलझा लें। नीति के प्रकाश में हम स्वतंत्रता के स्वरूप को देखें और समझें। हम यह भी जान लें कि धर्म, ईश्वर, विवाह इनका नीति से, समाज-विकास से, क्या सम्बन्ध है और समाज के उत्कर्ष में इनका कितना स्थान है। धर्म के नाम से चिढ़ उठनेवाले भाइयों को जब यह बताया जाता है कि सत्य, अहिंसा, पवित्रता, अस्तेय, अपरिग्रह, भूतदया, आदि धर्म के मुख्य नियम या अंग हैं तो वे या तो

यह कह देते हैं कि ये आध्यात्मिक बातें हैं या उन्हें नीति-नियम बताकर धर्म से उनका नाता तोड़ देते हैं। अतएव हम देखें कि धर्म और नीति में क्या सम्बन्ध है और वे एक ही हैं या अलग-अलग।

नीति शब्द 'नय्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है ले जाना। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना। इससे यह भले प्रकार जाना जाता है कि नीति का काम है ले जाना, प्रेरणा करना, संकेत करना; और धर्म का कार्य है धारणा करना, स्थिर करना, पुष्टि करना। नीति जिस काम का आरम्भ करती है धर्म उसका पोषण करता है। नीति पहली सीढी और धर्म दूसरी सीढी है। नीति पहली आवश्यकता और धर्म दूसरी या अन्तिम।*

एक मनुष्य का दूसरे से जब सम्बन्ध आता है और वे परस्पर व्यवहार के नियम बनाते हैं तब उनका नाम है नीति। पर जब हम व्यक्ति, समाज के धारण, पोषण और विकास के नियम बनाते हैं तब उनका नाम है धर्म। नीति को हम व्यवहार-नियम और धर्म को जीवन-नियम कह सकते हैं। इस अर्थ में नीति धर्म का एक अंग हुई। व्यवहार नियम जीवन-नियम के प्रतिकूल या विघातक नहीं बन सकते। इसलिए नीति धर्म के प्रतिकूल आचरण नहीं कर सकती। वह धर्म की सहायक है, विरोधक और बाधक नहीं। धर्म के जितने नियम हैं, उन्हें हम स्थूल-रूप में नीति कह सकते हैं। उनका बाह्यांग नीति है और जब बाह्य और आन्तर, स्थूल और सूक्ष्म, दोनों रूपों और प्रभावों का ध्यान किया जाता है तब वे धर्म कहलाते हैं। उदाहरण के लिए चोरी न करना

* इस प्रसंग पर हम परिशिष्ट २ में दिये 'हिन्दूधर्म की रूप-रेखा' और 'हिन्दूधर्म का विराट् रूप' नामक लेखों को पढ़ने की सिफ़ारिश पाठकों से करते हैं। लेखक

नीति भी है और धर्म भी है। केवल किसी की भौतिक वस्तु को चुराना नीति की भाषा में चोरी हुई; परन्तु मन में चोरी का विचार भी आने देना, मन से चोरी कर लेना, या आवश्यकता से अधिक धन का संग्रह करना धर्म की भाषा में चोरी हुई। नीति का विकास और विस्तार धर्म है। नीति यदि मांडलिक है तो धर्म चक्रवर्ती है। नीति यदि अंश है तो धर्म सम्पूर्ण है। नीति के बिना धर्म लंगडा है और धर्म बिना नीति विधवा है। नीति प्रेरक है और धर्म स्थापक। नीति में गति है, जीवन है; धर्म में स्थिरता है, शान्ति है।

विचार के लिए जीवन भिन्न-भिन्न भागों में बँट जाता है—सामाजिक, राजकीय, आर्थिक आदि। इसी कारण नीति और धर्म में भी अंग-प्रत्यंग फूट निकले। केवल लोक-व्यवहार के नियम समाज-नीति, राज-काज के नियम राजनीति और अर्थ-व्यवस्था के नियम अर्थ-नीति कहलाये। ध्यान रखना चाहिए कि ये सब नीतियां परस्पर पोषक ही हो सकती हैं और होनी चाहिएँ। किसके मुकाबले में किसे तरजीह दी जाय, यह प्रश्न जरूर उठता है। पर यह निर्विवाद है कि इन सबका सम्मिलित परिणाम होना चाहिए व्यवहार की सुव्यवस्था, जीवन का उत्कर्ष, जीवन का नियमन। राजकाज और अर्थ-साधन ये समाज-व्यवस्था और सामाजिक संगठन के संयोजक हैं। इसलिए सामाजिक जीवन में राज-सत्ता या राज-नीति को अथवा अर्थ-बल को इतनी प्रधानता कदापि न मिलनी चाहिए कि जिससे वे समाज को अपाहिज और पंगु बना डालें। नीति ऐसी अव्यवस्था को रोकती है और धर्म उसे बल प्रदान करता है। नीति में जहां केवल सद्-व्यवहार का बोध होता है वहां धर्म में निरपेक्षता का भी भाव आता है। नीति बहुत अंशों तक सापेक्ष्य है, अर्थात् दूसरे से सदृश व्यवहार की आशा रखती है; परन्तु धर्म केवल अपने ही कर्त्तव्य पर दृष्टि रखता है।

दूसरा अपने कर्त्तव्य का पालन न करता हो, उसके लिए निश्चित नियम के अनुसार न चलता हो, तब भी धार्मिक मनुष्य अपने कर्त्तव्य से मुंह न मोड़ेगा, अपनी ओर से नियम का भंग न होने देगा। नीति का आधार न्याय-भाव है और धर्म का कर्त्तव्य-भाव या सेवा-भाव। सेवा-भाव का अर्थ है अपने हित को गौण समझकर दूसरे के हित को प्रधान समझना और उसकी पूर्ति में अपनी शक्ति लगाना। न्याय समान-व्यवहार की आकांक्षा रखता है और कर्त्तव्य निरपेक्ष होता है। नीति जीवन विकास की प्रथमावस्था है और धर्म अन्तिम अथवा परिपक्व।

अब हम देख सकते हैं कि नीति और धर्म एक दूसरे से जुदा नहीं हो सकते। जीवन से तो दोनों किसी प्रकार पृथक् हो ही नहीं सकते। नीतिमान् को हम सदाचारी कहते हैं, और धार्मिक उसे कहते हैं, जो निरपेक्ष भाव से धर्म के नियमों का पालन करता है। जब हम बिना किसी अपेक्षा के, फलाफल की चिन्ता को छोड़कर, अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं तब उस भावना या स्पिरिट का नाम है धार्मिक-वृत्ति। यह धार्मिक-वृत्ति ही श्रद्धा की जननी है। यह विश्वास कि मेरा भाव और आचरण अच्छा है तो इसका फल अच्छा ही होगा, श्रद्धा है। धार्मिक जीवन के बिना यह दृढ़-विश्वास मनुष्य में पैदा नहीं हो सकता। यही कारण है, जो धार्मिक मनुष्य अक्सर कट्टर होते हैं। कभी-कभी उनकी कट्टरता हास्यास्पद हो जाती है, यह बात सही है; परन्तु यह तो उनकी वृत्ति का दोष नहीं, विवेक की कमी है।

यह विवेचन हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि नीति और धर्म के बिना मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन बालू पर खड़ा हुआ महल है। नीति और धर्म का मखौल उड़ाकर हम अपने कितने अज्ञान और अविवेक का परिचय देते हैं, यह भी इससे भली-भांति प्रकट हो

जाता है। जब कि व्यवहार-नियम के बिना समाज-व्यवस्था असंभव है, जब कि निरपेक्षता के बिना और उन नियमों के सूक्ष्म और व्यापक पालन के बिना—अर्थात् धर्माचरण के बिना—समाज की स्वार्थ-साधुता अतएव जन-साधारण का पीड़न मिट नहीं सकता तो नीति और धर्म की अवहेलना और दिल्लगी करके हम कौनसा अपना और समाज का हित-साधन कर रहे हैं, यह समझ में नहीं आता। हमें चाहिए कि हम हर बात को शान्ति और गहराई के साथ सोचें और फिर उसका विरोध या खण्डन करें, अन्यथा हम समाज और स्वतंत्रता के सेवक बनने के बदले घातक सिद्ध होंगे।

[२]

ईश्वर-विचार

ईश्वर के सम्बन्ध में लोगों की भिन्न-भिन्न धारणायें हैं। कोई उसे एक वस्तु मानते हैं और कोई तत्त्व। सर्व-साधारण अवतारों और देवी-देवताओं के रूप में उसे मानते हैं। जंगली जातियां जीव-जन्तु पेड़ और पशु को ईश्वर समझती हैं। कई लोग भूत-प्रेत को ईश्वर का रूप मानते हैं। कितने ही मूर्ति को, गुरु को, ईश्वर समझते हैं। आम तौर पर लोग ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, जगसंचालक, सर्व-शक्तिमान्, मंगल-मय, पतितपावन मानते हैं। वे समझते हैं, ईश्वर कहीं आसमान में बैठा हुआ राज्य कर रहा है। वह सारे ब्रह्माण्ड का महाराजा है, उसके अनेक दास-दासियां हैं, अनेक रानियां-पटरानियां हैं; उसका दरबार है, न्याय और पुलिस-विभाग है, पुण्यात्मा को वह स्वर्ग देता है, पापी को नरक में पहुँचाता है। अपनी-अपनी समझ और पहुँच के अनुसार लोगों ने

ईश्वर को तरह-तरह से मान रक्खा है। फलतः जितने विचार उतने ईश्वर हो गये हैं। हरेक अपने ईश्वर को बड़ा और अच्छा समझता है और दूसरे के ईश्वर को छोटा और मामूली। गँवार लोग अपने-अपने ईश्वर का पक्ष लेकर लड़ भी पड़ते हैं। हिन्दू-मुसलमान भी तो अपनें-अपने ईश्वर के लिए घण्टा-घड़ियाल और नमाज के सवाल पर आपस में खून खराबी कर बैठते हैं। ईसाइयों और मुसलमानों के धर्मयुद्ध ईश्वर ही के नाम पर तो हुए हैं। बोद्धों, जैनों और ब्राह्मणों में भी ईश्वर ही के लिए लड़ाइयां हुई हैं। ऐसी दशा में एक विचारशील मनुष्य के मन में यह प्रश्न उठता है कि आखिर यह ईश्वर है क्या चीज ? यह है भी या नहीं ? है तो इसका असली रूप क्या है ? इस प्रश्न पर विचार करनेवाले दुनिया के तत्त्वदर्शी तीन भागों में बँट गये हैं (१) आस्तिक (२) नास्तिक और (३) अज्ञेयवादी। आस्तिक वे जो मानते हैं कि ईश्वर नामक कोई चीज है; नास्तिक वे जो कहते हैं कि ईश्वर-वीश्वर सब ढोंग है; अज्ञेयवादी वे जो कहते हैं, भाई, कुछ समझ सें नहीं आता वह है या नहीं। आस्तिकों में तीन प्रकार के लोग हैं—

(१) वे जो ईश्वर को वस्तुरूप—शक्तिरूप—मानते हैं।

(२) वे जो व्यक्तिरूप मानते हैं।

(३) वे जो तत्त्वरूप मानते हैं।

शक्ति और तत्त्वरूप में ईश्वर निर्गुण-निराकार माना जाता है और व्यक्ति-रूप में सगुण-साकार मानकर उसकी पूजा-अर्चा की जाती है।

मैं जब इन सब बातों पर विचार करता हूँ तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि ईश्वर एक आदर्श है। आखिर ईश्वर की कल्पना या अनुभव करने वाला है तो मनुष्य ही। आरम्भ में चमत्कार-जनक और भयकारक वस्तु को वह ईश्वर मानने लगा, अपनी रक्षा के लिए उसकी प्रार्थना

करने लगा। बाद को वह उसे मंगलदायक और पतित-पावन समझने लगा और अपने भले के लिए उसकी स्तुति करने लगा। जब उसकी खोज और अनुभव और आगे बढ़ा और प्रत्येक भिन्न रूप रखनेवाली वस्तु में भी एक चीज उसे समान-रूप में (Common) दिखाई देने लगी तब उसे उसने एक तत्त्व-रूप माना। मनुष्य-जाति के विचार और अनुभव में जैसे-जैसे फर्क पड़ता गया वैसे-वैसे ईश्वर के रूप और सत्ता में भी अन्तर होता गया। आगे बढ़ना, ऊँचा उठना और सुख पाना, ये तीन इच्छायें मनुष्य-मात्र में सामान्य रूप से दिखाई पड़ती हैं। उसे एक ऐसे आदर्श की आवश्यकता प्रतीत हुई, जो इन इच्छाओं की पूर्ति में सहायक हो। उसने तमाम शक्तियों, अच्छाइयों और पवित्रताओं का एक समुच्चय बनाया और उसको अपना ईश्वर, आराध्यदेव, अन्तिम लक्ष्य मान लिया।

यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपूर्ण अधकचरा पैदा हुआ है। वह पूर्णता की ओर जाना चाहता है। वह गुण और दोष से युक्त है। दोषों को दूर करके वह गुणमय बन जाना चाहता है। जब गुणमय बन जाता है और इस स्थिति में स्थिर रहता है, तब वह अपने अन्दर निर्गुणत्व का अनुभव करने लगता है। वह जगत् के वास्तविक सत्य और तथ्य को पा लेता है। इसीलिए कहते हैं कि सत्य ही परमेश्वर है। सत्य या ईश्वर एक आदर्श है। दूसरे शब्दो में तमाम अच्छाइयों और सच्चाइयों का समूह ईश्वर है। या यों कहें कि ईश्वर वह वस्तु है जिसमें संसार की तमाम अच्छाइयों, अच्छी शक्तियों और अच्छे गुणों का समावेश है। ईश्वर वह आदर्श है, जहां से तमाम अच्छी और सच्ची बातों का आरंभ और अन्त होता है। वहां से अच्छी और सच्ची बातों एवं अच्छाइयों और सच्चाइयों का उद्गम और स्फुरण होता है। जो आदर्श मनुष्य को

बुराइयों से हटाकर अच्छाइयों की तरफ, असत्य की ओर से हटाकर सत्य की ओर खींचता है वह ईश्वर है। आदर्श एक चुम्बक होता है। मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए आदर्श बनाना पड़ता है। कई ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष आज भी भिन्न-भिन्न बातों और गुणों में हमारे लिए आदर्श हैं। आदर्श वह वस्तु है, जिसके अनुसार मनुष्य अपनेको बनाना चाहता है। मनुष्य अपनी रुचि के ही अनुसार अपनेको बनाने की कोशिश करता है। रुचि सबकी भिन्न-भिन्न होती है। इसीलिए आदर्श भी सबके भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु कोई मनुष्य इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि उसे अच्छा बनने की, सच्चा बनने की चाह नहीं है। सबकी इसमें रुचि पाई जाती है। इसलिए अच्छाई और सच्चाई का आदर्श, ईश्वर, सबके रुचि की वस्तु हुआ। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, ये ईश्वर की किसी-न-किसी अच्छाई और सच्चाई के प्रतिनिधि हैं। इसलिए लोग इनमें आंशिक ईश्वरत्व का अनुभव करते हैं।

मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार तीन बड़े गुणों और शक्तियों का आरोप ईश्वर में किया (१) सर्वशक्तिमत्ता, (२) मंगलमयता और (३) पतित-पावनता। मनुष्य शक्ति का उपासक है। वह चाहता है कि तमाम शक्तियों का सम्मेलन उसमें हो। कर्त्तव्य-पथ में चलने के लिए उसके पास अतुल बल और साहस हो। इसलिए उसने ईश्वर को सर्वशक्तिमान् माना और उससे बल पाने की चेष्टा करने लगा। मनुष्य चाहता है कि वह दुःखों, कष्टों, यातनाओं विघ्नों और संकटों से मुक्त रहे अथवा इनसे घबरा न जाय। अतएव उसने ईश्वर को मंगलमय माना और सदा मंगल चाहने लगा। इसी प्रकार जब वह दुष्कर्म कर बैठता है तब उससे मुक्त होने या ऊँचा उठने के लिए किसी भावना का सहारा चाहता है। इसीने ईश्वर की पतित-पावनता

को जन्म दिया। इसके द्वारा वह यह स्फूर्ति पाता है कि ईश्वर गिरे हुओं को उठाता है, दुखियों को अपनाता है, सताये हुओं को उबारता है। इससे उसे अपने उद्धार का आश्वासन मिलता है। अपनी कमजोरियों को दूर करने में उत्साह मिलता है।

किन्तु इसपर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए इतने परावलम्बन की क्या आवश्यकता है? मनुष्य स्वयं अपनी बुद्धि से अच्छे और बुरे का निर्णय करके अच्छाई को क्यों न ग्रहण करता रहे? तत्त्वत: यह बात ठीक भी समझी जाय तो कुछ गिने-चुने लोगों का काम तो बिना किसी आलम्बन के चल जाय; किन्तु सर्वसाधारण तो अज्ञ या अल्पज्ञ होते हैं। साधारण लौकिक या व्यावहारिक कार्यों के लिए भी उन्हें दूसरों का सहारा लेना पड़ता है तब अपने जीवन को बनानें या सुधारने के जैसे कठिन और श्रमसाध्य काम के लिए क्यों न उन्हें एक अच्छे आदर्श के आकर्षण और पथ-दर्शन की आवश्यकता रहनी चाहिए?

रुचि और भावना के अनुसार आदर्श में भिन्नता हो सकती है और इसीलिए हम ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूपों को देखते हैं। ईश्वर को मानना बुरा नहीं है, बुरा है उसकी असलियत को, अपने लक्ष्य को भूल जाना। ईश्वर हमारे कल्याण,उत्कर्ष, विकास सुधार या पूर्णत्व के लिए बना है, न कि अपनी ऊपरी पूजा-अर्चा में ही लोगों का सारा समय और बहुतेरी शक्ति का अपव्यय करने के लिए। ईश्वर का ध्यान, पूजा, उपासना हमारे कल्याण के साधन हैं, खुद साध्य नहीं है। साध्य है ईश्वरत्व को प्राप्त करना, सत्य या पूर्णत्व को पहुँचना। इसे हमें कदापि न भुलाना चाहिए।

क्या कोई मनुष्य इस बात से इन्कार करेगा कि वह व्यक्ति और समाज का हित, विकास, या पूर्णता चाहता है? यदि यह प्रत्येक

मनुष्य को अभीष्ट हैं, तो फिर पूर्णता के आदर्श या प्रतिनिधि को अनावश्यक अथवा बुरा कैसे कहा जा सकता है ? मनुष्य के स्वार्थ या अज्ञान ने यदि उस आदर्श में मलिनता उत्पन्न कर दी है, उसे बिगाड़ दिया है, तो बुद्धिमान् और समाज-हितेच्छु का काम है कि असली आदर्श उसके सामने रक्खे, उसकी असलियत उसे बताता रहे। यह न होना चाहिए कि मक्खी को मारने गये तो नाक भी काट डाली।

आशा है, हमारे शंकाशील और विज्ञानवादी पाठक ईश्वर के इस रूप पर, इसकी उपयोगिता और व्यावहारिकता पर विचार करने की कृपा करेंगे। असलियत को खोजने की धुन में उन्हें असलियत को ही न खो बैठना चाहिए। मनुष्य सूक्ष्म अर्थ में पूर्ण स्वावलम्बी कदापि नहीं हो सकता। वह परस्पराश्रयी है; क्योंकि वह समाजशील है। जब एक व्यक्ति का काम दूसरे व्यक्ति के सहारे के बिना नहीं चलता और हम परस्पर सहयोग को बुरा नहीं समझते हैं तब किसी आदर्श का सहारा क्यों अवाञ्छनीय समझा जाना चाहिए ?

[३]

विवाह

एक मत ऐसा चलता हुआ देख पड़ता है कि स्त्री-पुरुषों के बन्धन में बँधने की आवश्यकता ही नहीं। यह इच्छा-तृप्ति का विषय है—जैसा मौका पड़ जाय, इच्छा तृप्त कर ली जाय। कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि यह एक प्रकार का पतन है। आदर्श अवस्था तो स्त्री-पुरुषों की एक-मात्र ब्रह्मचर्य-मय जीवन ही है। ऐसी हालत में यह आवश्यक है कि विवाह के रहस्य को हम अच्छी तरह समझ लें।

विवाह के मूल पर जब मैं विचार करता हूँ, तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि आरम्भ में विवाह शारीरिक सुख अथवा इन्द्रियाराधन के लिए शुरू हुआ। यह तो सबको मानना ही होगा कि स्त्री और पुरुष में एक अवस्था के बाद एक कोमल विकार उत्पन्न होने लगता है, जो दोनों को एक-दूसरे की ओर खींचता है। एक अवस्था के बाद यह विकार लुप्त हो जाता है। मेरा खयाल है कि आदिम काल में स्त्री-पुरुष इस विकार की तृप्ति स्वतंत्र रूप से कर लिया करते थे—विवाह-बंधन में पड़े बिना ही वे परस्पर अपनी भूख बुझा लिया करते थे। पर जब कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन आरम्भ हुआ, तब मनुष्य को ऐसे सम्बन्धों का भी नियम बना देना पड़ा; अथवा यों कहिए कि, जब उसने इन उच्छृंखलताओं के दुष्परिणामों को देखा, तब उसकी एक सीमा बांधना उचित समझा और वहींसे कौटुम्बिक जीवन की शुरुआत हुई। एक स्त्री का अनेक पुरुषों से और एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से सम्पर्क होते रहने से गुप्त रोग फैलने लगे होंगे। संतान-पालन और संतति-स्नेह का प्रश्न उठा होगा। विरासत की समस्या खड़ी हुई होगी। तब उन्हें विवाह-व्यवस्था करना लाजिमी हो गया। विवाह का उद्देश्य है एक स्त्री का एक पुरुष के साथ सम्बन्ध रखना। इसके विपरीत अवस्था का नाम हुआ व्यभिचार। उन्हें ऐसे उपनियम भी बनाने पड़े, जिनसे कारणवश एक पुरुष का एकाधिक स्त्री से अथवा एक स्त्री का एकाधिक पुरुष से सम्बन्ध करना जायज समझा गया। विवाह-संस्कार होने के पहले स्त्री-पुरुष का परस्पर शारीरिक सम्बन्ध हो जाना व्यभिचार कहलाया। इसी प्रकार विवाहित स्त्री-पुरुष का दूसरे स्त्री-पुरुष से ऐसा सम्बन्ध रखना भी व्यभिचार हुआ।

फिर जब मनुष्य ने देखा कि यह सीमा बांध देने पर भी लोग

विषय-भोग में मस्त रहने लगे, तब उसने यह तजवीज की कि विवाह इंद्रिय-तृप्ति के लिए नहीं, संतति उत्पन्न करने के लिए है। स्त्री-पुरुष तभी सम्भोग करें, जब उन्हें संतति की इच्छा हो। फिर जैसे-जैसे मनुष्य-जाति का अनुभव बढ़ता गया, विचार-दृष्टि विशाल होती गई, तैसे-तैसे उसके जीवन का आदर्श भी ऊँचा उठता गया। अब मनुष्य की विचार-शीलता इस अवस्था को पहुँची है कि विवाह न शारीरिक सुख के लिए है, न संतति उत्पन्न करने के लिए है; वह तो आत्मोन्नति के लिए है। सुख, तृप्ति और संतति उसका परिणाम भले ही हो, वह उद्देश्य नहीं। इस उद्देश्य से जो गिर गया वह शारीरिक सुख, इन्द्रियतृप्ति और संतति पाकर रह गया—आगे न बढ़ सका। अब तो श्रेष्ठ विवाह वह कहलाता है, जो दोनों को अपने जीवन-कार्य को पूरा करने में सहायक हो; योग्य वर-वधू वे कहलाते हैं, जो विकार के अधीन होकर नहीं बल्कि समान उद्देश्य और समान गुणों से प्रेरित होकर विवाह करते हैं। ऐसे विवाहों के रास्ते में जाति, धर्म, मत धन, ये बाधक नहीं हो सकते।

जाति, धर्म, मत आदि का विचार विवाह के सम्बन्ध में करना कोई आत्मिक आवश्यकता नहीं है। यह तो कौटुम्बिक या सामाजिक सुविधा का प्रश्न है, जो कि आत्मिक आवश्यकता के मुकाबले में बहुत गौण वस्तु है। जो विवाह इंद्रिय-तृप्ति और कौटुम्बिक सुविधाओं के लिए किये जाते हैं, वे कनिष्ट हैं, और उनके विषय में इन सब बातों का लिहाज रखना अनिवार्य हो जाता है।

फिर भी व्यभिचार से, विवाह-संस्कार से पहले स्त्री-पुरुषों के ऐसे सम्बन्ध हो जानें अथवा विवाहोपरांत ऐसे अनुचित सम्बन्ध करने से तो यह कनिष्ट प्रकार का विवाह श्रेष्ठ ही है। व्यभिचार की स्वतंत्रता सामाजिक और नैतिक अपराध इसलिए है कि अब मनुष्य-जाति उन्नति

की जिस सीढी पर पहुँच चुकी है उससे वह उसे पीछे हटाती है—आज-तक के उसके श्रम, अनुभव और कमाई पर पानी फेरती है। मनुष्य-जाति अपनी इस अपार हानि को कदापि सहन नहीं कर सकती। अपनी इसी संस्कृति की रक्षा के निमित्त मनुष्य को विवाह को यहां तक नियमित करना पड़ा कि स्वपत्नी से भी नियम-विपरीत सम्भोग करने को व्यभिचार ठहरा दिया। अब तो विचारकों की यह धारणा होने लगी है कि आत्मिक उद्देशों की पूर्ति के लिए जो विवाह किये जाते हैं उनमें स्त्री-पुरुष यदि संयम न रख सकें तो वह भी एक प्रकार का व्यभि-चार ही है।

[४]

विवाह-संस्कार

विवाह-संस्कार हम हिन्दुओं का बहुत प्राचीन संस्कार है; सोलह संस्कारों में एक है। गृहस्थाश्रम का फाटक है। जो कन्या या युवक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता है, उसके लिए विवाह-संस्कार आवश्यक है। जो कन्या या युवक ब्रह्मचर्य-पूर्वक सारा जीवन व्यतीत करना चाहते हैं उनके लिए यह आवश्यक नहीं है। विवाह के मुख्य उद्देश मेरी समझ के अनुसार तीन हैं—

१. कुदरती इच्छा की पूर्त्ति।

२. धर्म का पालन।

३. समाज का कल्याण।

अब हम क्रम से इनपर विचार करें—

कुदरती इच्छा की पूर्ति

एक अवस्था से लेकर एक अवस्था तक स्त्री और पुरुष दोनों के मन में विवाह करनें की इच्छा पैदा होती है और रहती है। उस अवस्था में कुदरत चाहती है कि स्त्री-पुरुष एकसाथ रहकर जीवन व्यतीत करें। समाज-शास्त्रियों ने यह अवस्था लड़की के लिए १५-२० से लेकर ४०-४५ तक और लड़के के लिए २५-३० से लेकर ५०-५५ तक बताई है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करनें के वाद ही गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने का नियम वताया है। कन्या की अवस्था जब २० के आस-पास और ब्रह्मचारी की २५ के आस-पास हो तब उनके माता-पिता को उचित है कि वे उनकी इच्छा को जानकर, सम-गुण-शील वर-वधू को देखकर विवाह-संस्कार कर दें। यदि वे ब्रह्मचर्य-पूर्वक ही रहना चाहें तो उन्हें रहने दें, जबरदस्ती विवाह-पाश में न बांधें। जिसकी इच्छा हो वह विवाह कर ले, जिसकी इच्छा हो वह ब्रह्मचारी बनकर रहे—यह नियम सबसे अच्छा है। इस नियम का पालन करने से ही कुदरत की इच्छा की पूर्ति हो सकती है; विवाह का पहला उद्देश पूर्ण हो सकता है।

धर्म का पालन

धर्म का अर्थ है लौकिक और पारलौकिक उन्नति का साधन। दूसरे शब्दों में कहें तो शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति का साधन। या यों कहें कि धर्म वह मार्ग है जिसके द्वारा मनुष्य खुद सुख प्राप्त करता हुआ औरों को सुखी बनाता है। तीनों अर्थों की भाषा यद्यपि जुदी-जुदी है तथापि मूल भाव एक ही है—स्वार्थ और परमार्थ दोनों की साधना। स्वार्थ व्यक्तिगत होता है और परमार्थ समाज-गत। मनुष्य जब अपने अकेले का विचार करता है तब वह स्वार्थी होता है।

जब वह औरों का भी विचार करता है तब परमार्थी होता है। वैवाहिक-जीवन स्वार्थ और परमार्थ दोनों के लिए है। हम लोगों में यह प्राचीन धारणा भी चली आती है कि गृहस्थाश्रम में मनुष्य प्रपंच और परमार्थ दोनों को साध सकता है। अर्थात् विवाह तभी सफल माना जा सकता है जब कि विवाहित दम्पती के द्वारा इस धर्म का पालन होता हो। उनके द्वारा खुद अपनेको, कुटुम्ब को और सारे समाज को लाभ और सुख पहुँचता हो। इसलिए हिन्दुओं में विवाह-बंधन धर्म-बंधन माना जाता है। हिन्दू वर-वधू विवाह-संस्कार के द्वारा केवल अपने शरीर को ही एक-दूसरे के अर्पण नहीं करते हैं बल्कि अपने मन और आत्मा को भी एक कर देते हैं। यही कारण है कि हमारे यहां दो में से एक का वियोग हो जाने पर भी दोनों का सम्बन्ध नहीं टूटता। सन्तति विवाह का हेतु नहीं, फल है। हेतु है धर्म-पालन। गृहस्थ का धर्म क्या है? स्वयं सुखी रहना और दूसरों को सुखी बनाना। गृहस्थ स्वयं सुखी किस तरह रह सकता है?

(१) अपने शरीर को नीरोग रखकर। अर्थात् गृहस्थाश्रम में भी ब्रह्मचर्य की ओर विशेष ध्यान देते हुए, स्वच्छता और आरोग्य के नियमों का पालन करते हुए।

(२) अपने मन को शान्त और प्रसन्न रखते हुए, उच्च, उदार स्नेहपूर्ण और सुसंस्कृत बनाते हुए।

(३) आत्मा को उन्नत बनाते हुए। अर्थात् सबको आत्मस्वरूप देखते हुए; सत्यनिष्ठा, निर्भयता, नम्रता, दया आदि सद्गुणों का परिचय देते हुए। यदि एक ही शब्द में कहें तो शरीर, मन और आत्मा तीनों को एक सूत्र में बांधते हुए। अर्थात् जो हमारी आत्मा को कल्याणकारक प्रतीत हो वही हमारे मन को प्रिय हो और उसीके साधने

में शरीर कृतकार्य हो। जैसे यदि किसी दुःखी या रोगी को देखकर हमारी आत्मा में यह प्रेरणा हुई कि चलो इसकी कुछ सेवा करें, किसी तरह इसके दुःख दूर करने का प्रयत्न करें, तो तुरन्त हमारा मन इस विचार से प्रसन्न होना चाहिए। और हमारे शरीर को उसके लिए दौड़ जाना चाहिए। बल्कि मैं तो यह भी कहूँगा कि हमारी आत्मा का यह धर्म ही होना चाहिए कि रोगी या दुःखी को देखकर उसकी सेवा करनें की प्रेरणा हुए बिना न रहे। जिस प्रकार पानी की धारा जबतक अपने रास्ते के गड़हे को भर नहीं देती तबतक आगे नहीं बढ़ती, उसी तरह हमारा यह स्वभाव धर्म हो जाना चाहिए कि जबतक समाज के दुःखी-दर्दी की सेवा हमसे न हो हमारा कदम आगे न बढ़ सके। यही धर्म-पालन की चरम-सीमा है, यही गृहस्थाश्रम का धर्म है। ईमानदारी से धर्म-पूर्वक स्वोपार्जित धन, नियम-पूर्वक प्राप्त सुसन्तति, सद्गुणों से आकर्षित इष्ट-मित्र ये भी सुख को बढ़ा सकते हैं। पर सुख के साधन नहीं हैं—ये तो सुख की शोभा हैं, सोने में सुगन्ध है।

समाज का कल्याण

अब यह सवाल रहा कि दूसरे को सुखी किस तरह बना सकते हैं? दूसरी भाषा में, समाज का कल्याण किस तरह कर सकते हैं? मनुष्य जबतक अकेला है, विवाह नहीं किया है, तबतक वह अपनेको अकेला समझ सकता है। व्यक्तिगत कर्त्तव्यों का ही विचार कर सकता है। पर एक से दो होते ही, दूसरे का साथ करते ही, विवाह होते ही, वह समाजी हो जाता है। कुटुम्ब समाज का एक छोटा रूप है। या यों कहें कि समाज कुटुम्ब का एक बड़ा रूप है। विवाह होते ही अपने हित के खयाल के साथ-साथ और कुटुम्बियों के हित का खयाल ही नहीं, जिम्मे-दारी भी हमें महसूस करनी चाहिए। तो सवाल यह है कि विवाहित

दम्पती कुटुम्ब या समाज की सेवा या कल्याण किस तरह करे ? इसका सरल और सीधा उत्तर यही है कि कुटुम्ब या समाज में जो खामियां हों, जो तकलीफें हों, उनको दूर करके। जैसे अगर कोई बुरी रीति या चाल पड़ गई हो तो उसे हटाना, खुद उसका पालन न करना और औरों को भी समझाना। अगर कोई विधवा या विद्यार्थी या अनाथ भोजन-पान की या और किसी तरह की तकलीफ पा रहे हों तो उसे दूर करना, उनके साथ हमदर्दी बताना, उन्हें तसल्ली देना, उनके घर जाना, या उन्हें अपनें घर लाना। कोई बुरा काम कर रहा हो तो उसे समझाना, बुरे काम से हटानें का यत्न करना, पढ़ने-पढ़ाने और ज्ञान बढ़ाने के साधन न हों तो उनका प्रचार करना। सफाई और तन्दुरुस्ती की जरूरत और फायदे समझाना। इत्यादि-इत्यादि।

पर विवाह-संस्कार का वर्तमान रूप हमारे यहां इससे भिन्न है। केवल यही नहीं कि हममें से बहुतेरे विवाह के उद्देश्यों को नहीं जानते बल्कि संस्कार की विधि भी बहुत बिगड़ गई है। विवाह-संस्कार मुख्यतः एक धर्म-विधि है। पर आजकल उसका धार्मिक रूप एक कवायद मात्र रह गई है और सामाजिक रूप या लोकाचार इतना बेडौल हो गया है कि जिसकी हद नहीं। विवाह के बाद वर-वधू सामाजिक जीवन में प्रवेश करते हैं। इसलिए धर्म-संस्कार के साथ बहुतेरी सामाजिक रीतियां—लोका-चार—जोड़कर हमने उसे एक जलसा बना दिया है। धार्मिक दृष्टि से विवाह-संस्कार में केवल दो ही विधियां हैं। पाणिग्रहण और सप्तपदी। पाणिग्रहण के द्वारा दम्पती के सम्बन्ध की शुरूआत होती है और सप्तपदी के द्वारा वह प्रेम-बन्धन दृढ़ किया जाता है। इस-के अतिरिक्त जितनी विधियां हैं वे सब अनावश्यक या कम आवश्यक हैं। बड़े-बड़े भोज—पंक्तियां—भारी लेन-देन, बहुतेरा दहेज, बागवाड़ी,

मायरा, आतिशबाजी, नाच आदि सामाजिक विधियां केवल लोकाचार हैं। सामाजिक विधियां समाज की आवश्यकता के अनुसार समाज के धुरीण लोग डालते हैं। समाज की अवस्था निरन्तर बदलती रहती है। वह हमेशा सारासार का विचार करता रहता है और अच्छी बातों का ग्रहण तथा बुरी बातों का त्याग करता रहता है। और इसीसे उसका कार्य-क्रम बदलता रहता है। वह समाज के हित की बात समाज में दाखिल करता है और अहित की बात को निकाल डालता है या उसका विरोध करता है। समाज के चाल-ढाल में यह अन्तर, यह परिवर्तन हम बराबर देखते हैं। इसीके बल पर समाज जीवित रहता है और आगे बढ़ता है। यही समाज के जीवन का लक्षण है। चंदेरी की पगड़ियां गईं, टोपियां आईं। इटालियन और फैल्ट टोपियां जा रही हैं, और खादी-टोपी आ रही हैं। अंगरखा चला गया, कोट आ गया। जूतियां गईं, बूट आये और अब चप्पल आ रहे हैं। ब्राह्मणों की त्रिकाल-संध्या गई, एककाल संध्या भी बहुत जगह न रही। अब भी ब्राह्मण ईश्वरोपासना करते हैं, पर बाहरी स्वरूप बदलता जा रहा है। सोला गया, धोतियां रह गईं,। छुआछूत का विचार कम होता जा रहा है। ब्राह्मणों के षट्कर्म गये, भिक्षावृत्ति आई। अब सेवा-वृत्ति नें उसका स्थान ले लिया। हम जरा ही गौर करेंगे तो मालूम होगा कि हमारा जीवन क्षण-क्षण में बदल रहा है। हमारे समाज की भीतरी और बाहरी अनेक बातों में रूपान्तर हो रहा है। विवेकपूर्वक जो रूपान्तर किया जाता है उससे समाज को लाभ होता है, समाज की उन्नति होती है। आंखें मूंदकर जो अनुकरण किया जाता है उससे समाज की अधोगति होती है। अतएव सामाजिक रीति-नीति में देश-काल-पात्र को देखकर विवेकपूर्वक परिवर्तन करना समाज के धुरीणों का कर्तव्य है। यह पाप नहीं,

पुण्य कार्य है। जिन चालों से धर्म-संस्कार का कोई सम्बन्ध नहीं, जिन-में अकारण धन-व्यय होता है, सो भी ऐसे जमाने में जब कि आमदनी के साधन दिन-दिन कम होते जा रहे हैं, जिनसे समाज में दुराचार की वृद्धि होती है, उनका मिटाना समाज के धुरीणों और हित-चिन्तकों का परम कर्तव्य है। पिछले जमानें में, जब कि आमदनी काफी थी और इस कारण लोगों को उन रिवाजों में आज की तरह बुराई नहीं दिखाई देती थी, उनके कारण विवाह की शोभा बढ़ती थी। आज तो 'शोभा' के बजाय वे भार-भूत और बरबादी-रूप मालूम होते हैं। मैं श्रीमन्तों की बात नहीं करता, मुझ जैसे गरीबों की बात करता हूँ। श्रीमन्त तो हमारे समाज में बहुत थोड़े हैं, गरीबों की ही संख्या ज्यादा ह। श्री-मन्तों को उचित है कि वे गरीबों का खयाल रक्खें। गरीबों को उचित है कि वे श्रीमन्तों का अनुकरण न करें। धन की बात छोड़ दें तो भी गालियां गाना, नाच, परदा, बहुतेरे गहने देना आदि विवाह-विधि के साथ जुड़ी हुई रूढ़ियां तथा बाल-विवाह, बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि भयंकर कुरीतियां तो श्रीमन्तों के यहां भी न होनी चाहिएँ। क्या धनी, क्या निर्धन, सबको इनसे हानि पहुँचती है। अपनें जीते-जी शादी देख लेनें के मोह से छोटे बालक-बालिकाओं की शादी कर लेना, शक्ति से बाहर कर्ज करके हैसियत से ज्यादा खर्च कर डालना, कन्या-विक्रय करना—इन क्रमशः अधार्मिक, अनुचित और जंगली कुरीतियों को मिटाना धनी-गरीब, सबके लिए उचित है। बिना लड़के-लड़की की सलाह लिये अपनी मरजी से शादी कर देना भी बुरी प्रथा है। इससे कितने ही दम्पतियों को संसार-यात्रा यम-यातना के सामन हो जाती है। हमें मोह और मनोवेग को रोक कर बुद्धि, विचार और विवेक से काम लेनें की परम आवश्यकता है। मैं कह सकता हूँ कि हममें से सैकड़ा ७५ तो

जरूर मेरी तरह इन बातों में सुधार चाहते होंगे; पर मैं यह भी जानता हूँ कि उनमें से कितनें ही वृद्ध गुरु जनों के संकोच से सुधार नहीं कर पाते। उनकी इच्छा तो है, पर वे लाचार रहते हैं।

सो इस विषय में मेरा निवेदन यह है कि वृद्धजनों के लिए पुरानी बातों पर, फिर वे आज चाहे हानिकारक भी हो गई हों, चिपके रहना स्वाभाविक है। क्योंकि वे आजन्म उन्हींको अच्छा समझते आये हैं और जिसे वे अच्छा समझते हैं उसपर वे दृढ़ हैं और रहना चाहते हैं। यह उनका गुण हमें ग्रहण करना चाहिए। हमें भी उचित है कि जिन बातों को हम ठीक समझते हैं उनपर दृढ़ रहें। बुजुर्गों की सेवा करना, नम्रता-पूर्वक उनसे व्यवहार करना हमारा धर्म है। उसी प्रकार हमें जो बात ठीक जँचे, जो हमें अपना कर्त्तव्य दिखाई दे, उसका पालन करना, उसपर दृढ़ रहना भी हमारा धर्म है। यदि हम ऐसा न करेंगे तो अपनें बुजुर्गों के योग्य अपनेको न साबित करेंगे। हमारा कर्त्तव्य है कि जो बात हमें उचित और लाभदायक मालूम होती है स्वयं उसके अनुसार अपना आचरण रखकर उसकी उपयोगिता उन्हें साबित कर दें। या तो उन्हें समझा-बुझाकर या अपने प्रत्यक्ष आचरण के द्वारा ही हम उन्हें उनकी उपयोगिता का कायल कर सकते हैं। यदि हम दो में से एक भी न करें तो इसमें उनका क्या दोष? वे तो स्वयं अपनें उदाहरण के द्वारा यह पाठ पढ़ा रहें हैं कि जिसको तुम अच्छा समझते हो वह करो, उसपर दृढ़ रहो, जैसा कि हम रहते हैं। हमें विश्वास रखना चाहिए कि हमारे बड़े-बूढे इतने विचारवान् और विवेकी जरूर हैं कि वे मौके को देखकर सम्हल जायँगे और खुद आगे रहकर उन दोषों को दूर कर देंगे।

---

[५]

'पत्नीव्रत'-धर्म

यदि विवाह-सम्बन्ध समाज के विकास के लिए आवश्यक है तो वर्तमान समय में, जब कि पति बहुत स्वेच्छाचारी हो गया है, यह आवश्यक है कि पत्नी के प्रति उसके कर्तव्य का स्मरण उसे दिलाया जाय और इस धर्म के भंग का उससे प्रायश्चित्त कराया जाय।

आशा है, 'पत्नीव्रत' धर्म के नाम से हमारी बहनें खुश होंगी। खास कर वे बहनें, जिनकी यह शिकायत है कि प्राचीन काल के पुरुषों ने स्त्रियों को हर तरह दबा रक्खा। और वे पुरुष, सम्भव है, लेखक को कोसें, जिन्हें स्त्रियों को अपनी दासी समझने की आदत पड़ी हुई है। यह बात, कि किसनें किसको दबा रक्खा है, एक ओर रख दें, तो भी यह निर्विवाद सिद्ध और स्पष्ट है कि आज स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध पर और उनके मौजूदा पारस्परिक व्यवहार पर नये सिरे से विचार करनें की आवश्यकता उपस्थित हो गई है। स्त्री और पुरुष दो परस्पर-पूरक शक्तियां हैं और उनका पृथक्-पृथक् तथा सम्मिलित बल और गुण व्यक्ति और समाज के हित और सुख में लगना अपेक्षित है। यदि दोनों के गुणों और शक्तियों का समान विकास न होगा, तो उनका पूरा और उचित उपयोग न हो सकेगा। पक्षी का एक पंख यदि कच्चा या कमजोर हो, तो वह अच्छी तरह उड़ नहीं सकता। गाड़ी का एक पहिया यदि छोटा या टूटा हो, तो वह चल नहीं सकती। हिन्दू-समाज म आज पुरुष कई बातों में स्त्रियों से ऊँचा उठा हुआ, आगे बढ़ा हुआ, स्वतंत्र और बलशाली है। धर्म-मन्दिरों में उसीका जय-जयकार है,

साहित्य-कला में उसका आदर-सत्कार है, शिक्षा-दीक्षा में भी वही अगुआ है। स्त्रियों को न तो पढ़ने की स्वतंत्रता और सुविधा और न घर से बाहर निकलने की। परदा और घंघट तो नाग-पाश की तरह उन्हें जकड़े हुए है। चूल्हा-चौका, धोना-रोना, बाल-बच्चे यह हिन्दू स्त्री का सारा जीवन है। इस विषमता को दूर किये बिना हिन्दू-समाज का कल्याण नहीं। देश और काल के ज्ञानी पुरुषों को चाहिए कि वे स्त्रियों के विकास में अपना कदम तेजी से आगे बढ़ायें। जहां तक लब्ध-प्रतिष्ठ, बलवान् और प्रभावशाली व्यक्ति के दुर्गुणों से सम्बन्ध है, हिन्दू-पुरुष हिन्दू-स्त्री से बढ़-चढ़कर है। और जहांतक अन्तर्जगत् के गुण और सौंदर्य से सम्बन्ध है, वहां तक, स्त्रियां पुरुषों से बहुत आगे हैं। पुरुषों का लौकिक जीवन अधिक आकर्षक है, उपयोगी है; व्यक्तिगत जीवन अधिक दोष-युक्त, नीरस और कलुषित है। अपने सामाजिक प्रभुत्व से वह समाज को चाहे लाभ पहुँचा सकता हो, पर व्यक्तिगत विकास में वह पीछे पड़ गया है। विपक्ष में स्त्रियों के उच्च गुणों का उपयोग देश और समाज को कम होता है; परन्तु व्यक्तिगत जीवन में वे उनको बहुत ऊँचा उठा देते हैं। अपनी बुद्धि-चातुरी से पुरुष सामाजिक जगत् में कितना ही ऊँचा उठ जाता हो, व्यक्तिगत जीवन उसका भोग-विलास, रोग-शोक, भय-चिन्ता में समाप्त हो जाता है। स्त्रियों की गति समाज और देश के व्यवहार-जगत् में न होने के कारण, उनमें सामाजिकता का अभाव पाया जाता है। अतएव अब पुरुषों के जीवन को अधिक व्यक्तिगत और पवित्र बनाने की आवश्यकता है, और स्त्रियों के जीवन को सामाजिक कामों में अधिक लगाने की। पुरुषों और स्त्रियों के जीवन में इस प्रकार सामञ्जस्य जब-तक न होगा, तबतक न उन्हें सुख मिल सकता है, न समाज को।

यह तो हुआ स्त्री-पुरुषों के जीवन का सामान्य प्रश्न। अब रहा

उनके पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न । मेरी यह धारणा है कि स्त्री, पुरुष की अपेक्षा, अधिक वफादार है । पुरुष एक तो सामाजिक प्रभुता के कारण और दूसरे अनेक भले-बुरे लोगों और वस्तुओं के सम्पर्क के कारण अधिक बेवफा हो गया है । स्त्रियां व्यक्तिगत और गृह-जीवन के कारण स्वभावतः स्वरक्षणशील अतएव वफादार रह पाई हैं । पर अब हमारी सामाजिक अवस्था में ऐसा उथल-पुथल हो रहा है कि पुरुषों का जीवन अधिक उच्च, सात्विक और श्रेष्ठ एवं वफादार बने बिना समाज का पांव आगे न बढ़ सकेगा । अबतक पुरुषों ने स्त्रियों के कर्त्तव्यों पर बहुत जोर दिया है । उनकी वफादारी, पातिव्रत हमारे यहां पवित्रता की पराकाष्ठा मानी गई है । अब ऐसा समय आगया है कि पुरुष अपनें कर्त्तव्यों की ओर ज्यादा ध्यान दें । व्यभिचारी, दुराचारी, आक्रामक, अत्याचारी पुरुष के मुंह में अब पतिव्रत-धर्म की बात शोभा नहीं देती । हमारी माताओं और बहनों नें इस अग्नि-परीक्षा में तपकर अपनेंको शुद्ध सुवर्ण सिद्ध कर दिया है । अब पुरुष की बारी है । अब उसकी परीक्षा का युग आ रहा है । अब उसे अपनें लिए पत्नीव्रत-धर्म की रचना करनी चाहिए । अब स्मृतियों में, कथा-वार्ताओं में, पत्नीव्रत-धर्म की विधि और उपदेश होना चाहिए । पत्नीव्रत-धर्म के मानी हैं पत्नी के प्रति वफादारी । स्त्री अबतक जैसे पति को परमेश्वर मानकर एकनिष्ठा से उसे अपना आराध्यदेव मानती आई है, उसी प्रकार पत्नी को गृहदेवी मानकर हमें उसका आदर करना चाहिए, उसके विकास में हर प्रकार सहायता करनी चाहिए, और सप्तपदी के समय जो प्रतिज्ञायें पुरुष नें उसके साथ की हैं, उनका पालन एकनिष्ठा-पूर्वक होना चाहिए ।

इस प्रकार स्त्री-जीवन को समाजशील बनाये बिना, और पुरुष-जीवन को पत्नीव्रत-धर्म की दीक्षा दिये बिना, हिन्दू-समाज का उद्धार

कठिन है। हर्ष की बात है कि एक ओर पुरुष अपनी इस त्रुटि को समझने लग गया है और दूसरी ओर स्त्रियों ने भी अपनी आवाज उठाई है। इसका फल दोनों के लिए अच्छा होगा, इसमें सन्देह नहीं।

[६]

सन्तति-निग्रह

'विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः'

जब मौसम बदलता है तब कितनें ही लोग अक्सर बीमार हो जाते हैं। जब कैदी एकाएक जेल से छूट जाते हैं तो कितनें ही मारे खुशी के सुध-बुध भूल जाते हैं। जब बहुत दिनों के सोये हुए मुसाफिर एकाएक जग पड़ते हैं तब बहुतेरे दीवाने-से हो जाते हैं। जब रोगी एकाएक आराम पाने लगता है तब अक्सर बदपरहेजी कर बैठता है। बहुत-कुछ यही हालत हमारे देश के अति-उत्साही युवकों की हो रही हैं। सदियों से गुलामी की नींद में सोये वे जागृति का अनुभव और स्वतंत्रता के प्रतिबिम्ब का दर्शन करके मानों बौखला गये हैं। बहुत दिनों का प्यासा जिस तरह पेट फूलने तक पानी पी लेना चाहता है उसी तरह वे स्वतन्त्रता की कल्पना-मात्र से इतने बौराये जा रहे हैं कि नीति, सुरुचि और शिष्टता तक की मर्यादा का पालन करना नहीं चाहते। बल्कि यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि वे नियम को ही एक बन्धन मानते हुए दिखाई देते हैं। शायद वे निरंकुशता को स्वतन्त्रता मान बैठे हैं। क्या साहित्य, क्या समाज, क्या राजनीति, तीनों क्षेत्रों में इस उच्छृंखलता के दर्शन हो रहे हैं। यह विकार का लक्षण है। इससे समाज का लाभ तो शायद ही हो, उलटा व्यतिक्रम का अन्देशा रहता

है। स्वतन्त्रता की धुन में मस्त हमारे कई नवयुवक इन दिनों सन्तति के सम्बन्ध में भी उच्छृंखल बन जाना पसंद करते हैं। अतएव यही समय है जब चेतावनी देने की, 'ठहरो और सोचो' कहने की जरूरत होती है।

'सन्तान-वृद्धि-निग्रह' के मोह में कन्याओं, स्त्रियों और बच्चों के हाथ में पड़नेवाले पत्रों तक में सुरुचि तक का संहार करते हुए 'सन्तति-निग्रह' का प्रचार हो रहा है उसपर ध्यान जाने से ये विचार मन में उठ रहे हैं। कुछ हिन्दी पत्रों की गति-विधि पर सूक्ष्म रूप से ध्यान देने से मेरा यह मत होता जाता है कि अश्लीलता, अशिष्टता, कुरुचि, कुत्सा की उनकी कसौटी सर्वसाधारण भारतीय समाज की कसौटी से भिन्न है और उन्होंने बुद्धि-पूर्वक ही अपनी यह रीति-नीति रक्खी है। नहीं मालूम इसमें वे समाज का क्या कल्याण देखते हैं।

यूरोप में एक समाज ऐसा है जिसका यह मत है कि ज्ञान के प्रचार से, फिर वह अच्छी बात का हो या बुरी या अनुचित या अश्लील मानी जानेवाली बात का हो, कभी हानि नहीं होती। वे उससे उलटा लाभ समझते हैं। वे कहते हैं, हम जन-समाज के सामने सब तरह की ज्ञान-सामग्री उपस्थित करते हैं, वह विवेक-पूर्वक उसमें से अच्छी और हितकर सामग्री चुन ले और उसे अपना ले। इससे उसकी सारासार-विवेक-शक्ति जाग्रत होगी। वह स्वतन्त्र और स्वावलम्बी होगा और इसलिए वे अश्लील और गुह्य बातों का प्रचार करने के लिए अपनेको स्वतन्त्र मानते हैं, अपना अधिकार समझते हैं। इसी समाज के मत का अनुसरण हमारे देश के कुछ उत्साही युवक कर रहे हैं। वे स्वयं विवेक-पूर्वक चुनकर ज्ञान-सामग्री समाज को देना नहीं चाहते बल्कि चुनाव का और विवेक के प्रयोग का भार जन-समाज पर रखना चाहते हैं। कह

नहीं सकते कि इस चित्तवृत्ति के मूल में समाज की विवेक-शक्ति को जाग्रत और पुष्ट करने की भावना मुख्यतः काम कर रही है या मनोमोहक, विलास-मधुर सामग्री का उपभोग करने और कराने की युवक-जन-सुलभ कमजोरी। विचार-स्वातन्त्र्य और कार्य-स्वातंत्र्य ही नहीं बल्कि प्रचार-स्वातंत्र्य के उदाराशय के भ्रम में कहीं उनसे स्वेच्छाचार, काम-लिप्सा और विषय-भोग को तो उत्तेजना नहीं मिल रही है ? हां, अधिकार तो मनुष्य 'नंगा नाचने' का भी रखता है, पर वह किसी भी सभ्य समाज में 'नंगा नाचने' के लिए स्वतन्त्र नहीं है; और दूसरे यदि वह नाचने लगे तो समाज को उससे जवाब तलब करने का भी अधिकार प्राप्त है। जन-समाज प्रायः सरल-हृदय होता है। वह भोले-भाले शिशु की तरह है। वह सहवास, संस्कार और शिक्षा-दीक्षा से विवेक प्राप्त करता है। वह शिक्षक या साथी या मार्गदर्शक निस्संदेह हितचिन्तक नहीं है, जो अपने विवेक को अपनी जेब में रखकर उसकी बुद्धि को निरंकुश छोड़ देता है। कोई भी अनुभवी शिक्षा-शास्त्री और समाज-शास्त्री इस रीति का अनुमोदन न करेगा। प्रत्येक शिक्षा-शास्त्री और समाज-शास्त्री ने निर्दोष और पवित्र वायु-मण्डल में ही मनुष्य की उच्च मनोवृत्तियों के अर्थात् मनुष्यता के विकास की कल्पना की है। मनुष्य निसर्गतः स्वतन्त्र है, पर निरंकुश नहीं। प्रकृति का साम्राज्य इतना सुव्यवस्थित है कि उसमें निरंकुशता के लिए जरा भी जगह नहीं है। प्रकृति के राज्य में पशु-पक्षी भी, अपने समाज के अन्दर, निरंकुश नहीं हैं। जहां कोई निरंकुश हुआ नहीं कि प्रकृति ने अपना राज्य-दण्ड उठाया नहीं। फिर उस शिक्षक या साथी से समाज को लाभ ही क्या, जो अपने विवेक का लाभ उसे न पहुँचाता हो। अन्न और कंकर दोनों वस्तुयें बालक के सामने लाकर रख देने और चुनाव की सारी पसंदगी

उस पर छोड़ देनेवाले शिक्षक के विवेक की कोई प्रशंसा करेगा ? सन्तान-वृद्धि को रोकने के लिए ब्रह्मचर्य और कृत्रिम साधन इन दो में से कृत्रिम-साधनों की सिफारिश करनेंवाले और ब्रह्मचर्य को सर्व-साधारण के लिए अ-सुलभ बतानेवाले शिक्षक या डाक्टर की स्तुति कितनी की जाय ? वे तो और एक कदम आगे बढ़ जाते हैं—चुनाव की पसंदगी भी जन-साधारण पर नहीं छोड़ते, उलटा स्पष्टत: अपने प्रिय (और मेरी दृष्टि में हानिकर) साधन की सिफारिश भी करते हैं और सर्वसाधारण के लाभार्थ उसकी विधि भी बता देते हैं !

स्वतन्त्रता और निरंकुशता या उच्छृंङखलता दो जुदी चीजें हैं। स्वतन्त्रता का मूलाधार है संयम, निरंकुशता का मूलाधार है स्वेच्छाचार। संयम के द्वारा मनुष्य स्वयं तो स्वतन्त्र होता ही है पर वह औरों को भी स्वतन्त्र रहने देता है। स्वेच्छाचार का अर्थ है औरों की न्यायोचित स्वतन्त्रता का अपहरण। यदि हमें औरों की स्वतन्त्रता भी उतनी प्यारी हो जितनी कि खुद अपनी हमें प्यारी है, तो हमें संयम का व्यवहार किये बिना चारा नहीं। जो खुद तो स्वतन्त्र रहना चाहता है, पर दूसरे की स्वतन्त्रता की परवा नहीं करता, वह स्वतन्त्रता का प्रेमी नहीं, स्वेच्छाचार का प्रेमी है, स्वार्थान्ध है। ब्रह्मचर्य संयम का ककहरा है और विवेक संयम का नेता है। अतएव विवेकहीन ज्ञान-प्रचार अज्ञान-प्रचार का दूसरा नाम है। गन्दी बातों का प्रचार स्वेच्छाचार ही है। स्वेच्छाचार समाज का अपराध है। स्वेच्छाचार और असंयम एक ही वस्तु के दो रूप हैं। मनुष्य संयम करने के लिए चारों ओर से बाध्य है। प्रकृति का तो वह धर्म ही है। स्वेच्छाचार या असंयम प्रकृति का नहीं, विकृति का धर्म है। प्रत्येक मनोवेग को प्रकृति का धर्म मानकर उसे उच्छृंखल छोड़ देना पागलपन या उन्मत्तता को प्रकृति का धर्म बताना है। ऐसा

समाज मनुष्यों का समाज न होगा। राक्षसों का समाज होगा, दीवानों का समाज होगा। मनुष्य स्वयं भी संयम के लिए प्रेरित होता है और जबतक उसे स्वयं ऐसी प्रेरणा नहीं होती, तबतक समाज उससे संयम का पालन कराता है—नीति और सदाचार के नियमों की रचना करके और उनका पालन कराके। इस प्रकार मनुष्य प्रकृति, स्वयं-प्रेरणा और समाज तीनों के द्वारा संयम करने के लिए बाध्य है। मनुष्य की सबसे अच्छी परिभाषा यही हो सकती है—संयम का पुतला। मनुष्य-समाज और पशु-समाज में अन्तर डालनें वाली यदि कोई बात है तो यही कि मनुष्य-समाज में नीति-सदाचार, विवेक की सुव्यवस्था है, पशु-समाज में नहीं। यदि हो तो उसका ज्ञान हमें नहीं। नीति-सदाचार मनुष्य के गहरे सामाजिक और आत्मिक अनुभव के फल हैं। उनकी उपेक्षा करना लड़कपन है। उनकी हँसी उड़ाना स्वयँ अपने को गालियां देना है। फिर किसी वैज्ञानिक विषय की वैज्ञानिक ढंग पर, उसके जिज्ञासुओं के सामने विज्ञानशालाओं में चर्चा करना एक बात है, और सर्वसाधारण के सामने, लड़के-लड़कियों के सामने, उनका प्रदर्शन करना, प्रचार करना, विधि-विधान बताना हद दर्जे का स्वेच्छाचार है। सुव्यवस्थित और शिष्ट समाज इसे सहन नहीं कर सकता। अतएव जबतक समाज को आप इस बात का यकीन नहीं करा सकते कि सुरुचि, अश्लीलता, शिष्टता-सम्बन्धी आपकी कसौटी ही ठीक है तबतक आपका यह कृत्य निरंकुश ही माना जायगा। समाज के 'मौन' को 'सम्मति-लक्षण' मानना तो भारी गलती है। नहीं, उसकी सज्जनता और सहनशीलता का उसे दण्ड देना है।

योरोप की कितनी ही बातें अनुकरण-योग्य हैं, पर हर नई बात नहीं। हमें अपने विवेक से पूरा-पूरा काम लेना चाहिए। योरोप अभी

बच्चा है—भारत बूढ़ा है। आज भारत चाहे पराजित हो, गुलाम हो, पतित हो, पर अब भी योरोप को वह समाज-शास्त्र और धर्मशास्त्र की शिक्षा दे सकता है। उसके ज्ञान और अनुभव की सच्ची कदर तब होगी जब योरोप कुछ प्रौढ़ावस्था में पदार्पण करेगा। इसलिए योरोप की किसी भी नई चीज का स्वागत करने के पहले हमें यह देखना चाहिए कि हमारे यहां इसके लिए क्या विधि-विधान हैं। यदि कुछ भी न होंगे, या योरोप से अच्छे न होंगे तभी हम देश, काल, पात्र का पूरा विचार करके उसको अपनावें। कोई चीज महज इसीलिए अनुकरणीय नहीं हो सकती कि वह नई है, या योरोप की बनी है। गुण-दोष की छान-बीन होने के बाद ही अनुकरण होना चाहिए। ब्रह्मचर्य की महत्ता सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। संयम के गुण स्पष्ट हैं। दिल को कड़ा करके थोड़ा-सा अनुभव कर देखिए। हाथ कंगन को आरसी क्या? हमारा मन अपने बस में नहीं रहता इसलिए ब्रह्मचर्य को कोसना अपनी निर्बलता की नुमाइश दिखाना है। इन्द्रिय-निग्रह में कौड़ी का खर्च नहीं, कृत्रिम साधनों को खरीदने के लिए डाक्टरों की दूकानों पर जाकर रुपया बर्बाद करने की जरूरत नहीं। थोड़ा मन को बस में रखने की जरूरत है। आश्चर्य और खेद इस बात पर होता है कि लोग कृत्रिम साधनों को ब्रह्मचर्य से ज्यादह सरल और सुसाध्य बताते हैं। यदि हमें सचमुच अपनी सन्तति के ही कल्याण की इच्छा है, जिसका कि दावा कृत्रिम साधनों के हामी करते हैं, अपनी काम-लिप्सा को तृप्त करने की इच्छा नहीं, तो हम अनुभव करेंगे कि कृत्रिम साधनों की अपेक्षा ब्रह्मचर्य ही स्वाभाविक, सस्ता, स्वास्थ्य-सौन्दर्य-वर्धक और स्थायी साधन है। यह मानकर कि ब्रह्मचर्य सार्वसाधारण के लिए कुछ मुश्किल है, कृत्रिम साधनों की सिफारिश करना ऐसा ही है जैसा कि

हमारी सरकार का फौज के लिए वेश्याओं की तजवीज करना, या घर में शराब बनाना बुरा है इसलिए शराब की भट्टी खोलकर वहां पीने भेजना। कृत्रिम साधनों के उपयोग की सिफारिश करना लोगों को कायरता की शिक्षा देना है—एक ओर ब्रह्मचर्य के पालन कीआवश्यकता न रहने देकर और दूसरी ओर सन्तान के पालन-पोषण के भार से मुक्त करके। विषय-भोग की उन्मत्तता तो वे अपने अन्दर कायम रखना चाहते हैं, पर उसकी जिम्मेवारियों से दुम दबाना चाहते हैं। यह हद दरजे की कायरता है। या तो संयम का पालन करके पुरुषार्थ का परिचय दीजिए या सन्तान का भार वहन करके पुरुषार्थी बनिए। ब्रह्मचर्य-पालन के लिए सिर्फ सादा जीवन, सत्संगति, शुद्ध विचार की आवश्यकता है। उन्हें यह सब मंजूर नहीं। अपने क्षणिक शारीरिक सुख के लिए, अपनी कल्पित कमजोरी की बदौलत, सारे मानव-वंश के कुछ मृदुल और सात्विक गुणों के विनाश का बीज बोना, इस स्वार्थान्धता का, इस अज्ञान का कुछ ठिकाना है! उन्होंने सोचा है कि इस अनियंत्रित कामलिप्सा और उसकी निरंतर पूर्ति से स्वयं उनके शरीर, मन और बुद्धि पर तथा उनकी सन्तान की मनोदशा और प्रवृत्तियों पर क्या असर होगा? योरोप के मनोविज्ञानियों का कहना हैं कि ऐसे अप्राकृतिक साधनों के प्रयोग की बदौलत वहां एक भिन्न और विपरीत प्रकृति का नया वर्ग ही निर्माण हो रहा है! गृहस्थ-जीवन की हस्ती जबतक दुनिया से मिट नहीं जाती तबतक कृत्रिम उपायों से सन्तान-वृद्धि-निग्रह का प्रचार करना गृह-जीवन को नीरस और अमंगल बनाने को प्रयत्न करना है। पता है, आपके गुरु योरोप में अब केवल कम सन्तति नहीं, बिल्कुल ही सन्तति न होने देनें की इच्छा अंकुरित हो रही है? क्यों? वे नहीं चाहते कि सन्तति की बदौलत उनके

शारीरिक और आर्थिक सुख में वाधा पड़े ! अनियंत्रित प्रजोत्पादन के हक में कोई भी विचार-शील पुरुष राय न देगा । पर उसका स्वाभाविक साधन ब्रह्मचर्य हैं, संयम है, न कि ये कृत्रिम साधन । उनसे अभीष्ट-सिद्धि के साथ ही मनुष्य के बल-वीर्य की और उच्च व्यक्तिगत तथा सामाजिक गुणों की वृद्धि होगी, तहां कृत्रिम साधनों से व्यक्तिगत, शारीरिक सुखेच्छा-मूलक स्वार्थ-भाव और हीन तथा विपरीत मनोवृत्तियों की वृद्धि होगी ! नीति और सदाचार सामाजिक सुव्यवस्था की वुनियाद है । अतएव क्या विज्ञान, क्या कानून, क्या कला सब नीति और सदाचार के पोषक होने चाहिए । पर समाज में कुछ विपरीत मनोवृत्ति वाले लोग भी देखे जाते हैं जो इन साधनों का उपयोग नीति-सदाचार के घात और निरंकुशता तथा स्वेच्छाचार की वृद्धि के लिए किया करते हैं । हो सकता है कि उनका प्रेरक हेतु जन-कल्याण ही हो, पर इसमें कोई शक नहीं कि उनकी कार्य-विधि में विचार, अनुभव और ज्ञान की जगह जोश, आतुरता और विचार हुआ करता है । विचार-हीन उत्साह को बन्दर की लीला ही समझिए ।

इसलिए उन सज्जनों से मेरी प्रार्थना है कि दया करके देश के युवकों को इस कायरता और स्वार्थान्धता के उलटे रास्ते पर न ले जाइए । यदि आप देश-हितैषी हैं तो उन्हें पुरुषार्थ की, ब्रह्मचर्य की ही शिक्षा दीजिए । उसी के प्रचार की तजवीजें सोचिए । ईश्वर के लिए अपनी कमजोरियों का शिकार उन्हें न बनाइए । मनुष्य क्या नहीं कर सकता ? जो मनुष्य सारे पृथिवी-मण्डल को हिला सकता है, हम देखते हैं कि वह हिला रहा है, वह ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता, संयम-पूर्वक गृहस्थ-जीवन नहीं व्यतीत कर सकता, ऐसी बातें शिक्षित मनुष्यों के, तिस पर भी भारतवासी के, मुंह से शोभा नहीं देतीं । जो बात

जरा मुश्किल मालूम होती है उसके लिए फौरन् अविचार-मूलक आसान तजवीज खोजना, मानो पुरुषार्थ-हीन बनाने का कार्य्यक्रम तैयार करना है। कोशिश करने की जरूरत अगर है तो मुश्किलों को आसान बनानें की, ऊपर चढ़ने की तदबीर करने की, न कि मुश्किलों से दुम दबाकर आसानी का नुसखा दिखानें की या नीचे गिरने और फिसलने की तरकीब बताने की। ब्रह्मचर्य को एकबारगी गालियां न दे बैठिए। जरा अपने बुजुर्गों के अनुभवों को भी पढ़ देखिए। उन्होंनें जीवन के हर अंग में ब्रह्मचर्य और संयम की जरूरत बताई हैं। गृहस्थ-जीवन को भी उन्होंने मनुष्य की कुछ कमजोरियों के लिए जिन्हें वह अबतक दूर नहीं कर पाया है—एक रिआयत के तौर पर माना है। उनके सामाजिक ज्ञान और अनुभव को बिना देखे ही, बिना आजमाये ही धता न बताइए। मैं यह नहीं कहता कि बड़ों-बूढो के या किसी के भी गुलाम बनो। पर मैं यह जरूर कहता हूँ, जो अपने मनोवेगों के आगे विचार और अनुभव की सीख पर ध्यान नहीं देता वह इस उक्ति को अपने पर चरितार्थ करेगा—

सुहृदां हितकामानां न शृणोति हि यो वचः।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति॥

हम जरूर स्वतन्त्रता के हामी हों, पुजारी हों, पर अविवेक के नहीं। हम जरूर ज्ञान के लिए लालायित रहें, पर अश्लील बातों के नहीं—बुरी बातों के नहीं। बुरी बातों का मिटाना मुश्किल है, इसलिए उनको सुलभ और इष्ट बनाना सुनीति नहीं है।

———

परिशिष्ट (२)

हिन्दूधर्म की रूप-रेखा

हिन्दू-समाज इन दिनों क्रान्ति के पथ पर है। इस्लाम के आक्रमण ने जहाँ उसे स्थिति-पालक (Conservative) बनाया, तहाँ ईसाई-सभ्यता उसे अपने पुराने विश्व-बन्धुत्व की ओर ले जा रही है। इस्लाम यद्यपि एक ईश्वर का पुजारी और भ्रातृभाव का पृष्ठ-पोषक है, तथापि भारत पर उसके आक्रमणकारी स्वरूप ने हिन्दू-समाज को उससे दूर फेंक दिया है। इसके विपरीत ईसाई-संस्कृति अपने मधुर स्वरूप के प्रभाव से हिन्दू-समाज को अपने नज़दीक ला रही है। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और जातियों के ऐसे सम्पर्क और संघर्ष के समय किसी भी एक संस्कृति या जाति का अपने वर्तमान रूप में बना रहना असम्भव हो जाता है। दोनों एक-दूसरे पर अपना असर छोड़े बिना नहीं रहते। हाँ, यह ठीक है कि, विजित संस्कृति और जाति, विजेता संस्कृति और जाति का, अधिक अनुकरण करने लगती है। क्योंकि वह स्वभावतः सोचने

लगती है कि किन कारणों ने उसे जिताया और मुझे हराया और जो बाह्य अथवा आभ्यंतर कारण उस समय उसकी समझ में आ जाते हैं, उन्हीं का वह अनुकरण करने लगतो है—इस इच्छा से कि इन बातों को प्राप्त कर और इन बातों को छोड़ कर मैं फिर अपनो अच्छी दशा को पहुंच जाऊँ।

हिन्दू-समाज और हिन्दू-धर्म इस समय संसार के किसी धर्म और समाज के असर से अपने को नहीं बचा सकता। यह बात सच है कि हिन्दू-समाज को हिन्दू-धर्म से जो ऊँची और अच्छी बातें विरासत में मिली हैं, वे और समाजों को अबतक नसीब नहीं हुई हैं। पर हिन्दू-समाज तब तक उन बातों से न स्वयं काफी लाभ उठा सकता है और न औरों को लाभ पहुँचा सकता है, जब तक कि वह खुद उस विरासत को, ज़माने के मौजूदा प्रकाश में, अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल न बना ले और अपने को उस विरासत के योग्य न साबित कर दे। इसी काट-छाँट, उलट-फेर या परिवर्तन का नाम है क्रान्ति। इस समय हिन्दू-समाज और हिन्दू-धर्म के प्रायः प्रत्येक अग में एक हल-चल हो रहो है, एक उथल-पुथल मच रही है, और यह उसके दूषित भाग को काट तथा उत्तम भाग को पुष्ट किये बिना न रहेगी। आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, और जिसे आजकल लोग गांधी-मत कहने लगे हैं, ये सब इसी क्रान्ति के लाल झण्डे हैं। आइए, इसी क्रान्ति के प्रकाश में, हमारी बुद्धि और समाज की आवश्यकता हमें जितनी दूर ले जा सकती है, हम हिन्दू-धर्म और समाज सम्बन्धी वर्तमान ज्वलन्त समस्याओं पर, यहाँ से वहाँ तक नये सिरे से विचार करें और उसका श्रीगणेश करें हिन्दू-धर्म की रूप-रेखा से।

'हिन्दू' शब्द

जिस समाज को आज 'हिन्दू' कहते हैं उसे प्राचीन काल में 'आर्य' कहते थे। हिन्दुस्थान का भी प्राचीन नाम आर्यावर्त था। हिन्दुस्थान के

पश्चिम में 'सिन्धु' नाम की एक बड़ी भारी नदी है। उसके रास्ते से यवन सब से पहले भारतवर्ष में आये। सिन्धु-नदी के आस-पास बसने के कारण उन्होंने आर्यों का परिचय अपने देशवासियों को 'सिंधु' के नाम से दिया। प्राकृत-भाषा में संस्कृत के 'स' शब्द का बहुत जगह 'ह' रूप हो जाता है। इस कारण 'सिन्धु' शब्द समय पाकर 'हिन्दू' में बदल गया। हिन्दुओं के निवास-स्थान भारतवर्ष का नाम भी हिन्दुस्थान वा हिन्दुस्तान पड़ गया।

महर्षि दयानन्द भारत की प्राचीन संस्कृति और प्राचीन जीवन के बड़े प्रेमी और अभिमानी थे। 'हिन्दू' नाम एक तो प्राचीन न था, दूसरे यवनों के द्वारा दिया गया था, इस कारण उन्होंने फिर से प्राचीन शब्द 'आर्य' का प्रचार करना चाहा था। अभी तक तो 'आर्य' शब्द प्रायः उस समाज का सूचक माना जाता है, जो महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों पर चलना चाहता है। आज भी हिन्दू पुरुषों के नाम के अन्त में प्रायः जो 'जी' शब्द लगाते हैं, वह 'आर्य' शब्द ही का अपभ्रष्ट रूप है।

हिन्दू-धर्म के भिन्न-भिन्न नाम

हिंदू-धर्म आजकल आर्य-धर्म, वैदिक-धर्म, सनातन-धर्म आदि कई नामों से पुकारा जाता है। बौद्ध, जैन, तथा सिख धर्म भी हिंदू-धर्म के ही अंग हैं। आर्य-धर्म का अर्थ है आर्यों का प्रतिपालित धर्म। वैदिक-धर्म का मतलब है वेदों में प्रतिपादित धर्म और सनातन धर्म का अर्थ है सृष्टि के आरंभ से चला आया और सृष्टि के अन्त तक चला जानेवाला धर्म। बौद्ध, जैन और सिख धर्मों को स्वतन्त्र धर्म कहने के बजाय हिंदू-धर्म के सम्प्रदाय या पंथ कहना ज्यादा सार्थक होगा। हिंदू-धर्म को अब कुछ लोग सनातन-मानव-धर्म या मानवधर्म भी कहने लगे हैं। इसके द्वारा वे यह सूचित करना चाहते हैं कि (१) हिंदू-धर्म, सामान्य मानव-धर्म से भिन्न नहीं और (२) समयानुसार रूपान्तर करते हुए भी उसके मूल तत्त्व

आदि से अन्त तक अटल रहते हैं। अतएव मेरी राय में हिन्दू-धर्म का दूसरा ठीक नाम है सनातनधर्म। 'आर्य-धर्म' नाम का तो प्रचार अभी बहुत कम हुआ है, और 'वैदिक-धर्म' का प्रचार करने से हमारी बुद्धि 'वेदों' तक मर्यादित हो जाती है। जब कभी हमें समय को देखकर धर्म के किसी विशेष सिद्धान्त पर जोर देने की या उसके किसी अंग को निषिद्ध करार देने की ज़रूरत पेश आती है, तब हमें 'वेदों' का सहारा लेना पड़ता है और यदि प्रसगवश 'वेदों' ने हमारा साथ न दिया तो या तो उनके अर्थों की खींचातानी करनी पड़ती है, या निराश होना पड़ता है। आजकल प्रत्येक वाद में जो यह देखने की प्रथा-सी पड़ गई है कि यह वेद में है या नहीं, यह इसी वृत्ति का परिणाम है। किसी धर्म के मूलभूत सिद्धान्त या तत्व जिस प्रकार अटल होते हैं, त्रिकालाबाधित होते हैं, उसी प्रकार उस के धर्मग्रन्थ—फिर वे एक हों या अनेक—अटल, अपरिवर्तनीय नहीं होते। हाँ, यह बात ठीक है कि अबतक हिंदू-धर्म के मूल-ग्रन्थ एक प्रकार से 'वेद' ही माने गये हैं; परन्तु हमें याद रखना चाहिए कि प्राचीन चार्वाक बौद्ध, और जैन तथा अर्वाचीन सिख-पंथ के लोग वेदों को नहीं मानते हैं—फिर भी वे हिंदू-धर्म के अंग तो हैं। अतएव अब 'हिंदू-धर्म' को 'वैदिक-धर्म' नाम देना उसे संकुचित कर देना है, और दूसरे धर्म-पंथों के लिए उसका दर्वाजा रोक देना है। यह दूसरी बात है कि वेदों का अर्थ इस प्रकार किया जाय कि जिससे भिन्न-भिन्न धर्म-पंथों के वे विशिष्ट सिद्धान्त या अंग उनमें उसी तरह समाविष्ट हो जायँ जिस तरह कि उनके पृथक् धर्म-ग्रन्थों में हैं और इस प्रकार वेदों की महिमा क़ायम रक्खी जाय। पर एक तो हिंदू-धर्म के मूल तत्वों में इतना बल और उपयोगिता है कि वे किसी ग्रन्थ या व्यक्ति का सहारा लिये बिना न केवल क़ायम ही रह सकते हैं बल्कि फैल भी सकते हैं, और दूसरे, यदि वेदों में उन बातों का समा-

वेश था ही तो फिर ये वेद-विरोधी नये सम्प्रदाय बने ही क्यों, और अब तक टिक ही क्यों पाये हैं ? तीसरे वेदों की भाषा आज सर्वसाधारण की भाषा से इतनी भिन्न है, और उनका भाव तथा शैली इतनी गूढ़ और क्लिष्ट है कि सर्व-साधारण में उनका घर-घर प्रचार एक असंभवसी बात है। बिना भाष्यों के उनका मतलब ही समझ में नहीं आता। फिर वे किसी शास्त्रीय ग्रंथ की तरह व्यवस्थित और क्रमबद्ध नहीं। यह दूसरी बात है कि हमारी भावुकता उन्हें अपौरुषेय माने, हमारी श्रद्धा उन्हें सब 'सत्-विद्याओं का आगार' कहे, हमारी व्यवहार-बुद्धि इस पैतृक सम्पत्ति की आराधना करे, पर धर्म-प्रेम, धर्म-प्रचार कहता है कि ग्रन्थ-विशेष तक धर्म की गति कोमर्यादित कर दोगे तो धर्म की मौलिकता और उज्ज्वलता कम हो जायगी तथा समाज का विकास रुक जायगा—समाज अनेकविध हो कर कुपन्थी हो जायगा और अब तक ग्रन्थ-विशेष या व्यक्ति-विशेष को धर्म का आधार मानने वालों के समाज की यही हालत हुई है।

मानव-धर्म या सनातन-धर्म

'हिन्दू' शब्द अब यद्यपि इतना व्यापक हो गया है कि उसमें जैन, बौद्ध, सिख, सब अपना समावेश करने लगे हैं; परन्तु जो लोग उसे विश्व-धर्म की कोटि और योग्यता पर पहुँचाना चाहते हैं वे बहुधा निराश होंगे या मुश्किल से सफल होंगे, यदि 'हिंदू' शब्द का भी आग्रह क़ायम रक्खेंगे। या तो उसे मानव-धर्म कहें या सनातन-धर्म। सनातन-धर्म का रूढ़ अर्थ यद्यपि संकुचित हो गया है तथापि 'हिंदू' शब्द की अपेक्षा उसके अर्थ में विस्तार-क्षमता अधिक है और न वह ग्रंथ, व्यक्ति, देश या समाज से सीमित ही है।

यह तो हुई नाम की अर्थात् ऊपरी बात। यदि हम भीतरी सार वस्तु को ठीक-ठीक समझ लेंगे तो बाहरी बातों के लिए विवाद या उलझन का अवसर बहुत कम रह जायगा।

हिन्दू-धर्म की व्यापकता

यदि हिंदू-धर्म के मूलतत्व का विचार करें तो वह साधारण मानव-धर्म से भिन्न नहीं मालूम होता। यदि हिंदू-धर्म की आचार-पद्धति पर ध्यान न दें—केवल तत्व को ही देखें, तो वह सारे मनुष्य-समाज के धर्म का स्थान ले सकता है। दूसरी भाषा में यों कहें कि एक मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, राजनैतिक और मानवी सब प्रकार की भूख या आवश्यकताओं की पूर्त्ति की गुंजाइश उसमें है। हिंदू-धर्म का सबसे बड़ा तत्व यह है कि यह विश्व चैतन्य से भरा हुआ है,—फिर उसे चाहे ईश्वर कहिए, चाहे सत्य कहिए, चाहे ब्रह्म कहिए, चाहे शक्ति कहिए, चाहे और कुछ—किन्तु यह सारी जड़-चेतन-रूप सृष्टि उसीकी बनी हुई है। सर्व-साधारण की भाषा में इसे यों कह सकते हैं—ईश्वर या आत्मा है और वह घट-घट में व्याप्त है। यह हुआ परम सत्य। दुनिया के तत्वज्ञानी या दार्शनिक अभी तक सत्य की अर्थात् दुनिया के मूल की खोज में इससे आगे नहीं बढ़े हैं। हर धर्म के विचारशील दार्शनिकों ने इस बात पर विचार किया है कि मनुष्य क्या है, वह क्यों पैदा हुआ है, वह कहां से आया है, कहाँ जायगा, दुनिया से उसका क्या सम्बन्ध है, दुनिया के प्रति उसका क्या कर्त्तव्य है, मनुष्य को और इस सारी सृष्टि को किसने पैदा किया, इसका मूल क्या है, उसके प्रति मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है, आदि। हिंदू-धर्म में इस विचार-साहित्य का नाम है दर्शनग्रंथ या धर्मग्रंथ और विचार-तथ्यों का नाम है धर्म-तत्व। हिंदू-धर्म और हिन्दू-समाज में 'धर्म' शब्द प्रायः छः अर्थों में प्रयुक्त होता है—

(१) **परम सत्य**--जैसे, ईश्वर, या आत्मा या चैतन्य है और वह सब में फैला हुआ है।

(२) **परम सत्य तक पहुँचने का साधन**—जैसे, प्राणी मात्र के प्रति आत्म-भाव रखना—सब को अपने जैसा समझना—अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय, आदि का पालन।

(३) **कर्त्तव्य**—जैसे, माता-पिता की सेवा करना पुत्र का धर्म है; पड़ौसी की और दीन-दुखियों की सहायता करना या प्रतिज्ञा-पालन मनुष्य का धर्म है।

(४) **सत्कर्म या पुण्य अर्थात् सत्कर्म-फल**—जैसे, दान देने से धर्म होता है।

(५) **स्वभाव या गुण-विशेष**—बहना पानी का धर्म है, उड़ना पक्षियों का धर्म है, मारना विष का धर्म है।

(६) **धर्म-पन्थ**—हमारा हिन्दू-धर्म है, या ईसाई या मुस्लिम धर्म है।

अब आप देखेंगे कि 'धर्म' शब्द कैसे विविध अर्थों में व्यवहृत होता है। इससे हमें हिंदू-समाज और हिंदू-जीवन में धर्म शब्द की व्यापकता का पता लगता है। इससे हमें इस बात का भी ज्ञान होता है कि 'धर्म' के विषय में हिंदू-समाज में क्यों इतनी विचार-भिन्नता तथा विचार-भ्रम है। कोई पूजा-अर्चा को ही धर्म मानता है, कोई गेरुए कपड़े पहनने को ही धर्म मान बैठा है, कोई खान-पान, ब्याह-शादी, मृत्यु-भोज को हीं धर्म मान रहा है, कोई जप-तप को धर्म समझता है, कोई स्नान-ध्यान को और कोई परोपकार, जाति-सेवा और देश-सेवा को धर्म समझ रहा है। इन सब का मूल है 'धर्म' शब्द की इस व्यापकता में। गर्भाधान से लेकर मृत्यु और मोक्ष प्राप्त करने तक हिंदुओं का सारा जीवन इसी कारण धर्म-मय माना गया है। धर्मतत्व, धर्म-पालन के नियम, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और राजनैतिक तथा स्वास्थ्य और शिक्षा-सम्बन्धी सब प्रकार के सिद्धान्त और नियम हिंदुओं के यहाँ धर्म-नियम हैं।

हिन्दू-धर्म की व्याख्या

हिंदुओं के जीवन में 'धर्म' की इतनी व्यापकता को देख कर ही उनके यहाँ धर्म का यह लक्षण बांधा गया—

यतः अभ्युदय-निश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः ।

अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य को सब प्रकार का सांसारिक सुख-वैभव प्राप्त हो और उसके पश्चात् तथा साथ हो ईश्वरी सुख-शान्ति भी मिले उसीका नाम है धर्म। सरल भाषा में कहें तो जिससे लोक-परलोक दोनों सधें, वह धर्म है। इस व्याख्या में धर्म-तत्व, धर्म-शास्त्र, नीति-नियम, स्वास्थ्य-साधन, शिक्षा-विधान, राज तथा समाज-नियम सब का भली भांति समावेश हो जाता है। वर्तमान हिंदू-समाज को ध्यान में रख कर, आधुनिक काल में, लोकमान्य तिलक महाराज ने—

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु उपासनानामनेकता ।

अर्थात् जो वेद को मानता हो, अनेक देवी-देवताओं की उपासना को मानता हो, आदि व्याख्या हिंदू की की है। यह व्याख्या एक प्रकार से आजकल के संकुचिति सनातन-धर्मी कहे जाने वाले हिंदू-धर्म की हो जाती है। इसमें सिख, जैन, बौद्ध आदि तो दूर, एक तरह से आर्य-समाजी भी नहीं आ सकते।

दूसरी व्याख्या हाल ही में देशभक्त सावरकर ने की है। इसके अनुसार केवल वही मनुष्य हिंदू कहा जा सकता है जो भारतवर्ष को अपनी धर्म-भूमि और मातृ-भूमि मानता हो। लोकमान्य की व्याख्या से तो यह अधिक व्यापक और हिंदू-समाज की वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल है। इससे हिंदू-समाज के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में एक-हिंदू-भाव की जड़ जमेगी। इससे वर्तमान हिंदू-समाज के संघटन में तो सहूलियत हो जायगी, परन्तु हिंदू-धर्म के प्रसार और हिंदू-समाज के

विस्तार में सहायता न मिलेगी। हमें हिंदू-संघटन इस बात को लक्ष्य करके करना है कि हिंदू-धर्म से पृथिवी का बच्चा-बच्चा लाभ उठावे। इसके लिए मेरी राय में और भी व्यापक परिभाषा की आवश्यकता है। वह ऐसी हो जो कि हिंदू-धर्म का रहस्य, महत्व और सिद्धांत भी हमें समझा दे और हमारे सर्वतोमुखी विकास में हमें सब तरह सहायता दे। ऐसी एक व्याख्या मैं आज हिंदू-विचारकों को सेवा में उपस्थित कर रहा हूं। मेरी परिभाषा यह है कि हिंदू वह है जो पाँच सिद्धांतों को मानता हो—

(१) सर्वात्म-भाव
(२) सर्व-भूत-हित
(३) पुनर्जन्म
(४) वर्णाश्रम और
(५) गो-रक्षा

फिर वह चाहे किसी देश और वेश में रहता हो और चाहे किसी ग्रन्थ या गुरु को मानता हो।

धर्म के पूर्वोक्त छहों रूपों को तथा पूर्वोक्त व्याख्या को हम दो भागों में बांट सकते हैं—

(१) धर्म-तत्व और (२) धर्माचार। पहले भाग में तत्व-चिन्तन और तत्व-निर्णय किया जाता है और दूसरे भाग में उसके पालन के विधि-विधान बताये जाते हैं। पहला विचार का विषय है, दूसरा आचार का। या यों कहें कि पहला भाग लक्ष्य स्थिर करता है और दूसरा उस तक पहुँचने के मार्ग या उपाय बताता है। इस लक्ष्य, या साध्य, या तत्व-निर्णय या धर्म-विचार से जहाँ तक सम्बन्ध है, संसार के समस्त धर्म-मतों में तथा हिंदू-धर्म के भिन्न-भिन्न अग-रूप धर्म-पन्थों में प्रायः कोई भेद नहीं है। जैसे मनुष्य का लक्ष्य है पूर्णता को प्राप्त करना—

इसका विरोध किसी धर्म-मत में न मिलेगा। यह हो सकता है कि भाषा जुदी-जुदी हो—पर भाव यही मिलेगा। जैसे हिंदू इसे कहेगा, मोक्ष प्राप्त करना, साक्षात्कार करना, ईश्वर-स्वरूप हो जाना, स्थितप्रज्ञ होना, ब्रह्मत्व को प्राप्त होना, कैवल्य, निर्वाण या जिनत्व प्राप्त करना अथवा ज्ञानी हो जाना आदि। इस लक्ष्य को पहुँचने का साधन है—पवित्र जीवन व्यतीत करना, दूसरी भाषा में कहें तो गुणों को बढ़ाना, शक्तियों को बढ़ाना और दोषों को तथा कमज़ोरियों को कम कर डालना। या यों कहें कि अपना विचार और अपनी सेवा छोड़ कर दूसरों का विचार और सेवा करते रहना। इसे आप चाहे धर्माचरण कहिए, तप कहिए, देश और समाज-सेवा कहिए—कुछ भी कहिए। कहने का सार यह कि मनुष्य के लक्ष्य के सम्बन्ध में, अन्तिम स्थिति के विषय में, विविध धर्म-मतों में, भाषा-भेद के अतिरिक्त भाव-भेद नहीं है और न उसके मुख्य साधन—राज-द्वार—के विषय में ही ख़ास आशय-भेद है। मन्तव्य, स्थान और प्राप्तव्य स्थिति जब कि एक है, उसके स्वरूप-वर्णन में चाहे दृष्टि, रुचि, योग्यता, अवस्था आदि के भेद से कुछ भेद हो—वहाँ तक पहुँचने का राज-द्वार जब कि एक है—फिर उस तक ले जाने वाले छोटे-बड़े टेढ़े-मेढ़े रास्ते चाहे अनेक हों—तब पन्थ-भेद और धर्म-भेद रह कहाँ जाता है? वह रहता है तत्व-भेद में नहीं, आचार के अङ्गोपाङ्ग में।

हिन्दू-धर्म का सब से बड़ा सिद्धान्त है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। एकमेवाद्वितीयम्। सोऽहम्।

अर्थात् यह सब विश्वब्रह्ममय—चैतन्य-मय है। वह सब में एक रूप से व्याप्त है। मैं भी वही या उसी का अंश हूँ। जन-साधारण इसीको आत्मा या ईश्वर कहते हैं। बुद्धि और आचरण के द्वारा इस सत्य का अनुभव करना मनुष्य का स्वभाव-धर्म है। यह हुआ मनुष्य का लक्ष्य।

इसीका नाम है मनुष्यत्व प्राप्त करना। जबतक मनुष्य इस अवस्था को नहीं प्राप्त होता, वह अपने दिल और दिमाग़—आचार और विचार के द्वारा यह नहीं अनुभव करलेता कि आत्मा ही परमात्मा है—जीव-मात्र का सुख-दुःख मेरा सुख-दुःख है, उनके गुण-दोष मेरे गुण-दोष हैं, उनकी सबलता-निर्बलता मेरी सबलता-निर्बलता है, तब तक वह अपने लक्ष्य, पूर्णत्व या मनुष्यत्व से दूर है।

हिन्दू-धर्म का दूसरा बड़ा सिद्धांत है—'सर्व भूत-हित'। यह हिन्दू को उसके ध्येय तक पहुँचने का द्वार दिखाता है। इसका अर्थ है—प्राणि-मात्र के हित में लगे रहना। अर्थात् जो हिन्दू हर मनुष्य का—फिर वह किसी भी जात-पांत या देश का हो—सदा भला चाहेगा और करेगा, अपने भले से बढ़कर और पहले दूसरे का भला चाहेगा और करेगा, जो पशु-पक्षी-कीड़े-मकोड़े तक के हित में तत्पर रहेगा, वही अपने जीवन-लक्ष्य तक पहुँच सकेगा। ऐसे जीवन का ही नाम पवित्र जीवन, हिन्दू-जीवन या साधु-जीवन है। एक हिन्दू के लिए केवल यही काफी नहीं है कि वह जान ले कि मुझे पूर्णता को पहुँचना है—दुनिया के सब दुःखों, सब कम-ज़ोरियों, सब दोषों, सब बन्धनों से सदा के लिए छूट जाना है, या मनुष्योचित समस्त सद्गुणों, सद्भावों और सत्शक्तियों का उदय और पूर्ण विकास अपने अन्दर करना है; बल्कि यह भी ज़रूरी है कि वह उनके लिए सच्चे दिल से आजीवन अथक प्रयत्न करे। वह प्रयत्न कैसा और किस दिशा में हो—इसीका दर्शक यह दूसरा सिद्धांत है। इस सिद्धांत में समाज-सेवा, देश-हित, राष्ट्र-कल्याण, परोपकार आदि सद्भावों और सत्कार्यों का बीज है। हिन्दू भिन्न-भिन्न सेवा-कार्य इसलिए नहीं करता है कि उनसे दुनिया में उसकी कीर्त्ति फैलती है, या बड़प्पन और गौरव मिलता है, या उच्च पद और प्रतिष्ठा मिलती है, या और कोई दुनियावी

महत्वाकांक्षा सिद्ध होती है; बल्कि इसलिए करता है कि इनके बिना उसका जीवन-कार्य अधूरा रह जाता है; मनुष्योचित गुणों का विकास उसके अन्दर पूरा-पूरा नहीं हो पाता; उसके मनुष्यत्व या हिन्दुत्व की पूरी-पूरी कसौटी नहीं हो पाती। हिन्दू-धर्म का आधार-शास्त्र, या कर्मकाण्ड, या धार्मिक विधि-निषेध या यम-नियमादि का समावेश इसमें हो जाता है।

हिन्दू-धर्म के ये दो सिद्धांत—एक लक्ष्य संबंधी, दूसरा साधन-संबंधी—ऐसे हैं जो उसे मानव-धर्म की कोटि में ला बिठाते हैं; मानव-धर्म के लिए इससे बढ़कर सिद्धांत अभी तक किसी विचारक, धर्माचार्य, या धर्म-प्रवर्तक के दिमाग़ और अनुभव में नहीं आये। इसके अतिरिक्त हिन्दू-धर्म में कुछ ऐसे सिद्धांत भी हैं जो अन्य धर्म-मतों से उसे पृथक् करते हैं। वे हैं पुनर्जन्म, वर्णाश्रम और गोरक्षा। पुनर्जन्म का जन्म यद्यपि प्रधानतः तत्व-चिन्तन से हुआ है, तथापि उसका व्यावहारिक महत्व और उपयोग भी है। वर्णाश्रम का संबंध यों सामाजिक जीवन से विशेष है; पर वह हिन्दू-समाज का प्राणरूप हो गया है, इसलिए वह हिन्दू-धर्म की विशेषता की हद तक पहुँच गया है। गोरक्षा यों तत्वतः अहिंसा या सर्व-भूतहित का अंग है; पर उसका व्यावहारिक लाभ भारतवासियों के लिए इतना है कि उसे हिन्दू-धर्म के मुख्य अंगों में स्थान मिल गया है। इसके अलावा मूर्त्तिपूजा, अवतार, श्राद्ध, तीर्थ-व्रत आदि सम्बंधी ऐसे मन्तव्य भी हिन्दू-धर्म में हैं, जिनका समर्थन तत्वदृष्टि से एक अंश तक किया जा सकता है, परन्तु जिनका मूल-स्वरूप बहुत बिगड़ गया है और जिनका आज बहुत दुरुपयोग हो रहा है एवं इसलिए जिनके विषय में हिन्दू-धर्म के भिन्न-भिन्न पन्थों में मत-भेद है।

इस तरह संक्षेप में यदि हिन्दू-धर्म की रूप रेखा, व्याख्या या मुख्य सिद्धांत बताना चाहें तो यों कह सकते हैं—

(१) सर्वात्म-भाव, आत्म-तत्व, अद्वैत या चैतन्य-तत्व, (२) सर्वभूतहित, (३) पुनर्जन्म, (४) वर्णाश्रम और (५) गोरक्षा।

इनमें किसी की भाषा पर, या किसी एक की मान्यता के विषय में, भले ही मत-भेद हो; पर ये पांचों बातें ऐसी नहीं हैं, जिनके मानने से किसी को बाधा होती हो। समष्टिरूप से ऐसा कह सकते हैं कि ये पांचों सिद्धांत प्रायः प्रत्येक हिन्दू को मान्य होते हैं, और जो इन पांच बातों को मानता है उसे हमें हिंदू समझना चाहिए।

परिशिष्ट (३)

हिन्दू-धर्म का विराट् रूप

धर्म मूलतः वैयक्तिक वस्तु है—व्यक्ति के अपने पालन करने की चीज़है। एक ही धर्म के पालन करनेवाले जब अनेक व्यक्ति हो जाते हैं तब उनका अपना एक समाज बन जाता है। इसीको धर्म-समाज कहते हैं। आगे चलकर यही समाज किसी जाति के रूप में परिणत हो जाता है। हिन्दू-समाज या हिन्दू-जाति का जन्म पहले बताये हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों का पालन करने के लिए हुआ है।

व्यक्ति जब तक अकेला होता है तब तक वह एकाकी ही धर्म का पालन करता है—अपने लक्ष्य तक पहुँचने की चेष्टा करता है। दूसरों का ख़याल उसके मनमें आ ही नहीं सकता। एक से दो और दो से अधिक होते ही उनका एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध और सम्पर्क होने लगता है और उनके पारस्परिक कर्त्तव्य या धर्म या व्यवहार-नियम बनने लगते हैं।

इन्होंकी परिणति आगे चलकर भिन्न-भिन्न नीति-नियमों में होती है। समाज बना नहीं और बढ़ने लगा नहीं कि मनुष्य के जीवन में जटिलता आई नहीं। जटिलता के आते ही धर्म का रूप भी जटिल होता जाता है और समाज के विकास के साथ ही उसका रूप भी विराट होने लगता है। क्योंकि अब उसे केवल एक व्यक्ति की ही सहायता नहीं करनी है, उसी की आवश्यकता की पूर्ति नहीं करनी है—अब तो अनेकों का, अनेक प्रकार की अवस्थाओं में रहनेवालों का प्रश्न उसके सामने रहता है। हिन्दू-समाज आज बहुत विकसित रूप में हमारे सामने है, और इसीलिए हिन्दू-धर्म का रूप भी विराट् हो गया है। वह केवल आदर्शों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाला तात्त्विक धर्म नहीं रहा, बल्कि सब प्रकार की श्रेणियों, पंक्तियों तथा विविध स्थितियों के लोगों को उनके लक्ष्य तक पहुँचानेवाला व्यावहारिक या अमली धर्म हो गया है। एक से लेकर अनेक तक, छोटे से लेकर बड़े तक, राजा से लेकर रंक तक, मूर्ख से लेकर पण्डित और तत्त्वदर्शी तक, पापी से लेकर पुण्यात्मा तक, स्त्री पुरुष-बालक-वृद्ध सबकी सुविधाओं, आवश्यकताओं, कठिनाइयों का ख़याल उसे रखना पड़ता है और इसलिए उसका रूप विविध और जटिल हो गया है। बड़े-बड़े तत्त्वदर्शियों से लेकर अबोध किसान, मज़दूर, स्त्री, बालक तक की भूख बुझाने का सामर्थ्य उसमें है। तत्त्वजिज्ञासुओं के लिए हिन्दू धर्म में गम्भीर दर्शन-ग्रन्थ तथा भगवद्गीता विद्यमान् हैं, जीवन को पवित्र और उच्च बनानेवालों के लिए स्फूर्तिदायी उपनिषद् वर्तमान हैं; कर्म-काण्डियों और याज्ञिकों के लिए विधि-निषेधात्मक वेद तथा स्मृति-ग्रन्थ हैं; भक्तों और भावुकों के लिए रसमयी रामायण-भागवत आदि हैं, अज्ञों और अल्पज्ञों के लिए कथा-कहानियों-दृष्टान्तों से भरे पुराणादि तथा तान्त्रिक ग्रन्थ हैं एवं समाज तथा राज्य-संचालकों के लिए महाभारत,

विदुर-नीति, शुक-नीति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वात्स्यायन के काम-सूत्र, कामन्दकीय नीति आदि साहित्य है; साहित्य-रसज्ञों और काव्य-पिपासुओं के लिए भिन्न-भिन्न साहित्य-ग्रन्थ तथा काव्य-नाटकादि हैं। इसी प्रकार क्या ज्योतिष, क्या वैद्यक, क्या कला, क्या शिक्षा, क्या युद्ध, सब विषयों पर हिन्दूवाङ्मय में अच्छा साहित्य मिलता है। वर्णाश्रम तथा भिन्न-भिन्न धर्म-मतों या सम्प्रदायों के भेद से हिन्दू-समाज और धर्म अनेक-विध हो गया है और उसकी इस विविधता, अनेकरूपता, व्यापकता और सर्व-लोकोपयोगिता के रहस्य को न समझने के कारण कितने ही देशी तथा विदेशी भ्रम में पड़ जाते हैं तथा उसकी लोक-प्रियता को देखकर हैरान हो जाते हैं। विविधता उन्हें उसके मूल-स्वरूप को भली-भाँति नहीं देखने देती, विस्तार उसके आदर्शों तक सहसा नहीं पहुँचने देता और लोक-प्रचार तथा लोक-प्रचलित साधारण रूप उनके मन में वह स्फूर्ति नहीं पैदा करता जो उच्च आदर्श कर सकता है। वे ऊँचे तत्त्वों और आदर्शों की खोज में हिन्दू-धर्म के पास उत्कण्ठा से आते हैं और उसके जन-साधारण में प्रचलित व्यावहारिक और विकृत रूप को देखकर निराश हो जाते हैं। यह न उनका दोष है, न हिन्दू-धर्म का। यह दोष है हिन्दू-धर्म के विराट् रूप का और उसकी संगति लगा पाने की अपनी अक्षमता का।

हमें यह भूलना न चाहिए कि धर्म का यह विराट् रूप व्यक्तिगत नहीं सामाजिक है। समाजोपयोगी बनने के हेतु से ही उसका इतना विस्तार हुआ है। जब मनुष्य अकेला होता है तब उसकी किसी धारणा या उसके आचार में मत-भेद के लिए उतना स्थान नहीं रहता, जितना कि समाज में या समाज बन जाने पर होता है। समुदाय के लिए मत-भेद बिलकुल स्वाभाविक बात है। विचार और आचार-सम्बन्धी मत-भेदों ने ही संसार में अनेक धर्म-पन्थों की स्थापना की है। इसी कारण हिन्दू-धर्म में भी

कई मत हो गये हैं, जिन्होंने हिन्दू-धर्म को बहुत जटिल और व्यापक रूप दे दिया है ।

पहले मनुष्य उत्पन्न होता है, वह कुछ विचार करता है, दूसरे पर अपने विचार प्रकट करता है, और फिर कालान्तर में वह लिखा जाकर पुस्तक-रूप में प्रकाशित होता है। इस प्रकार कोई ग्रन्थ जहां व्यक्तियों या समाज की धारणाओं, प्रवृत्तियों और हलचलों का कार्य होता है तहाँ उनका कारण भी होता है, अर्थात् कोई ग्रन्थ जहाँ समाज के विचारों और आचारों का परिणाम-स्वरूप होता है वहां वह उसे आगे विचार और आचार के लिए प्रेरित भी करता है। इस कारण किसी ग्रन्थ को देखकर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि उसके पूर्ववर्ती समाज की क्या अवस्था रही होगी, ग्रन्थ-कालीन समाज की आवश्यकतायें क्या रही होंगी, तथा परवर्ती समाज कैसा रहा होगा। समाज में जो ग्रन्थ जितना ही अधिक आदरणीय होता है उतना ही वह समाज-स्थित्ति का, गति-विधि का अधिक और ठीक सूचक होता है। ऐतिहासिक विचारकों ने ऐसे ग्रन्थों के आसपास के समय को, जिसपर उनका प्रभाव पड़ने का अनुमान किया गया हो, उस ग्रन्थ के काल का नाम दे दिया है। इसी प्रकार प्रभावशाली व्यक्ति-विशेष या सूचक वस्तु-विशेष के नामानुसार भी ऐतिहासिक काल-विभाग किया गया है। जैसे—वेद-काल, उपनिषत्-काल, दर्शन-काल, सूत्र-काल, बौद्ध-काल, गुप्त-काल, प्रस्तर-युग, धातु-युग आदि।

वेद हिन्दुओं के सबसे पुराने मान्य ग्रन्थ हैं। वे चार हैं—ऋक्, यजु, साम, और अथर्व। उनके आसपास के समय को वेद-काल कहते हैं। इस काल में प्रार्थना तथा यज्ञ-यागादि के द्वारा अपने जीवन को सुखी और पवित्र बनाने का साधन हिन्दुओं को अभिमत था। इसके बाद उपनिषत्-काल आता है। उपनिषद वेदों के विकास का फल है। इस काल

में आत्मा-परमात्मा संबंधी ऊंची कल्पनाओं का उदय हुआ और हिन्दू उच्च नैतिक जीवन तथा दार्शनिक विचारों के प्रेमी हुए। पश्चात् दर्शन काल है और इनमें हिन्दुओं के—तत्कालीन आर्यों के—गंभीर तत्व-चिन्तन, तर्कशुद्ध मनन और शास्त्रीय विचार-प्रणाली की गहरी छाप दिखाई पड़ती है। सूत्र और स्मृतियां हिन्दुओं के आचार-शास्त्र की, महाभारत आदि समाज-नीति की गहरी पहचान कराती हैं। हिन्दुओं के इस धर्म-साहित्य को देखने से जहाँ यह मालूम होता है कि धर्म-चिन्तन और धर्माचरण में वे कैसे कैसे प्रगति करते गये, तहाँ यह भी पता चलता है कि वे राज्य-संचालन, समाज-व्यवस्था आदि में भी कैसे निपुण और बहुज्ञ होते गये। इस प्रकरण में हमारा संबंध सिर्फ धार्मिक जीवन या धर्म-प्रगति से है।

जैसे-जैसे हिन्दू-समाज बढ़ता गया, धर्म-चिन्तन और धर्माचार में विविधता और मत-भिन्नता होती गई, तैसे-तैसे उनके फलस्वरूप अनेक दर्शन, अनेक स्मृतियां, अनेक सम्प्रदाय-ग्रन्थ तथा अन्य पुस्तकों की सृष्टि हुई और समाज अनेक वर्गों, जातियों, दलों में विभक्त होता गया। मनुष्य के लक्ष्य और उसके मार्ग-संबंधी बातों में विवाद उपस्थित होने लगे तथा देश, काल, पात्र के अनुसार उनके व्यवहार की सीढ़ियां जुदी-जुदी बनती गई। काल पाकर ईश्वर, जीव और जगत् संबंधी तत्त्व-विचारों में इतनी भिन्नता हुई कि सांख्य, मीमांसा (दो भाग) न्याय, योग, वेदान्त इन छः शास्त्रों की रचना हुई। यज्ञ-याग और कर्म-काण्डादि बाह्य-साधनों की ओर अधिक ध्यान देने और अन्तःशुद्धि की कम पर्वा करने की अवस्था में गौतम बुद्ध ने धर्म के स्वरूप में संशोधन उपस्थित किया, जो कि बौद्ध-संप्रदाय के नाम से विख्यात हुआ। इसी प्रकार तप और आत्मशुद्धि के प्रति उदासीनता तथा हिंसा के अतिरेक को

देखकर महावीर ने जैन-सम्प्रदाय को पुष्ट किया। इसके आगे चलकर शंकराचार्य ने अद्वैत, रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत और वल्लभाचार्य ने द्वैताद्वैत आदि मतों की स्थापना की। इधर धार्मिक जीवन के विकास-भेद से कर्म, भक्ति और ज्ञान इन श्रेणियों का जन्म पहले ही हो चुका था; जिनके फलस्वरूप कर्ममार्गी, भक्तिमार्गी, ज्ञानमार्गी, अनेक पंथ और धर्म-साहित्य बन गये। पुष्टिमार्ग, कबीरपंथ, दादूपंथ, नाथ-संप्रदाय, इसीके उदाहरण हैं। वर्तमान प्रार्थना-समाज, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, देवसमाज, थियासफी, आदि भी इसी प्रवृत्ति के सूचक और फल हैं। फिर त्याग और भोग-प्रवृत्ति अर्थात् कर्म-मार्ग और सन्यास-मार्ग ये दो विभाग अलग हो गये। वर्णाश्रम के ८ विभागों के धर्म-मार्ग और भी विविध हो गये। भक्ति-मार्ग ने अनेक देवी-देवताओं की उपासना को, मूर्ति-पूजा को, तथा योग-मार्ग ने देह-दण्डन तथा चित्त-शुद्धि के निमित्त दान, जप, तीर्थ, व्रत, नियम-विषयक एवं जंत्र, मंत्र, तंत्र-संबंधी अनेक पन्थों को जन्म दिया। इन तमाम मतों, सिद्धान्तों, पन्थों का समावेश कर्म-मार्ग, भक्तिमार्ग, और ज्ञान-मार्ग में भली भांति हो जाता है। ये तीनों मार्ग मनुष्य की तीन बलवती चित्त-वृत्तियों के अनुसार बने हैं—कर्मण्यता या क्रियाशीलता, भावुकता या भावना-प्रचुरता और विरक्ति अथवा उदासीनता, ये तीनों उत्तरोत्तर ऊंची सीढ़ियाँ हैं। हिन्दू का जीवन कर्म से आरंभ हो कर ज्ञान में समाप्त होता है। ज्ञान का संबंध मनुष्य के लक्ष्य से है—कर्म और भक्ति का साधनों से।

परिशिष्ट (४)

नव दम्पति की कठिनाइयाँ

नव दम्पतियों की दाम्पत्य जीवन-सम्बन्धी कई कठिनाइयां अक्सर सामने आया करती हैं। कहीं पति-पत्नी का आपस में मन-मुटाव हो जाता है; कहीं दूसरे लोग उन्हें एक-दूसरे के ख़िलाफ़ बहका कर उनका गृह-जीवन क्लेशमय कर देते हैं; कहीं वे माँ-बाप से बिगाड़ कर लेते हैं; कहीं कच्ची उम्र में माता-पिता के पद को पहुँच कर दुःखी होते हुए देखे जाते हैं और कहीं तरह-तरह के गुप्त रोगों के शिकार हो जाते हैं। बाल्यावस्था में हुए विवाहों के ऐसे दुष्परिणाम बहुत देखे जाते हैं। एक ओर उन्हें सामाजिक और सांसारिक व्यवहार के नियमों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता और दूसरो ओर समाज को अलिखित मर्यादा उन्हें अपने बड़े-बूढ़ों के सलाह-मशविरे से रोक देती है। ऐसी अवस्था में, कठिनाई, उलझन या संकट के समय, न स्वयं उन्हें प्रकाश-पथ दिखाई देता है और न दूसरों की काफ़ी सहायता उन्हें मिल पाती है। धूर्त और स्वार्थी लोग ऐसी परिस्थितियों से न केवल खुद बेजा लाभ उठाते हैं बल्कि दम्पती को भी बड़े संकट में डाल देते हैं। धनी और रईस लोगों के यहाँ ऐसी दुर्घटनायें अधिक होती हैं। क्योंकि उनका धन और ऐश्वर्य खुशामदियों, धूर्तों, स्वार्थियों के काम की चीज़ होता है। अतएव अपने नव-विवाहित भाई-बहनों के लाभ के लिए कुछ ऐसे

व्यावहारिक नियम यहाँ दिये जाते हैं, जिनके ज्ञान और पालन से वे बहुतेरे संकटों से बच सकेंगे—

(१) सबसे पहली और ज़रूरी बात यह है कि उन्हें आपस में खूब प्रेम बढ़ाना चाहिए। एक को दूसरे के गुण की क़द्र करनी चाहिए और दोषों को उदार दृष्टि से देखकर उन्हें दूर करने में परस्पर सहायता देनी चाहिए। पति बड़ा और पत्नी छोटी, यह भाव दिल से निकाल डालना चाहिए। प्रेम बढ़ाने का यह मतलब नहीं कि दिन-रात भोग-विलास की बातें सोचते और करते रहें, बल्कि यह कि एक-दूसरे का हृदय एक-दूसरे से अभिन्न हो जाय। एक का दुःख दूसरे को अपना दुःख मालूम होने लगे; एक की त्रुटि दूसरे को अपनी त्रुटि मालूम होने लगे। एक-दूसरे को अपना सखा, हितैषी और सेवक समझे। एक-दूसरे की रुचि का ख़याल रक्खे। स्वभाव की त्रुटि या व्यवहार की भूलों को हृदय का दोष न समझ ले।

(२) दूसरी बात यह कि परस्पर इतना विश्वास पैदा कर लें और रक्खें कि तीसरा कोई भी व्यक्ति एक-दूसरे के बारे में उन्हें कुछ भी कह दे तो एकाएक उनके दिल पर उसका असर न हो। यदि असर हो भी जाय तो उसके अनुसार व्यवहार तो एकाएक हर्गिज न कर बैठना चाहिए। चरित्र-सम्बन्धी बुराई एक ऐसी बात होती है, जिसे स्वार्थी या नादान हितैषी इस तरह कह देते हैं कि सहसा विश्वास हो जाता है या होने लगता है। ऐसे समय ख़ास तौर पर सावधान रहने की ज़रूरत है। ऐसे मामलों में अत्युक्ति और अनुदारता की बहुत प्रबलता देखी जाती है। ऐसी बातें सुनकर, एकाएक आवेश में आकर, पति का पत्नी से या पत्नी का पति से बिगाड़ कर लेना भारी भूल है। ऐसे मामलों में एक बार तो मनुष्य अपनी आँखों पर भी विश्वास न करे तो अच्छा। दोनों को एक-दूसरे के हृदय पर इतना विश्वास हो जाना चाहिए

कि कोई बुराई प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी उस पर सहसा विश्वास न बैठे। यह मालूम हो कि नहीं, मेरी आँखों को कुछ भ्रम हो रहा है। ऐसा विश्वास जमता है एक-दूसरे का हृदय एक-दूसरे पर खुला कर देने से। पति-पत्नी दोनों का निजी जीवन एक-दूसरे के लिए खुली पुस्तक होनी चाहिए। यदि दो में से किसी के मन में कोई कुविचार या कुविकार भी पैदा हो तो उस तक का ज़िक्र परस्पर में करने योग्य हृदयैक्य दोनों का चाहिए। दो में से जो ज्यादा समझदार और योग्य है उसे चाहिए कि ऐसे कुविचारों और कुविकारों की हानियाँ दूसरे को समझावे और उनके दूर करने में सहायता दे। दोनों को एक-दूसरे के दिल का इतना इत्मीनान होना चाहिए कि वह निर्भय होकर अपनी बुराइयाँ उससे कह दे और विश्वास-घात का भय न रहे। विश्वास में कही गई बातों की रक्षा अपने प्राण की रक्षा के समान करनी चाहिए।

(३) तीसरी और सबसे नाज़ुक बात है दो में से किसी से कोई नैतिक भूल हो जाने के समय की व्यवहार-नीति। दुर्भाग्य से हमारे समाज में पुरुष की नैतिक भूल इतनी बुरी निगाह से नहीं देखी जाती, जितनी कि स्त्री की देखी जाती है। ऐसी बुराइयों की भयंकरता तो दोनों दशाओं में समान है। यदि ऐसी कोई भूल हो जाय तो एकाएक लड़ पड़ने, बहिष्कार कर देने या आवेश में और कोई अनहोनी बात कर बैठने के पहले यह देखना चाहिए कि यह दोष भूल से हुआ है, जान-बूझकर किया गया है, या जब्रन हुआ है। यदि भूल से हुआ है तो भूल दिखाना और उसका प्रायश्चित्त कराना पहला उपाय है। यदि जान-बूझ-कर किया गया है तो इसका विचार अधिक गम्भीरता से करना चाहिए। इसके मूल कारण को खोजना चाहिए। कैसे लोगों की संगति में अबतक का जीवन बीता है, कैसा साहित्य पढ़ने या देखने की रुचि है, कैसा

आहार-विहार है, घर का वायु-मण्डल कैसा है, इत्यादि बातों की छान-बीन करके फिर भूल को नष्ट करने का उद्योग करना चाहिए। असफल होने की अवस्था में बहिष्कार या सम्बन्ध-विच्छेद अन्तिम उपाय होना चाहिए। यदि जब्र किया गया हो तो जब्र करनेवाला असली अपराधी है, उसका इलाज करना चाहिए; और जिसपर जब्र किया गया हो उसे ऐसा सामर्थ्य प्राप्त कराने का उद्योग करना चाहिए, जिससे किसी क़िस्म के बलात्कार का शिकार वह न हो पावे। ऐसे अवसरों पर मनोभावों का उत्कट हो जाना स्वाभाविक है; परन्तु ऐसे ही समय बहुत शान्ति, धीरज, गम्भीरता, कुशलता और दूरदर्शिता की अवश्यकता होती है। नवीन दम्पति ऐसे अवसरों पर कर्तव्य-मूढ़ हो सकते हैं। उन्हें घर के समझदार विश्वास-पात्र बड़े-बूढ़ों की अथवा अनुभवी मित्रों की सहायता ऐसे समय ले लेनी चाहिए। बिना सोचे, तौले और आदमी देखे ऐसी बातों की चर्चा हलके दिल से न करनी चाहिए। दूसरे के घर की सुनी बातों की चर्चा भी बिला वजह और बिना प्रयोजन के न करनी चाहिए।

(४) चौथी बात यह कि नवीन दम्पतियों को या तो घर के किसी बूड़े-बूढ़े को या किसी विश्वासपात्र मित्र को या किसी महापुरुष को अपना पथ-दर्शक बनाना चाहिए। लज्जा और संकोच छोड़कर अपनी कठिनाइयाँ उनके सामने रखनी चाहिए और उनसे सलाह लेनी चाहिए। अक्सर देखा गया है कि झूठी लज्जा के वशवर्ती होकर कितने ही युवक-युवती बुराइयों, बुरी बातों, बुरे व्यवहारों और हरकतों को मन मसोस कर सहते रहते हैं—इससे खुद वे भी बुराई के शिकार होते रहते हैं और घर या समाज में भी गन्दगी फैलती रहती है और उनकी आत्मा को भीतर ही भीतर क्लेश होता रहता है। कई बीमारियों में वे फँस जाते हैं और दुःख पाते रहते हैं। यह हालत बहुत ख़तरनाक है। इससे बेहतर यह है कि निःसंकोच

होकर गुह्य बातों की भी चर्चा अधिकारी पुरुषों के सामने कर ली जाय।

(५) पाँचवाँ नियम यह होना चाहिए कि विवाह के बाद योग्य अवस्था होते ही पति पत्नी को साथ रहना चाहिए। दूर देशों में अलग अलग रहना, सो भी बहुत दिनों तक, भयप्रद है। साथ रहते हुए जहाँ तक हो संयम का पालन करना चाहिए। पर संयम के लोभ से अथवा ख़र्च वर्च और असुविधा के ख़याल से दूर रहना अनुचित और कु-फलदायी है।

(६) गुप्त रोग हो जाने की अवस्था में अपने जीवन के दूसरे साथी को उससे बचाने की चिन्ता रखनी चाहिए। उसके इलाज का पूरा प्रबन्ध करके आइन्दा उसे न होने देने के कारणों को जड़ से उखाड़ डालना चाहिए। अनुचित आहार-विहार, अ-संयम, गंदे स्थानों पर पाख़ाना-पेशाब, वेश्या-सेवन आदि से गुप्त रोग हो जाया करते हैं। सदा और अल्प आहार, संयम, स्वच्छता के ज्ञान और पालन से मनुष्य ऐसे रोगों से दूर रह सकता है। विज्ञापनी दवाइयों से हमेशा बचना चाहिए।

(७) सातवीं बात यह है कि अश्लील और कामुकता तथा विला-सिता के भावों को बढ़ानेवाले नाटक, उपन्यास, आदि पढ़ने, ऐसे थियेटर सिनेमा, चित्र देखने से अपने को बचाना चाहिए। ऐसे मित्रों की संगति और ऐसे विषयों की चर्चा से उदासीन रहना चाहिए।

(८) आठवीं बात यह है कि पत्नी की रुचि अपने अंगीकृत कामों में धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिए और उसे उनके ज्ञान और अनुभव का अवसर देना चाहिए। दोनों को एक-दूसरे के जीवन को बनाने और अगीकृत कार्यों को पूर्ण करने में दिलचस्पी लेनी चाहिए।

मुझे आशा है कि ये कुछ बातें नव दम्पतियों के लिए कुछ हद तक मार्गदर्शक का काम देंगी।

कुछ भ्रमों का निरसन

[५]

[१]

बौद्धिक स्वार्थ-साधुता

कुछ लोगों का यह कहना है कि भारत में सच्ची स्वतंत्रता या जनता की सरकार तबतक नहीं बन सकती जबतक पूंजीवाद का मुंह काला न होगा और पूंजीवाद को मिटाने के लिए वर्गवाद और वर्ग-युद्ध अनिवार्य है। किन्तु मेरी राय में हमारा असली शत्रु है हमारी बौद्धिक स्वार्थ-साधुता। क्योंकि वास्तव में देखा जाय तो जो मनुष्य सारे समाज के हित का विचार करता है, जो सामुदायिक उत्थान का हामी है, वह कदापि एक व्यक्ति के नाश पर दूसरे व्यक्ति का, एक जाति या श्रेणी के नाश पर दूसरी जाति या श्रेणी का, अथवा एक राष्ट्र के नाम पर दूसरे राष्ट्र का अभ्युत्थान या लाभ नहीं चाह सकता। एक का नाश और दूसरे का अभ्युत्थान यह समाजवादी की भाषा नहीं हो सकती। वह सबका समान उदय चाहता है। वह पीड़क और पीड़ित, उन्नत और अवनत,

सुखी और दुखी, धनी और निर्धन, सबका समान हित चाहता है। हित और नाश ये दोनों शब्द, ये दोनों भाव, एक जगह नहीं रह सकते। हित-कर्त्ता सुधार चाहता है, नाश नहीं। वह नाश करेगा बुराई का, बुरी प्रणाली का, बुरे शासन का, पर बुरे व्यक्ति का नहीं। व्यक्ति का तो वह सुधार चाहता है। जिसका सुधार चाहता है उसीका नाश करके वह उसका सुधार कैसे करेगा? वह एक का नाश करके दूसरे को सच्चे अर्थ में बचा भी नहीं सकता। किसी को बचाने या सुधारने का उपाय क्या है? उसे उसकी भूल बताना, समझाना और सुधार के लिए उत्साहित करना, सुधार-मार्ग में आनेवाली कठिनाइयां दूर करना, न कि एक को मार कर उसके डर से दूसरे को उस बुराई से बचाना। डर से मनुष्य कै दिन तक बचेगा? हमें उसके मन में बुराई के प्रति असहिष्णुता, बुरे के साथ असहयोग का भाव उत्पन्न करना चाहिए। इससे वह बुराई से बचेगा भी और दूसरे का भी, बिना नाश किये, सुधार होगा।

वर्गयुद्धवादी अपने पक्ष की शुरुआत इस तरह करते हैं—संसार में दो वर्ग हैं, एक स्वार्थ-साधु (Exploiter) दूसरा पीड़ित (Exploited)। स्वार्थ-साधु अपने धन-बल से पीड़क बन गया है। अपने धनैश्वर्य के बल पर उसने सत्ता भी अपने हाथ में करली है। जबतक यह वर्ग संसार में रहेगा तबतक जनता तो पीड़ित ही बनी रहेगी। यह वर्ग इतना प्रबल और सुसंगठित हो गया है कि जबतक सत्ता हाथ में लेकर इसे नष्ट नहीं कर दिया जायगा तबतक पीड़ित जनता का उद्धार न होगा। रूस में लेनिन ने १० वर्ष पहले शस्त्र-बल से ऐसी क्रान्ति की है। उसकी सफलता ने इन भावों और योजनाओं को बहुत प्रोत्साहन दिया है। इस विचार के लोग अपने को कम्यूनिस्ट—कुटुम्बवादी, समाजवादी या समष्टिवादी—कहते हैं। पर असल में देखा जाय तो वे समष्टि-हित के

भ्रम से वर्ग-हित कर रहे हैं। भले ही वह वर्ग बहुजन-समाज का हो। हम विश्लेषण के लिए भले ही ऐसे दो वर्ग मान लें, पर एक के विनाश पर दूसरे के उदय की कल्पना करना समष्टि-हित की कल्पना के प्रतिकूल है।

परन्तु मैं तो एक और दूर की तथा गहरी बात पाठकों के सामने रखना चाहता हूँ। मैं मानता हूँ कि धन-बल का वर्तमान संगठन समष्टि-हित के अनुकूल नहीं है। परन्तु समष्टि के पीड़न का मुख्य कारण यही नहीं है। धन, सत्ता और ज्ञान अथवा बुद्धि तीनों को किसी और चीज नें अपना साधन बनाया है। वह है मनुष्य की स्वार्थ-साधुता। जब यह बढ़ जाती है तब मनुष्य पीड़क बन जाता है। अकेले धनी ही नहीं, सत्ताधारी और विद्वान् या बुद्धिशाली प्रायः सब अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कर रहे हैं। मेरी समझ में यह मानना उतना सही नहीं है कि धन ने सत्ता और बुद्धि को अपने लाभ के लिए खरीद लिया है जितना यह कि बुद्धि ने धन और सत्ता दोनों को अपना गुलाम बना रक्खा है। बुद्धि का दरजा धन और सत्ता से बढ़कर है। बिना बुद्धि के न धन पैदा हो सकता है न सत्ता आ सकती है, न दोनों का संगठन हो सकता है। विज्ञान के अद्भुत आविष्कार, जो धन,बुद्धि और सत्ता की रक्षा के जबर्दस्त साधन बने हैं, बुद्धि की ही करामात हैं। अतएव मैं उन भाइयों का ध्यान इस ओर खींचना चाहता हूँ जो महज पूंजीवाद के विरोधी हैं और उसी-को जन-साधारण के दुःखों की जड़ मानते हैं। वे गहराई में उतरेंगे तो उन्हें पता लगेगा कि धन और सत्ता के दुरुपयोग से बढ़ कर बौद्धिक स्वार्थ-साधुता है और पहले उसे हमें समाज में से निकालना है।

यह कैसे निकले ? सबसे पहले मनुष्य की बुद्धि को शुद्ध कीजिए। उसे स्वार्थ-साधना से हटा कर देश-सेवा और जन-सेवा में लगवाइए।

यह भावना फैलाइए कि मनुष्य अपने लिए न जीये, दूसरों के लिए जीये। अपने आचरण के द्वारा ऐसा उदाहरण पेश कीजिए। सदा जागरूक रहिए कि आपकी बुद्धि आपके स्वार्थ के लिए तो दूसरे का उपयोग नहीं कर रही है। यदि अपनी बुद्धि पर आपने अच्छी तरह चौकी-पहरा बिठा दिया है तो आप देखेंगे कि न आपके पास धन जमा हो रहा है और न सत्ता आ रही है। आप धन और सत्ता से उदासीन हो जायँगे। यदि धन और सत्ता आपके पास आये भी तो आपकी शुद्ध बुद्धि उन्हें अपनी स्वार्थ-साधना में न लगने देगी। जन-कल्याण में ही उसका उपयोग करावेगी। आप देखते ही हैं कि धन और सत्ता बजात खुद उतनी बुरी चीजें नहीं हैं। सद्बुद्धि उनका सदुपयोग करती है और कुबुद्धि दुरुपयोग। यही असली हानिकर वस्तु हैं। इससे हमें अपने को सब तरह बचाना चाहिए।

आपको समाज में ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो धन-बल को कोसते हैं; पर सत्ता के लिए लालायित रहते हैं। इस तरह ऐसे पुरुष भी मिलेंगे जो धन और सत्ता दोनों की निन्दा करते हैं किन्तु अपनी बुद्धि या ज्ञान के द्वारा दोनों का उपयोग स्वार्थ-साधन में करते हैं। फिर बुद्धि का दुरुपयोग धन और सत्ता के दुरुपयोग से अधिक सूक्ष्म अतएव अधिक गहरा प्रभावकारी है। इसलिए मेरा तो यह निश्चित मत है कि यदि भारत के वास्तविक संदेश को हमने समझ लिया है, हमें समाज की व्यवस्था को सुधारना है, उसमें सामञ्जस्य और समता लाना है, तो अकेले पूंजीवाद के पीछे पड़ने से काम न चलेगा। पूंजी, सत्ता और बुद्धि तीनों के दुरुपयोग की जड़ पर कुठाराघात करना होगा। इसमें भी सबसे पहले बौद्धिक स्वार्थ-साधुता का गला घोंटना होगा। क्योंकि वास्तव में बुद्धि ही इनका नेतृत्व करती है। अतएव समाज के सभी विचारशील पुरुषों से मेरी प्रार्थना है कि वे अकेले पूंजीवाद का पिण्ड छोड़ कर मनुष्य की बुद्धि को शुद्ध

करने का सबसे अधिक प्रयत्न करें। मनुष्य को अब से अच्छा और ऊँचा मनुष्य बनाने का प्रयास करें। सत्पुरुष बुरी प्रणाली को भी सुधार देगा और दुष्टजन सत्प्रणाली को भी भ्रष्ट कर देगा।

[२]

भारतीय देशभक्ति

कितने ही लोग यह मानते हैं कि राष्ट्रीयता के बिना भारत स्वाधीन नहीं हो सकता। दूसरे लोग कहते हैं कि संकुचित राष्ट्रीयता या देशभक्ति वास्तविक स्वतंत्रता की विरोधक है। अतएव हमें देखना चाहिए कि भारतीय देशभक्ति वास्तव में क्या है ?

मनुष्य-समाज जब अपनेको भौगोलिक सीमाओं में बांध लेता है तब वह देश कहलाता है। इससे अपनें-आप यह सिद्ध होता है कि देश मनुष्य-समाज से भिन्न या देश-हित मानव-समाज के हित से विपरीत वस्तु नहीं है। मानव-समाज विशाल और बृहत् है। अब से पहले उसके पास आवागमन के इतने द्रुत और सुलभ-साधन भी नहीं थे। इससे वह भिन्न-भिन्न भू-भागों में बँट गया। वही उनका देश कहलाया। अपने-अपने निवास-स्थानों की जल-वायु, परिस्थिति आदि कारणों से उनके आकार-प्रकार, रूप-रंग और स्वभाव में भी भेद हो गया। उनके हित-सम्बन्ध भी भिन्न और कई बातों में परस्पर-विरोधी हो गये। तब उनकी रक्षाशीलता नें उनमें देशाभिमान उत्पन्न किया। जिनके हित-सम्बन्ध एक थे वे एक-राष्ट्र कहलाये। जिनमें रक्त और रक्त-जात हितों और सम्बन्धों की एकता थी वे एक जाति बन गये। एक देश में कई जातियां हो गईं। संकुचित स्वार्थ ने उनमें भी कलह और संघर्ष

पैदा किया। इससे जातिगत भावों का उदय हुआ। नजदीकी स्वार्थ पर प्रधान दृष्टि रहने के कारण वंशाभिमान और जात्यभिमान की सृष्टि हुई। इन कई क्षुद्र अभिमानों का संघर्ष जगत् का इतिहास है। सौभाग्य से अब संसार क्षुद्रता और संकुचितता से ऊपर उठ रहा है। जातिगत भावों से उसे अब घृणा हो गई है। राष्ट्रीय भाव अब उसे अपने हृदय के नजदीक मालूम होने लगे हैं। परन्तु राष्ट्रीय भावों में भी अभी संकुचितता और क्षुद्रता भरी हुई है। एक देश या एक राष्ट्र क्यों अभी दूसरे पर चढ़ाई करने की, दूसरे से युद्ध करने की आयोजना करता जा रहा है? क्यों दूसरे को गुलाम बनाये रखने की प्रवृत्ति रख रहा है? क्यों आत्म-दृष्टि से वह दूसरे को नहीं देख रहा है? क्यों वह अपने हित को उसके हित से भिन्न मान रहा है? क्या यह संकुचितता और क्षुद्रता नहीं है? आवागमन और परिचय के इतने सुलभ साधन हो जाने के बाद तो यह क्षुद्रता मिट जानी चाहिए न? सारी मानव-जाति को एकता और प्रेम-सूत्र में बांधने का प्रयत्न होना चाहिए न? इस भावना से कि हम सब बिछुड़े हुए भाई मिल गये, हमारा हृदय हर्ष से उछलना चाहिए न? पर क्या एक अंग्रेज को देखकर एक हिन्दुस्थानी के मन में ऐसा भ्रातृप्रेम उमड़ पड़ता है? एक चीनी को देख कर एक अंग्रेज बन्धुभाव से गले मिलता है? एक जर्मन तुर्क या इटालियन को उसी प्रेम की निगाह से देखता है, जिससे वह जर्मन को देखता है? नहीं। क्यों? इसीलिए कि अभी हमनें अपने हित-सम्बन्धों को भौगोलिक सीमाओं में कैद कर रक्खा है। जमाना आवेगा, और बन्धन टूटेंगे। हमें उस जमाने को जल्दी लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

भारतवर्ष इसमें सबसे अधिक सहायक हो सकता है, क्योंकि उसनें विश्वबन्धत्व का सच्चा मार्ग खोज निकाला है। और राष्ट्र दूसरे की

लूट पर जीवित रहना चाहते हैं और इसलिए एक दूसरे के शत्रु-से बने हुए हैं। भारतवर्ष ने लूट का अन्त कर देने का निश्चय कर लिया है। वह न अपने को लूटने देना चाहता है, न खुद लूटने का इरादा रखता है। उसने अहिंसा को पा लिया है, जो उसे लूटने और लूटने देने से मना करती है। ऐसी निर्भयता और निःशंकता का संदेश आज तक किसी देश ने दूसरे देश को नहीं दिया है। इसलिए भारत की देश-भक्ति और देशों की देश-भक्ति से भिन्न है। रूस ने अलबत्ता देश-भक्ति से आगे कदम उठाया है; पर जब तक वह अहिंसा को राष्ट्रधर्म नहीं बना लेता है तबतक उसकी साधना अधूरी ही रहेगी—तबतक वह दूसरे देशों के लिए भय की वस्तु बना रहेगा। खुद रूसवासियों को भी वह निर्भयता और निःशंकता का जीवन प्रदान न कर सकेगा। भय के शस्त्रों का अवलम्बन करके निर्भयता का आश्वासन देना अपनें-आपको धोखा देना है। अस्तु। पर भारत जबतक खुद गुलाम है, दूसरे देशों की दृष्टि में खुद एक-देश या एक-राष्ट्र नहीं है, स्वतंत्र समाज नहीं है, तबतक मानव-हित या विश्वबन्धुत्व की बात उसके मुंह से 'छोटे मुंह बड़ी बात' हो सकती है। परन्तु यह निर्विवाद है कि उसकी देशभक्ति मानव-हित के विपरीत नहीं हो सकती। उसने ससझ लिया है कि देश-हित सीमित मानव-हित है। अहिंसा उसे दूसरे राष्ट्र, देश, या जाति के प्रति घृणा-भाव रखने, द्वेषभाव का प्रचार करने से रोकती है। इसलिए स्वतंत्र होते ही वह जितना जल्दी मानवता से अपने हृदय को मिला सकेगा उतना शायद ही आजतक कोई राष्ट्र मिला सका होगा।

मानवता के निकट पहुँचने के लिए सबसे पहले हमें जातिगत भावों और स्वार्थों को छोड़ना होगा, जाति और राष्ट्र के मुकाबले में राष्ट्र को तरजीह देनी होगी। जाति का नुकसान स्वीकार करना होगा, पर

राष्ट्र का नहीं। इसका यह अर्थ हुआ कि देश की दूसरी जातियों के सामुदायिक हित के आगे अपने जातिगत हित को गौण मानना होगा, अर्थात् दूसरे को बढ़ाने के लिए अपनेंको घटाना होगा और समय पड़नें पर मिटा भी देना होगा। स्वार्थत्याग की शुरुआत हमें पहले अपनी जाति से ही करनी होगी। हिन्दुओं को मुसलमानों, पारसियों और ईसाइयों के हित के लिए अपनें हितों का त्याग करना होगा। यह उनकी कमजोरी नहीं बड़प्पन होगा, औदार्य और बन्धु-भाव होगा। इसी प्रकार विश्वबन्धुत्व के सामने राष्ट्र-भाव को झुकना होगा। उदार घाटे में नहीं रहता, कंजूस ही रहता है। उदारता के मानी फजूलखर्ची नहीं है। फजूलखर्ची में विवेकहीनता होती है। उदारता में हृदय का ऊँचापन होता है, शराफत होती है।

भारत अपनी उच्च-हृदयता के लिए इतिहास-प्रसिद्ध है। यह सच है कि इसकी गफलत से ही, जिसे इसनें उदारता मान लिया है, यह अंग्रेजों की गुलामी में बुरी तरह जकड़ गया है; किन्तु यह भी उतना ही सच है कि अपनी गुलामी की बेड़ियों को तोड़ने का अनुपम मार्ग—अहिंसा—भी इसे अपनी उदारता, उच्च-हृदयता नें ही दिया है। मुझे तो विश्वास है कि भारतवर्ष की यह गुलामी संसार को मुक्ति का सीधा और सरल मार्ग दिखावेगी। भारतवर्ष गुलाम हुआ अपनी सरलता के कारण। दूसरे देश स्वतंत्र हैं अपनी स्वार्थवृत्ति के बल पर। हम भी आज भारत के स्वार्थ-भाव को, देश-भक्ति को, जगा रहे हैं; किन्तु हमें यह चिन्ता है कि वह विश्व-बन्धुत्व का विरोधी न होने पावे। हमारी अहिंसा इसकी जबरदस्त गारण्टी है। जगत् के दूसरे राष्ट्र भी जब इसे अपने जीवन में अपना लेंगे तब वे सच्चे स्वतंत्र होंगे। आज भारत गुलाम है, पर मुक्ति का पथ उसके हाथ लग गया गया है। दूसरे देश यों अपने हित में स्वतंत्र

हैं; समष्टि की दृष्टि से स्वतंत्रता के पथ से दूर हैं । जिस दिन भारत अहिंसा के द्वारा स्वतंत्र हो जायगा उस दिन दूसरे राष्ट्र अनुभव करेंगे कि अभी उन्हें वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त करनी है । उस समय वे फिर भारत का पदानुसरण करेंगे । आज उनका शरीर स्वतंत्र है; पर आत्मा कुण्ठित है, वह प्रसन्न नहीं है और भीतर ही भीतर झुंझला रही है । भारत का शरीर अभी जकड़ा हुआ है; पर अन्तःकरण दिन-दिन प्रसन्न होता जा रहा है, खिलता जा रहा है । इसका क्या कारण है ? मनो-विज्ञान के ज्ञाता तुरन्त कह देंगे, उसे अपनी मुक्ति और उसके द्वारा जगत् की सेवा का विश्वास हो गया है । उसके हाथ एक ऐसी अनमोल बूटी लग गई है, जो केवल उसींको नहीं बल्कि सारे संसार को विश्व-बन्धुत्व के राजमार्ग पर लाकर खड़ा कर देगी । वह है अहिंसा । यह सच है कि भारत ने अभी उसकी मोटी-मोटी करामात को ही देखा है— मानसिक जगत् में वह कितना सुखप्रद परिवर्तन कर रही है, इसपर जिनकी दृष्टि है वे भविष्य को अधिक दूर तक देख सकते हैं । परमात्मा उस उज्ज्वल भविष्य को जल्द ही वर्तमान का जामा पहनावे ।

[३]

हाथ या यन्त्र ?

हमारे समाज-जीवन में यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि हम हाथ से काम कहां तक करें और यन्त्रों से कहां तक लें । वर्तमान स्वाधीनता-संग्राम में भी यन्त्रों के प्रश्न पर बड़ा मतभेद है । जब किसी को खादी पहननें या हाथ से काम करने पर जोर दिया जाता है तो बाज लोग बड़े हलके दिल से कह उठते हैं, तो फिर इन बड़े-बड़े यन्त्रों का

क्या होगा ? मनुष्य की बुद्धि की यह करामात क्या व्यर्थ ही जायगी ? जब उनसे यह कहा जाता है कि अच्छा बताइए, बड़े-बड़े कल-कारखानों से जनता का क्या हित हुआ है ? तो वे कह देते हैं कि यदि नहीं हुआ है तो इसका इलाज यह नहीं कि हाथ से काम करके सभ्यता के फल-स्वरूप यन्त्रों को तोड़-मरोड़ कर फेंक दिया जाय; बल्कि यह है कि उद्योग-धन्धों को व्यक्तिगत न रहने देकर समाज के अधीन कर दिया जाय। उनपर सारी सत्ता समाज की रहे। समाज की तरफ से उनका सञ्चालन हो। लोग नियत समय तक उनमें कार्य करें और आवश्यकता के अनुसार जीवन-सामग्री समाज से ले लें। इससे धनी और दरिद्र की समस्या हल हो जायगी और न आपको घर-घर खादी लिये-लिये घूमने की आवश्यकता होगी और न लोगों को महँगा कपड़ा ही खरीदना होगा। आप कहते हैं, हाथ से काम करो, हाथ का और मोटा कपड़ा पहनो, मोटा खाओ, आवश्यकतायें कम करो, गांवों में रहो। इस सभ्यता के युग में आप लोगों को यह साहस किस तरह हो जाता है ? दुनिया की इस घड़ी को आप उलटा क्यों फेर रहे हो ? गंगा को समुद्र से हिमालय की तरफ क्यों ले जाते हो ? क्या फिर से बाबा आदम के जमाने में ले जाना चाहते हो ? मनुष्य को नंगा फिराना और पेड़ों पर बैठाकर जिन्दगी गुजारना चाहते हो ? इन इतने सुख के सुलभ साधनों को क्यों ठुकराते हो ? जनता दरिद्र है तो हम भी दरिद्र बन जायँ; मेरा पड़ौसी दुखी है तो मैं भी दुःखी रहूँ; यह कहां की बुद्धिमता है ? बजाय इसके मैं जनता की दरिद्रता को मिटानें और अपने पड़ौसी को सुखी बनाने का उद्योग क्यों न करूँ ? अपनेको उसकी श्रेणी में बिठाने के स्थान पर उसे अपनी जगह लाने का उद्योग क्यों न करूँ ? अपनेंको गरीब बनाने के बजाय उसे अमीर बनानें का उद्योग क्यों न करूँ ?

भारत-प्रसिद्ध स्वर्गीय सर गंगाराम ने, अन्तिम समय विलायत जाते वक्त, बम्बई के प्रसिद्ध मारवाड़ी व्यापारी स्वर्गीय श्री रामनारायणजी रुइया के बगीचे में बैठकर खुद मुझसे उनके आलीशान महल को दिखाकर कहा था—'देखो, तुम्हारे गांधीजी कहते हैं, चरखा कातो। उससे क्या होगा ? बहुत हुआ तो एक आना रोज मिलेगा ! पर मैं चाहता हूँ कि ऐसे महल सबके बन जायँ। गांधीजी कहते हैं कि हम लोग अपना स्टैन्डर्ड कम करें; मैं कहता हूँ कि बढ़ावें। हम भी अंग्रेजों की तरह क्यों न खूब कमावें और खूब आराम से ठाठ के साथ रहें ?'

ये दो प्रकार की विचार-धारायें समाज में प्रचलित हैं । ये दोनों उत्पन्न हुई हैं जीवन के अन्तिम उद्देश्य या लक्ष्य-सम्बन्धी भिन्न दृष्टि-बिन्दु के कारण। हमें देखना यह है कि कौन-सा दृष्टि-बिन्दु सही है और जीवन के ठेठ लक्ष्य तक सीधा ले जाता है। जीवन अपूर्ण है और पूर्णता चाहता है, इससे किसीको इनकार है ? सुख उस पूर्णता का एक अंश है। सभी मनुष्य और सभी समाज सुख चाहते हैं। सुख-साधन यदि उनके चाहने पर ही अवलम्बित हों तो बताइए मनुष्य क्या-क्या नहीं चाहेगा ? हर शख्स चाहेगा कि मुझे बढ़िया महल मिले। सुन्दर-से-सुन्दर स्त्री मिले। लाखों-करोड़ों का माल मिले, जमीन-जायदाद, हीरा-मोती, मोटर, हवाई जहाज, राज-पाट सब मिले। शराबखोरी, रण्डीबाजी आदि की चाह को अभी छोड़ दीजिए। हम अच्छी तरह जानते हैं कि चाहना जितना ही आसान है, मिलना उतना ही कठिन हैं । पर सब आदमी यदि सभी अच्छी और कीमती चीजें अपनें लिए चाहने लगेंगे तो उनमें प्रतिस्पर्धा, डाह और कलह पैदा हुए बिना न रहेगा। क्योंकि चीजें थोड़ी और चाहने वाले बहुत। इस तरह यदि मनुष्य की चाह को स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय और उसे अपनी आवश्यकतायें या सुख-साधन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित

किया जाय तो अन्तिम परिणाम सिवा गोलमाल के और क्या हो सकता है ? इसलिए अनुभवी समाज-शास्त्रियों ने मनुष्य की इच्छा और आवश्यकता पर कैदें लगादी हैं। अर्थात् मनुष्य से कहा कि भाई, अपनी इच्छाओं को वश में रक्खो। यह नसीहत या नियम स्वतंत्र और व्यवस्थित मनुष्य-जीवन का पाया है। यदि यह ठीक है तो फिर अब रोज-रोज आवश्यकतायें बढ़ाने, स्टैण्डर्ड बढ़ाने की पुकार से किस हित की आशा की जा रही है ? हां, दरिद्र जनता का स्टैण्डर्ड तो बढ़ाना ही होगा; पर वह इसलिए कि उसे तो अभी पेटभर खाने को भी नहीं मिलता है। पर यदि हर आदमी मोटर चलाने लगेगा, बिजली के पंखे लगाने लगेगा, नाटक-सिनेमा देखना चाहेगा, अखबार और छापाखाना चाहेगा, एक-एक महल बनाना चाहेगा, तो बताइए आप समाज को सुव्यवस्थित कैसे रख सकेंगे ? स्पर्धा, डाह और कलह से कैसे बचायेंगे ? आखिर उनकी इच्छाओं पर तो नियंत्रण रखना ही होगा न ? चाहे आप यह कहिए कि अपनी कमाई से अधिक खर्च करने का किसी को अधिकार नहीं है, चाहे यह नियम बनाइए कि जो कमाता नहीं है उसे खर्च करने का हक नहीं है, चाहे यह व्यवस्था कीजिए कि शारीरिक श्रम से जितना मिले उतने ही पर मनुष्य अपनी गुजर कर लिया करे, चाहे यह विधान बनाइए कि मनुष्य अपनी साधारण आवश्यकताओं भर की ही पूर्त्ति कर लिया करे, चाहे यह आज्ञा जारी कीजिए कि मनुष्य उन्हीं चीजों को इस्तैमाल करे कि जो उसके देश या प्रान्त में पैदा हों, चाहे उपदेश दीजिए कि मनुष्य प्राकृतिक साधनों पर ही अवलम्बित रहे। गरज यह कि उसकी इच्छाओं और आवश्यकताओं पर आपको कोई न कोई कैद लगानी होगी। यह कैद होगी उसकी समाज की स्थिति के अनुसार। यदि कैदें हम ढीली करते जायँगे तो अन्त को समाज में स्वेच्छाचारिता और गोलमाल पैदा कर देंगे; यदि तंग

करते जायँगे तो संभव है समाज उसे बरदाश्त न कर सके । और यह बात निर्विवाद है कि मनुष्य जब अपनी इच्छा से राजी-खुशी अपनी आवश्यकतायें कम कर देता है तो वह औरों के मुकाबले में अपनेको अधिक सुखी, स्वावलम्बी और स्वतंत्र पाता है । यह अनुभव-सिद्ध है । इसी तरह आवश्यकताओं को बढ़ा लेनें वाला अपनेंको दुखी, पराधीन और उलझनों या दुर्व्यसनों में फँसा हुआ पावेगा । इसलिए यह उचित है कि समाज में ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जाय, जिससे मनुष्य खुद ही अपनी आवश्यकताओं को संयम में रखना सीखे । एक के संयम का अर्थ है दूसरे की सुविधा और स्वतंत्रता । अतएव जहां अधिक संयम होगा वहां अपनें आप अधिक स्वतंत्रता होगी । अब मे पूछना चाहता हूँ कि मनुष्य, तू संयम का अवलम्बन करके अधिक स्वतंत्र रहना चाहता है या आवश्यकताओं को बढ़ाकर सुख-साधनों का गुलाम बनना चाहता है ?

अब हमारे पूर्वोक्त टीकाकार भाई विचार करें कि खादी और हाथ से काम करनें का कितना महत्व है । हाथ से काम करना उत्पत्ति का संयम है । हाथ से काम करना पूंजी का एक जगह संग्रह न होने देना है । हाथ से काम करना मजूरी की प्रथा को मिटाना है—या यों कहें कि मालिक और मजदूर के कृत्रिम और हानिकर भेद को मिटाना है । हाथ से काम करना स्वावलम्बन है । हाथ से काम करना पुरुषार्थ और तेजस्विता है । हाथ से काम करना स्वास्थ्य और आरोग्य है । हाथ से काम करना सादगी और नम्रता है । खादी यदि हाथ से काम करने का चिन्ह नहीं है तो कुछ भी नहीं है । खादी गरीबों का सहारा तो इसीलिए है कि यह बेकारों के घर में कुछ पैसे भेज देती है; परन्तु खादी आजादी का जरिया इसलिए है कि हर शख्श को अपनी जरूरत के लिए दूसरे का

मुंह न ताकने का उपदेश देती है। हाथ से काम करना सिखाकर वह हमें सचमुच आजादी का रास्ता बताती है।

पाठको, अब आप सोचिए कि सीधा रास्ता कौनसा है? हाथ से काम करने का, अपने पांवों के बल खड़े होने का, या मशीन या कल-कारखानों और उनके मालिकों और हाकिमों की गुलामी का? अपनी आवश्यकताओं के बढ़ाने का या घटाने का? सादगी का या भोग-विलास का?

दुनिया की घड़ी को पीछे घुमाने की दलील अजीब है। जब हाथ से काम करके सर्वसाधारण सुखी थे, और किसीनें कल-कारखाने का आविष्कार किया, किसीने भाफ-बिजली का आविष्कार किया, तब क्यों न कहा गया कि दुनिया पीछे हटाई जा रही है? क्या साधन-सामग्रियों का दिन-दिन गुलाम होते जाना ही दुनिया का कदम आगे बढ़ने का लक्षण है? और क्या स्वावलम्बन की ओर उसे ले जाना दुनिया को पीछे घसीट लेजाना है? सुख-साधन सामग्री की विपुलता और विविधता पर हरगिज अवलम्बित नहीं हैं। सुख मन के सन्तोष, आनन्द और निश्चिन्तता पर अवलम्बित है। करोड़पति और राजा-महाराजा चिन्ता और पश्चात्ताप से रात-रात भर करवटें बदलते हुए पाये गये हैं और एक फक्कड़ किसान रूखी रोटी खाकर, मुक्त झरनें का सजीव पानी पीकर, हरे-भरे खेत की मेंड़ पर सुख की नींद सोता हुआ मिलता है। सुखी वह है, जिसने अपनी इच्छाओं को जीत लिया है; दुःखी वह है, जो अपनी इच्छाओं और वासनाओं का गुलाम है। जीवन की पूर्णता बाह्य-साधनों पर उतनी अवलम्बित नहीं, जितनी आन्तरिक शक्तियों के उत्कर्ष पर है। आपकी महानता के लिए कोई यह नहीं देखेगा कि आपके पास कितनी मोटरें हैं, आप कितना कीमती खाना खाते हैं, आपके कितने दास-दासी हैं,

आपका रूप-रंग कैसा है; बल्कि यह देखा जायगा कि आप कितने संयमी हैं, कितने सदाचारी हैं, कितनें सेवा-परायण हैं, कितने निःस्वार्थ हैं, कितने कष्ट-सहिष्णु हैं, कितने प्रेममय हैं, कितने निडर हैं, कितने बहादुर हैं, कितने सत्य-वृत्ति हैं। महात्मा गांधी का जीवन, बुद्ध का जीवन, ईसामसीह का जीवन, अधिक पूर्णता के निकट था या जार का, रावण का, अथवा कारूँ और कुवेर का ? इस उदाहरण से तो आपको पूर्णता के सच्चे पथ की पहचान हो जाना चाहिए। आप कहेंगे कि इने-गिने आदमियों के लिए तो यह बात ठीक है, सारे समाज के लिए नहीं, तो मैं कहूँगा कि विकास का मार्ग सबके लिए एक ही हो सकता है। उनके दल चाहे अलग-अलग अवस्थाओं में अलग-अलग हों, पर रास्ता तो वही है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और दलों में भेद हो सकता है; परन्तु रास्ता तो एक ही होगा—संयम का, व्यावहारिक भाषा में कहें तो, हाथ से काम करने का।

[४]

खादी और आज़ादी

अब हम खादी के प्रश्न पर भी स्वतंत्र रूप से विचार कर लें और देखें कि इससे हमारी स्वतंत्रता का कहां तक सम्बन्ध है। खादी के लिए जो बड़ा दावा किया जाता है कि यह आजादी लानेवाली है ? वह कहां तक ठीक हैं, दुःख की बात तो यह है कि अब भी कई लोग यह मानते हैं कि खादी-आन्दोलन सिर्फ अंग्रेजों को दबाने के लिए है, लंकाशायार की मिलों और मिल-मालिकों पर असर डालने के लिए है, जिससे वे भारतीय आजादी की मांग को मंजूर करने के लिए मजबूर हों। किन्तु मैंने जहां तक खादी के असूल और मतलब को समझा है, मेरी तो

यह मजबूत राय बन चुकी है, कि खादी-आन्दोलन का एक नतीजा यह जरूर निकलेगा कि अंग्रेजों पर दबाव पड़े, परन्तु उसका यह उद्देश्य हरगिज नहीं है। उसका असली और दूरगामी उद्देश्य तो है भारत को, और यदि गुस्ताखी न समझी जाय तो सारी दुनिया को, सच्ची आजादी दिलाना। इसलिए जब कोई यह कहता है, यह समझता है कि खादी तो स्वराज्य मिलने तक जरूरी है, या गांधी जी के जीते जी भले ही चलती रहे, तो मुझे इसपर दुःख होता है। क्योंकि पन्द्रह वर्षों के दिन-रात के उद्योग, प्रचार और इतनी सफलता के बाद भी अभी तक कितने ही पढ़े लिखे लोगों ने भी खादी की असलियत को नहीं समझा, उसके बिना सच्ची आजादी किस तरह असम्भव है इसको नहीं जाना। सच तो यह है कि आजादी और खादी एक शब्द के दो मानी हैं या एक सिक्के की दो बाजुयें हैं।

हमें यह भुला देना चाहिए कि खादी एक महज कपड़ा है, बल्कि खादी एक असूल है, एक आदर्श है। खादी के मानी हैं हाथ से काम करना, अपनी बनाई चीज इस्तैमाल करना, अपनें देश का पैसा देश में रहने देना, पैसे का एक जगह संग्रह न होनें देना और उसका स्वाभाविक तरीके से सर्व-साधारण में बँट जाना। खादी भाफ और अधिक पूंजी के बल पर चलनेंवाले कारखानों के खिलाफ बगावत का झण्डा है। एक मामूली सवाल है कि जहां हाथ बेकार हैं, आदमी भूखों मरते हैं, वहां आखिर बड़े-बड़े कल-कारखानों की जरूरत पैदा होती है? समाज की सुख-सुविधा के नाम पर धन-संग्रह करने के उद्देश्य ने ही इन भीमकाय कारखानों और व्यापार-उद्योग-धंधों को जन्म दिया है। जो काम हाथ से हो सकता है उसको भला मशीन की क्या जरूरत है? जो काम हाथ से चलने वाली मशीन से हो सकता है उसके लिए भाफ से चलनेवाली

मशीन की क्या जरूरत है ? फिर लाखों लोगों को बेकार पड़े रहने देकर मशीन से कारखाने चलाना कहां की अक्लमन्दी है ? यह माना कि यन्त्र मनुष्य की बुद्धि के विकास का फल है । यह भी सही कि कपड़े की मिल चरखे का विकास है । पर सवाल यह है कि इन मिलों से सर्व-साधारण जनता का कितना हित हुआ ? वे गरीब अधिक बने या धनवान ? बेकार अधिक हुए या नहीं ? भारत को छोड़ दीजिए, सारे यूरोप में इस समय कम-से-कम एक करोड़ आदमी बेकार हैं । यह क्यों ? जो काम भाफ या बिजली की मशीनों से लिया जाता है वह यदि मनुष्यों से लिया जाय, तो क्या फिर भी बेकारी रह सकती है ? हां, यह सत्य है, कि शहरों में सब काम हाथ से नहीं किये जा सकते । सामूहिक-जीवन में कई सामूहिक आवश्यकतायें ऐसी होती हैं, वे इतने अधिक परिमाण में और इतने विशाल आकार-प्रकार की होती हैं कि यन्त्रों का उपयोग उनके लिए सुविधा-जनक होता है । पर दुनिया में, बताइए, शहर कितने हैं ? और क्या आप दुनिया को शहर में ही बांट देना चाहते हैं ? क्या गांवों की अपेक्षा शहरों का जीवन मनुष्य-जीवन के स्वाभाविक विकास के अधिक अनुकूल है ? मनुष्य गांव में अधिक स्वतन्त्र, सुखी, स्वस्थ, नीतिवान्, सज्जन रह सकता है, या शहर में ? अतएव यदि हम शहरों के खयाल को अपने दिमाग में से हटा दें, और दुनिया में गांवों की बहुसंख्या और महत्ता को समझ लें, तो हमारे दिमाग की कई उलझनें कम हो जायँ । असली बात यह है, कि हमारी असली कसौटी यह होनी चाहिए कि मनुष्य-जीवन विकसित, सुव्यवस्थित, स्वतन्त्र और सुखी किस प्रकार रह सकता है ? गांव के सादे जीवन में ही ये सब बातें सुलभ और सिद्ध हो सकती हैं, शहरों के जटिल, कृत्रिम, गुलाम जीवन में हरगिज नहीं । यदि हम शहरों और शहर की

सभ्यता को अपनी कल्पना में से हटा सकते हैं तो हम बड़े उद्योग-धंधों और भीमकाय यन्त्रों को अवश्य अपनी समाज-रचना में से हटा सकते हैं। कोई बात इसीलिए तो स्थिर नहीं रह सकती कि वह विकास-क्रम में हमारे अंदर दाखिल हो गई है। मनुष्य की अपरिमित स्वार्थ-साधुता और प्रचार-शक्ति भी तो इसमें बहुत सहायक हुई है। मनुष्य विचार-शील है और वह विकास के हरएक मोड़ पर सिंहावलोकन करता है और उसके परिणाम की रोशनी में अपनी गति-विधि को सुधारता है। पिछली औद्योगिक क्रान्ति ने जन-समाज को स्पष्ट-रूप से पूंजीपति और दरिद्र, पीड़क और पीड़ित, इन दो परस्पर—विरोधी वर्गों में बांट दिया। इसके पहले भी समाज में स्वार्थ-साधुता (Exploitation) थी, परन्तु उद्योग-धंधों को समाजाधीन बनानें की उस समय इतनी आवश्यकता क्यों न प्रतीत हुई ? इसलिए कि उद्योग-धंधों की प्रधानता और भीमकाय यन्त्रों की प्रचुरता नें जनता को चूस लिया, लाखों को बेकार बना दिया और मुट्ठी भर लोगों को मालामाल कर दिया। कल-कारखानों या उद्योग-धंधों को समाजाधीन बनाकर आप इस रोग को निर्मूल नहीं कर सकते। उससे आप सिर्फ इतना ही कर सकते हैं कि मुनाफा मजदूरों के घर में भी पहुँचा रहे, उनकी सुख-सुविधायें भी बढ़ जायें, परन्तु वे पूर्ण स्वतन्त्र और स्वावलम्बी नहीं बन सकते। मनुष्य के सभी काम तो समाजाधीन नहीं हो सकते हैं। सामूहिक काम ही सामूहिक पद्धति पर हो सकते हैं और उन्हींके समाजाधीन होने की आवश्यकता है। रोटी, कपड़ा, मनुष्य की व्यक्तिगत आवश्यकतायें हैं, पर रेल, सड़क, पुल सामाजिक। रोटी, कपड़ा उसे खुद बना और कमा लेना चाहिए, रेल, सड़क, पुल उसे परस्पर सहयोग से बनाने होंगे, और ये समाजाधीन रह सकते हैं, जो चीजें समाजाधीन हों वे यदि मनुष्यों के हाथ-बल से न हो

सकें तो उनके लिए बड़े यन्त्रों का उपयोग कुछ समझ में आ सकता है। परन्तु लाखों आदमियों को बेकार रखकर हर बात में यन्त्र की सहायता लेना मनुष्य को यन्त्र-गुलाम बना देता है और उसकी बहुतेरी असली शक्तियों को नष्ट कर डालता है। अतएव यदि आप चाहते हों कि मनुष्य केवल राजनैतिक गुलामी से ही नहीं बल्कि हर तरह की गुलामी से छूटकर आजाद रहे, तो आपको उसे यन्त्रों की गुलामी से बचाना होगा। खादी मनुष्य जाति को यन्त्रों की गुलामी से छुड़ाने का सन्देश है।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद अब यह स्वाश्रय का युग शुरू हो रहा है और प्रगति की गति में यह पीछे का नहीं आगे का कदम है। कृत्रिम साधनों की विपुलता बृद्धि-वैभव का चिन्ह अवश्य है, किन्तु साथ ही वह मनुष्य का स्वावलम्बन दिन-दिन कम करती जा रही है और नानाविध गुलामियों में जकड़ती जा रही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

आजादी का अर्थ यदि हम इतना ही करें कि अंग्रेजों की जगह हिन्दुस्तानी शासक बन जायँ, तो खादी का पूरा-पूरा गुण हमारी समझ में न आ सकेगा। परन्तु यदि उसका यह अर्थ हमारे ध्यान में रहे कि भारत का प्रत्येक नर-नारी स्वतंत्र हो, उसपर शासन का नियन्त्रण कम-से-कम हो, तो हम खादी का पूरा महत्व समझ सकते हैं। खादी का अर्थ केवल वस्त्र-स्वाधीनता ही नहीं, यन्त्र-स्वाधीनता भी है। यन्त्रों की गुलामी के मानी हैं धनी और सत्ताधारियों की गुलामी। खादी इन दोनों गुलामियों से मनुष्य को छुटाने का उद्योग करती है।

---

[५]

सच्चा खादी-प्रचार

हमने यह तो देख लिया कि खादी वस्त्र-स्वावलंबन और यंत्र-स्वावलंबन का साधन है और इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि खादी से बढ़कर गृह-उद्योग का साधन अभी तक किसी नें सिद्ध नहीं किया है, न प्रयोग करके ही बताया है। दूधशाला, मुर्गी के अंडे की पैदावार, रेशम, शहद, साबुन, डलिया, रस्सी आदि बनाने जैसे कितने ही धन्धे आंशिक रूप में और स्थान तथा परिस्थिति-विशेष में थोड़े-बहुत सफल हो सकते हैं, किन्तु खादी के बराबर व्यापक, सुलभ, सहजसाध्य, जीवन की एक बहुत बड़ी आवश्यकता को पूर्ण करनेवाला आदि गुणों से युक्त धंधा इनमें एक भी नहीं है। फिर भी अभीतक खादी-उद्योग की, जितनी चाहिए, देश में प्रगति नहीं हुई है। इसके यों तो छोटे-बड़े कई कारण हैं, किन्तु उनमें सबसे बड़ा है खादी-सम्बन्धी व्यापक ज्ञान का और उसके पीछे आचरण का। अथवा पिछले १०—१२ वर्षों में खादी की उत्पत्ति बहुत बढी है, किस्में तरह-तरह की चली हैं, पोत में भी बहुत उन्नति हुई है, बिक्री और प्रचार का भी बहुत उद्योग किया गया है, सस्ती भी पहले से काफी हो गई है—फिर भी एक भारी कसर इसके कार्य में रह रही है। खादी की ओर लोगों को आकर्षित करने के लिए हमने उनके हृदयों को ज्यादा स्पर्श किया है; उनकी बुद्धि को आवश्यक खूराक बहुत ही कम दी है। हमने ऐसी दलीलें ज्यादा दी हैं कि खादी गांधीजी को प्रिय है, इसलिए पहनो; स्वराज की सेना की वर्दी है, इसलिए पहनो; गरीबों को दो रोटी देने का पुण्य मिलेगा, इसलिए अपनाओ

आदि। किन्तु उन अंकों और तथ्यों को लोगों के सामने कम रक्खा है, जिनसे उनके दिमाग में यह अच्छी तरह बैठ जाय, कि खादी ही हमारे लिए एकमात्र सस्ता और अच्छा कपड़ा है। इतना ही नहीं, बल्कि खादी उत्तम समाज-व्यवस्था का एक तत्त्व है। यह बात सच है कि बुद्धि की अपेक्षा हृदय में क्रियाबल अधिक है; किन्तु जबतक कोई बात दिमाग में बैठती नहीं, तबतक उसका आचरण अधकचरा ही होता है। फिर खादी यदि आत्मानुभव की तरह बुद्धि के क्षेत्र के परे का कोई तत्त्व होता तो बात दूसरी; किन्तु यह तो एक सीधा-सा आर्थिक और सामाजिक प्रश्न है और मोटी बुद्धिवाले की भी समझ में आ सकता हैं। बल्कि यों कहना चाहिए कि यह इतना सीधा और सरल है कि इसका यही गुण सूक्ष्म और तीव्र बुद्धिवालों को परेशान कर रहा है। इसलिए अच्छा तो यह हो कि खादी के सम्बन्ध में हम पहले लोगों की बुद्धि को समझावें और समझा चुकने के बाद यदि उनमें उत्साह न हो तो फिर उनके हृदयों और मनोभावों को जाग्रत करके उनमें काफी बल और प्रेरणा उत्पन्न करें। मेरी समझ में इससे खादी का अधिक और स्थायी प्रचार होगा।

खादी के विकास और प्रचार में जिस तरह बुद्धि के प्रति अनास्था बाधक है, उसी तरह उसकी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा भी है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि जो वस्तु उसे प्रिय होती है उसमें उसे नये-नये गुण दीखने लगते हैं और कई बार तो अवगुण भी गुण दिखाई देते हैं। किन्तु यह जागृति विकास और वृद्धि का लक्षण नहीं, शिथिलता, मन्दता और अन्धता का है। जिसके मूल में कोई गहरा सत्य है वह तो सूर्य की तरह अपने आप अपना प्रकाश फैलायेगा। हमारा काम सिर्फ इतना ही है कि एक ओर से अज्ञान और दूसरी ओर से अत्युक्तिरूपी बादलों और कुहिरों

के आवरण उसके आसपास से हटाते रहें। अज्ञान और अत्युक्ति दोनों के मूल में असत्य ही छिपा हुआ है। खादी-जैसी शुद्ध वस्तु और श्रेष्ठ समाज-तत्त्व के प्रचार के लिए, जान में या अनजान में, असत्य का अवलम्बन करके हम उसके सत्य तेज को लोगों से दूर रखते हैं।

इसलिए मेरी राय में खादी ही का क्या, किसी भी वस्तु का सच्चा प्रचार है उसके विषय में वास्तविक ज्ञान की सामग्री लोगों के सम्मुख उपस्थित करना। किन्तु इतना ही काफी नहीं है। इससे उनकी बुद्धि को ज्ञान तो हो जायगा, वे निर्णय और निश्चय तो कर लेंगे, किन्तु यह नहीं कह सकते कि इतने ही से वे उसका पालन भी करने लग जायँगे। बुद्धि में निर्णय और निश्चय करने का गुण तो है, किन्तु कार्य में प्रवृत्त और अटल रखने का गुण हृदय में है। जो आदमी किसी से कहता है पर खुद नहीं करता, उसका असर नहीं पड़ता। इसका कारण यह है कि वह कहता है तो लोग भी सुन लेते हैं। लोग अधिकांश में करते तभी हैं जब करने वाले को करते हुए भी देखते हैं। क्योंकि वे सोचते हैं कि यदि यह बात वास्तव में हित की और अच्छी है तो फिर यह क्यों नहीं करता? उसका आचरण ही उसकी अच्छाई या हितकारिता का यकीन लोगों को कराता है। होना तो यही चाहिए कि जब कोई बात हमारी समझ में आजावे और हमें हितकारी मालूम हो तब हमें इस बात से क्या प्रयोजन कि दूसरा और स्वयं उपदेशक वैसा चलता है या नहीं? हम अपने-आप वैसा आचरण करते रहें, किन्तु ऐसी स्वयं-प्रेरणा या क्रिया का बल लोगों में आम तौर पर कम पाया जाता है। यह उनके विकास की कमी है। अतएव उन लोगों को भी स्वयं खादी पहनना चाहिए और उसकी उत्पत्ति में किसी-न-किसी तरह सहायक होना चाहिए। क्रिया-बल की कमी का एक कारण यह भी है कि हमारे शिक्षण और संस्कारों में

बुद्धि-बल पर ही ज्यादा जोर दिया गया है, आचरण-बल पर कम। एक ओर अति बुद्धिवाद हमें आचरण-निर्बल बना रहा है तो दूसरी ओर बुद्धिहीन अनुकरण ज्ञान-निर्बल। हमें दोनों प्रकार की निर्बलताओं से बचना होगा। सत्य की साधना ही हमें इनसे बचायेगी। ज्ञान और तदनुकूल आचरण ही सत्य की साधना है। यही वास्तविक और सच्चा प्रचार है।

[६]

सौन्दर्य और सदाचार

देश में एक ऐसा भी दल है जो नीति-विहीन और सदाचार-शून्य वस्तुओं में भी सौन्दर्य का दर्शन करता है और उसमें जीवन का स्वतंत्र विकास देखता है। वह कहता है कि सौन्दर्य और सदाचार में कोई खास ताल्लुक नहीं—यदि सौन्दर्य के साथ सदाचार रहता हो तो हम उसे नाहीं न कहेंगे, पर यदि न हुआ तो हम खिन्न भी न होंगे। सदाचार को हम अपने सौन्दर्य-साम्राज्य में बाधक न होने देंगे। सौन्दर्य चाहे सदाचार का प्रेरक हो अथवा दुराचार का, वह सौन्दर्य है और इसलिए हम उसके पुजारी हैं। स्वतंत्र सौन्दर्योपासक सौन्दर्य को नीति दृष्टि से नहीं देखेगा बल्कि उसके आनन्द के अनियंत्रित घूंट पीने में मगन रहेगा। वह तो सौन्दर्य का प्यासा है, वन में वा सदन में, समाज में वा एकान्त में, देवालय में वा वेश्यालय में, दूध में वा मद्य में, भजन में वा रति-गीत में, संयम में वा स्वच्छन्दता में, त्याग में वा भोग में, ज्ञान-गुहा में वा श्रृंगार-मंदिर में, शान्ति-रस में वा श्रृंगार-रस में, सीता में वा रम्भा में, सूर-तुलसी की भक्ति में वा बिहारी-मतिराम-देव-पदमा-

कर की श्रृंगारोक्ति में, जहां कहीं उसे सौन्दर्य मिल जायगा वहीं वह तल्लीन होकर उसका रसपान करनें लगेगा। उसका काम है सौन्दर्य के अमर्याद आनन्द को लूटना न कि नीति और सदाचार के बन्धन में पड़ना।

मुझे सौन्दर्य की इस अनियन्त्रित सत्ता पर आपत्ति है। मैं सौन्दर्य को उच्छृंखल नहीं बननें देना चाहता। उसका एकाधिपत्य मुझे स्वीकार नहीं। मैं उसे नीति और सदाचार की आंच में शुद्ध कर लेनें के बाद ही अपनें दरवाजे पर पैर रखनें दूंगा। मेरे दरवाजे अगर वह शराब का प्याला हाथ में लिये गिरता-पड़ता आया, अगर किसी 'मंगलामुखी' के तान-ठप्पे, नाच-रंग, हाव-भाव, कच-कटाक्ष सहित उसनें मुझपर आक्रमण किया, यदि क्या देशी और क्या विलायती रम्भा, मेनका या माड एलन के प्रकृत-दर्शी चित्रों की सेना लेकर मुझे फुसलाने आया, यदि श्रृंगारी कवियों की रचनायें लेकर मुझे श्रृंगार-धारा में बहाने आया, तो मैं जरूर उसे एक अपशकुन समझूंगा। कहूँगा यह सौन्दर्य नहीं, दुर्भाग्य से अमंगल मुझ गरीब के घर में प्रवेश करना चाहता है; और चाहे उसका आनन्द मुझे सदेह स्वर्ग में ले जाने का लालच दिखलावे, मैं उससे असहयोग करना ही अपना धर्म समझूंगा। उसका आनन्द मेरे नजदीक आनन्द नहीं उन्माद है, जीवन को पतनशील, विपत्ति और पापमय बनाने वाला उन्माद है, शैतान का जादू है, माया मृग है।

तो प्रश्न उठता है कि सौन्दर्य क्या वस्तु है? नीति सदाचार के साथ उसका कुछ सम्बन्ध है भी या नहीं? जीवन में किस और कितने सौन्दर्य को स्थान है?

सौन्दर्य एक प्रकार से आनन्द का दूसरा नाम है, या यों कहें कि आनन्द के अनेक साधनों में सौन्दर्य भी एक आनन्द-साधन है। सामान्यतः

हम उस वस्तु को सुन्दर कहते हैं जो अपने ढंग की वस्तुओं में सर्वश्रेष्ठ हो। रुचिभेद से वस्तु-विशेष किसी को सुन्दर और किसीको असुन्दर मालूम होती है। अतएव सौन्दर्य का सर्व-सम्मान्य लक्षण बांधना कठिन है। शास्त्र की जटिल भाषा को छोड़ कर सीधी-सादी सुबोध भाषा में इतना ही कह सकते हैं कि जो वस्तु सब से अच्छी मालूम हो और जिसके मृदुल आघात से हृदय अपूर्व अखण्ड आनन्द का अनुभव करने लगे, चित्त-वृत्ति आनन्दमय हो जाय, वही सुन्दर है। उसीमें सौन्दर्य का निवास है। सामान्यतः तो हम आंखों को प्यारी लगने वाली वस्तुओं को ही सुन्दर कहते हैं, पर गहरा विचार करने पर मालूम होता है कि शरीर की प्रायः प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा सौन्दर्य की अनुभूति होती है। नेत्र के द्वारा यदि हम सुन्दर दृश्य या चित्र या वस्तु के सौन्दर्य-सुख को ग्रहण कर सकते हैं, तो कान के द्वारा सुरीला राग, या मनोहर कविता या मीठी बोली का सुखास्वाद ले सकते हैं। इसी प्रकार नाक के द्वारा सुगन्ध-सुख और त्वचा के द्वारा कोमल-मृदुल वस्तुओं का स्पर्श-सुख प्राप्त कर सकते हैं। कभी-कभी अनेक इन्द्रियों के द्वारा एक साथ भी वस्तु-विशेष का सौन्दर्य अनुभव किया जा सकता है। पर आमतौर पर हम उसी वस्तु को सुन्दर कहते हैं जो प्रधानतः हमारी आंखों को सुन्दर लगती हैं।

फिर सुन्दरता न रंगबिरंगेपन में है, न ठूंस-ठूंस कर बहुतेरी सजावट करने में। सुन्दरता रेखाओं, या आकृतियों या सजावट के यथोचित मिलाप में है। यह अभ्यास से आती है। सुन्दर और सुरुचिवर्द्धक वस्तुओं और दृश्यों के बार-बार देखने से आंखों में सौन्दर्य ग्रहण करने के संस्कार जग जाते हैं। सुन्दरता के लिए बहुतेरे उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती। शृंगार के मानी सुन्दरता नहीं है। सुन्दरता का अर्थ विचित्रता भी नहीं है। एक बहुतेरे गहनों से लदी हुई और रंग-बिरंगे कपड़े पहने

हुई स्त्री फूहड़ मालूम होती है और एक महज सादी साड़ी तरतीब से पहने हुई रमणी सुन्दर मालूम होती है। एक में वह तारतम्य, सुघड़ता, सुरुचि नहीं है, जो दूसरी में है। यही उसकी सुन्दरता का कारण है। जहां विवेक है वहीं सुन्दरता है, जहां संयम है वहीं सुन्दरता है, जहां उच्चभाव है वहीं सुन्दरता है, सुघड़ता है। ये तीनों चीजें मिलकर जब किसी सजावट में एकत्र अभिव्यक्त होती है तब उसे सुन्दरता कहते हैं।

इस विवेचना पर तो मैं समझता हूँ, दो में से किसी पक्ष को आपत्ति न होगी, न होनी चाहिए। आपत्ति का स्थान उस प्रसंग पर आता है जब कि यह विवेक किया जाता है कि किस सौन्दर्य को तो हम ग्रहण करें, अपनावें, आदर-पात्र बनावें, और किस को नहीं; कौन-सा सौन्दर्य हमें सच्चा, अखण्ड आनन्द देता है और कौन-सा क्षणिक अथवा विषाद और पाप-पर्यवसायी आनन्द देता है। जहां अच्छे और बुरे का प्रश्न पैदा हुआ कि नीति और सदाचार ने अपना जोर जमाया। नीति और सदाचार क्या है? विवेक की घोषणा है। जिस नियम से जीवन को लाभ होता है, जीवन का श्रेय होता है, वही नीति और सदाचार है। जिससे जीवन को हानि पहुँचती है, जीवन का अहित होता है, उसीको हम अनीति और दुराचार कहते हैं। अतएव नीति और सदाचार को हम मनुष्य के जीवन से पृथक् नहीं कर सकते। वह मनुष्य के स्वभाव का एक अंग ही बन गया है। यदि अच्छे और बुरे का विचार छोड़ दिया जाय तो बुद्धि का उपयोग ही कुछ न रह जाय। संसार की प्रत्येक वस्तु में हमें अच्छाई और बुराई का विवेक करना होगा। सांप जब फन उठाकर खड़ा होता है तब कम सुन्दर नहीं दिखाई देता। पर इसलिए लोग उसे अपना नहीं लेते। उल्टा दुष्ट मनुष्य से उसकी तुलना करते हैं। अफीम का फल खिलने पर गुलाब के फूल से कम सुन्दर नहीं दिखाई देता।

पर लोग उसे सूंघने से भी चौंकते हैं और कपटी मनुष्य के लिए उसकी उपमा देते हैं। इसी कारण रूप की सुन्दरता की अपेक्षा गुण की सुन्दरता की अधिक मान-पूजा संसार में देखी जाती है। इसीलिए कहा है कि सच्चा सौंदर्य गुण में है, रूप में नहीं। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि हम उस मनुष्य की अपेक्षा जो कोरा कवि है, कोरा चित्रकार है, या कोरा गवैया है, उस मनुष्य को एक मनुष्य की हैसियत से अवश्य श्रेष्ठ मानते हैं जो सद्‌गुणी, नीतिमान और सदाचारी है। बिहारी मतिराम-पदमाकर-राजा रविवर्मा वा तानसेन बैजू-बावरे से तुलसीदास, लोकमान्य और महात्मा गांधी को हम अधिक मानते और पूजते हैं। रति, रम्भा, मेनका, उर्वशी आदि रूप-सुन्दरियों की अपेक्षा सीता, पार्वती, अहल्या, मीरा आदि गुण-सुन्दरियों की पूजा जगत् में अधिक होती है। सारी मनुष्य-जाति का यह हाल है। मानवजाति के ये भाव, ये संस्कार उसके आज तक के पिछले सामाजिक और नैतिक अनुभवों की विरासत हैं। उसमें जन और समाज दोनों का कल्याण है। यह हम प्रत्यक्ष देखते और अनुभव करते हैं। और जीवन का आदर्श भी आखिर क्या है? आत्मा का विकास, आत्मा का श्रेय, अक्षय आनन्द, अनन्त सुख, अखण्ड स्वतन्त्रता, यही न? कोई दावे के साथ यह कह सकता है कि बिना नीति और सदाचार का अवलम्बन किये—बिना जन और समाज के लिए श्रेयः-साधक कार्य्यों के किये, कोई इस स्थिति को प्राप्त कर सकता है, कर सका है? जीवन को सार्थक और सफल बना सका है, मान सका है, सकता है? और क्या कोई यह भी छाती पर हाथ धरकर कहेगा कि मद्यपान का, वेश्याविलास का, शृंगार-भोग का, काम-चेष्टा का आनन्द अक्षय आनन्द है, अनन्त सुख है, आत्मा का श्रेय है, विकास है? जब ये दावे नहीं किये जा सकते तब इस कथन में कितना सार, कितना दम हो

सकता है कि सौन्दर्य से नीति का कोई वास्ता नहीं ? जब कि जीवन का सारा श्रेय ही सदाचार पर अवलम्बित है तब उस श्रेय के विरोधी या उससे उदासीन सौन्दर्य का मूल्य उसके नजदीक कितना हो सकता है, कितना होना चाहिए ? नीति-हीन सौन्दर्य से हमें आनन्द मिलता है, वह कै दिन ठहरता है ? उससे आगे चलकर हमें सुख होता है या दुःख ? पश्चात्ताप होता है या नहीं ? आत्मा कोसती है या नहीं? और आनन्द भी तो सौन्दर्य की तरह अनेक प्रकार का होता है। किसी को व्यभिचार में आनन्द आता है तो किसी को व्यभिचारों की बात करने में। किसी को पापियों का उद्धार करने में आनंद आता है और किसी को पाप करने और पाप का रास्ता बताने में। किसी को खून करने में आनन्द है तो किसी को दुखियों की सेवा करने में। क्या इन आनन्दों में हमें अच्छे और बुरे का सुख-पर्यवसायी और दुख-पर्यवसायी का भेद न करना होगा ? नीति के पालन से सुख मिलता है। अनीति के पालन से दुख। नीति मनुष्य को ऊंचा उठाती है, श्रेय का मार्ग दिखाती है। अनीति नीचे गिराती, नरक के रास्ते ले जाती है। इसीलिए वह आनन्द और सौन्दर्य मनुष्य के लिए अभीष्ट और वाञ्छनीय है जो प्रिय चाहे न मालूम हो, पर श्रेयस्कर अवश्य हो। त्रुटिहीन परन्तु अकल्याण-कारी सौन्दर्य की अपेक्षा त्रुटियुक्त परन्तु कल्याण-साधक सौन्दर्य मनुष्यों के अपनाने योग्य हैं। चित्त की प्रसन्नता से आत्मा का कल्याण कहीं अधिक आवश्यक और इष्ट वस्तु है। यदि यह विचार-धारा निर्दोष है तो फिर नीति-सदाचार से सौन्दर्य का नाता तोड़कर क्या हम अपनी और समाज की सेवा कर रहे हैं ? क्या गलत मिसाल नहीं पेश कर रहे हैं ? क्या सौन्दर्य जीवन से भी श्रेष्ठ और दुर्लभ वस्तु है ? जीवन की दृष्टि से सौन्दर्य पर विचार करें या सौन्दर्य की दृष्टि से जीवन पर ? सौन्दर्य

जीवन के लिए है या जीवन सौन्दर्य के लिए ? और क्या नीति-शून्य सौन्दर्य के लिए ?

नीति और अनीति की कल्पना तथा धारणा समाज की संस्कृति के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। आदिमकल में मानवजाति की जो धारणायें थीं वे आज से भिन्न और कम विकसित थीं। यूरोप में इस समय जो नीति-धारणा है वह भारत की नीति-कल्पना से भिन्न है । जो समाज जितना ही प्राचीन होगा उसकी नीति-विषयक धारणायें उतनी ही पुष्ट, अनुभव-मूलक और प्रौढ़ अतएव आदरणीय होंगी। भारत का वर्त्तमान सदाचार-आदर्श उसके आजतक के समाज-शास्त्र के अध्ययन और अनुभव का फल है। यूरोप सफलता-पूर्वक अपनें नैतिक आदर्शों की प्रौढ़ता का दावा नहीं कर सकता । विचारशील मनुष्य के सामने यह बात सूर्य-प्रकाशवत् स्पष्ट होनी चाहिए। अतएव स्वच्छन्द सौन्दर्य यदि यूरोप की ओर उंगली उठावे, यूरोपीय सौन्दर्य-शास्त्रियों की दुहाई देकर धमकाना चाहे, तो उसकी दाल नहीं गल सकती । जिसे ईश्वर नें जाग्रत-विवेक दिया है, सजीवन का—जीवन के आदर्श का स्पष्ट ज्ञान दिया है, उसका राजमार्ग भी जिसके सामने मौजूद है, यदि अपनी नहीं तो कितने ही मित्रों की नीति-हीन सौन्दर्योपासना का फल भी जिसकी आंखों के सामने नाच रहा है, उसपर यदि अनियन्त्रित सौन्दर्य अपनी निरंकुश सत्ता चलाना चाहे तो कहना होगा कि

'यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते।'

हां, यदि भारतीय-समाज का नीति-शास्त्र और सुरुचि यह कहती हो कि सौन्दर्य की खोज में वेश्याओं के मुखमण्डल पर मंडराना बुरा नहीं है, कामिनियों का अपने पति को छोड़कर जार के पास प्रेम-सन्देश भेजना, एकान्त सेवन करना अनुचित नहीं है, व्यभिचार नहीं है, तो ऐसे प्रसंगों से

और उनके वर्णनों से सौन्दर्य-पान करना आपत्ति-जनक न होगा । पर वस्तु-स्थिति बिलकुल इसके विपरीत है । इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता । ऐसी अवस्था में स्वैर-सौन्दर्य को, विवेक-हीन सौन्दर्य को शिष्ट समाज में प्रविष्ट करने की चेष्टा करना मेरी मति में तो धृष्ठता ही है ।

भारत यों ही विपन्न है, तेजोहीन हो रहा है, बलवीर्य का दिवाला-सा निकाले बैठा है, हे नग्न सौन्दर्य ! इसपर रहम कर !!

हे सत्य और शिव के दाता सौन्दर्य ! इस दुखिया की मदद के लिए दौड़ !!

[७]

साहित्य में शृङ्गार का स्थान

सौन्दर्य को ही साहित्याचार्यों नें कविता की भाषा में शृंगार-रस कहा है । हमें यह देख लेना होगा कि हमारे स्वतंत्र जीवन में शृंगार-रस का वास्तविक रूप क्या होना चाहिए ? साहित्य-शास्त्रियों की भाषा को छोड़कर सीधी सुबोध भाषा का आश्रय ग्रहण करें तो शृंगार-रस का परिचय इस प्रकार दे सकते हैं—स्त्री और पुरुष के प्रेम-रस का नाम शृंगार-रस है । दोनों का मन मिल जाने से जो प्रीति उत्पन्न होती है उसे रति कहते हैं और यह रति शृंगार-रस का स्थायी भाव है । अर्थात् शृंगार-रस में रति का कभी अभाव नहीं होता । नायक और नायिका शृंगार-रस के अवलंबन होते हैं । या यों कहें कि जिन स्त्री-पुरुष के परस्पर प्रेम से शृंगार-रस उत्पन्न होता है उन्हें क्रमशः नायिका और नायक कहते हैं । नायिका और नायक के संयोग से जो रस उत्पन्न होता है उसे संयोग या संभोग शृंगार और उनके वियोग से जो

रस उत्पन्न होता है उसे वियोग शृंगार या विप्रलब्ध-शृंगार कहते हैं। इसके अंग-उपांग और भेद-प्रभेद यथा नख-शिख आदि के परिचय की यहां कोई आवश्यकता नहीं। हमारे प्रयोजन के लिए शृंगार-रस की स्थूल कल्पना काफी है और उसके लिए पूर्वोक्त वर्णन बस है। हां, इतना और कह देना चाहिए कि शृंगार-रस की उत्पत्ति के लिए स्त्री-पुरुषों का पति-पत्नी ही होना आवश्यक नहीं है। किसी भी प्रेमी स्त्री-पुरुषों के संयोग-वियोग-जात सुख-दुःख से उत्पन्न रस को शृंगार-रस कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में व्यभिचार के लिए शृंगार-रस में स्थान है और हमारे साहित्याचार्यों एवं काव्यकारों ने गणिकाओं और उपपतियों तक की गणना नायक-नायिका-भेद में की है। जिस काल में ऐसे शृंगार-रस को इतना व्यवस्थित शास्त्रीय रूप प्राप्त हुआ, भला उस काल का समाज भोग-विलास में कितना निमग्न रहा होगा? यदि आप नख-शिख का एक भी ग्रंथ देख लें तो आपके सुसंस्कृत मन को ग्लानि उत्पन्न हुए बिना न रहे। और जब आप कितने ही संस्कृत और हिन्दी कवियों के काव्यों में भारत के आराध्य राधाकृष्ण की अश्लील शृंगार-लीलाओं के अनल्प कल्पना-चित्र देखेंगे तो आपके मुंह से ये उद्गार निकले बिना न रहेंगे कि 'राधा-कृष्ण मन में पछता रहे होंगे कि कहां हमारा इस देश में जन्म हो गया!' शृंगार-रस क्या हुआ, साहित्य-रचना क्या हुई, कवियों को अपनी अश्लीलता और विलासिता की अनियंत्रित उमंग पूरी करने का मैदान मिल गया! क्या सूर ने राधा-कृष्ण के प्रेम का वर्णन नहीं किया? तुलसी के रामायण में शृंगार नहीं है? कबीर ने इश्क की माला नहीं जपी है? मीरा प्रेम-दिवानी नहीं हुई है? पर क्या बिहारी, मतिराम, देव और पद्माकर का शृंगार-रस इन भक्त-कवियों के शृंगार के चरणों में बैठ सकता है? 'मो सम कौन

कुटिल खल कामी', 'प्रभु मोरे अवगुण चित न धरो', 'ऐसी मूढ़ता या मन की' गाने वालों की कक्षा में 'केशव केसन अस करी जस अरिहू न कराहिं । चन्द्र-बदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं' कहकर सिर धुनने वालों को स्थान मिल सकता है ? 'पत्थर को भी रुलानेवाला और वज्र के भी हृदय को द्रवित करनेवाला' * कवि कहां और 'अब तक न सूँघा गया सुमन, किसी के कोमल हाथ से न छुआ गया किसलय, न बींधा गया रत्न, न चक्खा गया नवमधु, अखण्ड पुण्य का मानों फल, यह शकुन्तला, ओ विधाता ! इसका उपयोग न जाने कौन भाग्यवान् करेगा ?' † दुष्यन्त से ऐसा अफसोस कराने वाला कवि कहां ?

क्यों तुलसी की रामायण घर-घर पढी जाती है ? सूर और मीरा के भजन चारों ओर गाये जाते हैं ? कबीर की साखियां सब जगह पढी जाती हैं ? ग्रन्थ साहब का पाठ होता है ? और क्यों बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर की सूक्तियां दफ्तरों में बन्द हैं ? इसका कारण स्पष्ट है । प्रथम वर्ग ने जीवन को पोषण दिया है, द्वितीय वर्ग ने उसे बहुत कुछ क्षीण किया हैं । एक ने अमृत दिया है, दूसरे ने मद्य । यदि यही बात है तो फिर क्यों हिन्दी में कही-कहीं कुछ शृंगारी कवियों के गड़े मुर्दे उखाड़ने की कोशिश हो रही है ? क्यों शृंगार का जुलूस निकालने की तैयारियां हो रही हैं ? केवल ध्वनि, कोरा चमत्कार, रस, या महज भाव सत्कवि की कसौटी नहीं है, बल्कि उसकी प्रतिभा से जीवन को

---

* 'अपि ग्रावा रोदित्यविचलति वज्रस्य हृदयम् !' भवभूति

† अनाघ्रातं पुष्पं, किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधुनवमनास्वादित रसम् ॥
अखण्डं पुण्यानां फलमिह च तद्रूपमनघम् ।
न जाने भोक्तारःकमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥ कालिदास

पोषण मिला, या दौर्बल्य यही सच्ची कसौटी है। आइए, इसी कसौटी पर हम शृंगार-रस को कसें।

शृंगार-रस की जो स्थूल रूप-रेखा ऊपर दी गई है उससे हम इतना तो जान सकते हैं कि भोगविलास शृंगार-रस का प्रधान विषय है। स्त्री और पुरुषों का निर्मल प्रेम भी हो सकता है; परन्तु साहित्याचार्यों के शृंगार-रस के विवरण और उनके अनुवर्ती शृंगारी कवियों के काव्यों के अवलोकन से हृदय पर यही छाप पड़ती है, यही अनुभव होता है कि शारीरिक, प्राकृत या वैषयिक प्रेम ही शृंगार-रस में यदि ओत-प्रोत नहीं तो प्रधान अवश्य है। अच्छा हो यदि हम शृंगार-शास्त्रियों के साथ यथोचित न्याय करने के लिए प्रेम को दो भागों में बांट लें। एक ईश्वरीय प्रेम, जिसे भक्ति कहना चाहिए और दूसरा मानुषी प्रेम, जिसे हम विलास कहें! मानुषी प्रेम में अर्थात् मनुष्य के प्रति मनुष्य के प्रेम में भी, फिर वह चाहे स्त्री-पुरुषों में या पुरुषों में परस्पर हो, निर्मलता, निर्दोषता या दैवी भाव हो सकता है, पर वह सद्गुण, सद्वृत्ति और सदाचार से सम्बन्ध रखता है, रूप से या शरीर से नहीं। लोकमान्य को या गांधीजी को जो स्त्री-पुरुष प्रेम करते हैं वह उनके शरीर या रूप को देखकर नहीं, बल्कि गुण और शील पर मुग्ध होकर करते हैं। यही प्रेम जब और आगे बढ़ता है तब ईश्वरीय रूप धारण कर लेता है। अतएव इसे विलास के अन्तर्गत नहीं, भक्ति के अन्तर्गत ही रखना चाहिए। इस प्रेम या ऐसे शृंगार के साथ मेरा कोई झगड़ा नहीं। मेरा आक्षेप है शारीरिक, रूप-विषयक, अथवा वैषयिक प्रेम या शृंगार से। जिस प्रेम या शृंगार के कारण मनुष्य के अन्दर विषय-विलास के भाव और काम-लिप्सा उत्पन्न जाग्रत, या उद्दीप्त होती है उसीसे मेरा झगड़ा है। मेरा दावा है और वह दुनिया के इस अनुभव पर स्थित है कि विषय-विलास और काम-लिप्सा

जीवन को कभी किसी भी अंश में पोषण प्रदान नहीं करती, उलटा हत-तेज और क्षीणवीर्य बनाती है। मैं समझता हूँ कि यह ऐसी अनुभव-सिद्ध बात है कि इसको प्रमाणों या उदाहरणों के द्वारा साबित करने का प्रयत्न करना जन-समाज की बुद्धि और अनुभव की अवहेलना करना है। हां, जीवन में शारीरिक प्रेम के लिए भी स्थान है। क्योंकि हम देखते हैं कि मनुष्य के हृदय में एक अवस्था में शारीरिक प्रेम का एक कोमल विकार उत्पन्न होता है और एक अवस्था तक रहता है। उस समय एक सहयोगी की—स्त्री को पुरुष के और पुरुष को स्त्री के सहवास की आवश्यकता होती है और परस्पर आकर्षण भी होता है। संस्कार और भावना के अनुसार कुछ लोग शारीरिक प्रेम के लिए परस्पर आकर्षित होते हैं, कुछ लोग मित्र-भाव से। पर प्रथम श्रेणी के लोग ही अब तक संसार में अधिक पाये जाते हैं। बहुधा लोग इस विकार को प्रकृति का धर्म मानते हैं और इसलिए जबतक वह विकार जाग्रत रहता है उसकी तृप्ति करने में वे हानि नहीं समझते। उसे वे प्रकृति की आज्ञा का पालन मात्र मानते हैं। इससे आगे बढ़कर कुछ लोग हर प्रकार के शारीरिक और मानसिक विकार को प्रकृति का धर्म मानने लगते हैं। और उसको पालन करने के लिए समाज, नीति या धर्म की मर्यादा को तोड़ने में वे बुराई नहीं समझते। ये लोग सामान्यत: विवाह-व्यवस्था को अनावश्यक मानते हैं। निरंकुश प्रेमाचार—विषय-भोग—यदि उनके जीवन का लक्ष्य नहीं तो वस्तुस्थिति जरूर हो जाती है। यदि इस विचार-धारणा को निर्दोष मानें तो फिर जीवन में सु-संस्कार का कुछ भी महत्व नहीं रह जाता। मनुष्य क्या हैं? पशु का सुसंस्कृत संस्करण ही है। जिस दरजे तक वह उच्च-संस्कारों से विभूषित होगा उसी दरजे तक वह पशु से ऊँचा रहेगा। नीति और सदाचार संस्कार का मूल है। संस्कार करने के मानी हैं नीति

और सदाचार की शिक्षा-दीक्षा देना। नीति और सदाचार-सम्बन्धी मनुष्य की धारणायें उसके मानसिक और आत्मिक उत्कर्ष के अनुरूप हुआ करती हैं। जिसकी नीति-धर्म सम्बन्धी धारणायें जितनी ही उच्च, उदात्त, पवित्र और स्वार्थ-भाव-शून्य होती हैं उतना ही वह उन्नत और सुसंस्कृत माना जाता है। यदि हम मनुष्य-जाति की आदिम अवस्था से लेकर आजतक उसके जीवन के विकास-क्रम पर दृष्टि डालें तो हम एक परिणाम पर पहुँचते हैं। वह यह कि मनुष्य की गति स्वेच्छाचार से संयम की ओर, स्वार्थ से त्याग की ओर है और जिसने अपने जीवन में त्याग और संयम को जितना ही अधिक स्थान दिया है उतना ही अधिक उसकी जड़ मज-बूत हुई है और उतनी ही अधिक उच्च संस्कृति उसकी मानी गई है। इसका सार यह निकलता है कि मनुष्य जितना ही अपने मनोवेगों को रोकेगा, उनकी बागडोर अपने हाथों में रक्खेगा, उतना ही वह ऊँचा मनुष्य होगा, सच्चा मनुष्य होगा, और जो मनुष्य जितना ही अपने मनो-विकारों का दास होगा उतना ही वह पशुत्व की ओर बढेगा। दूसरे शब्दों में प्रत्येक मनोवेग और मनोविकार को प्रकृति का धर्म मानकर निरंकुश जीवन व्यतीत करना—शारीरिक प्रेम और उपभोग में फँसे रहना, पशुता का ही अनुसरण करना है। इसी कारण मनुष्य ने अपनी गति को निर्बाध और उर्ध्वगामी बनाने के हेतु विवाह-संस्कार के रूप में निरंकुश प्रेमाचार की एक मर्यादा बांध दी और इतना ही नहीं, उसने एक ही पुरुष के साथ एक ही स्त्री का जीवन व्यतीत करना मनुष्य का एक आदर्श निर्माण कर दिया और इससे भी आगे बढ़कर शारीरिक सहवास के भी नियम निश्चित कर दिये और पर-स्त्री का चिन्तन करना, उसे अनुराग की दृष्टि से देखना तक पाप ठहरा दिया। ऐसी अवस्था में पाठक स्वयं ही विचार कर सकते हैं कि शारीरिक प्रेम अर्थात् शृंगार के लिए जीवन में

और इसलिए साहित्य में कितना कम स्थान है और जो है वह भी बतौर आपद्धर्म के है। ज्यों-ज्यों मनुष्य-जाति अपने मनोविकारों पर अपना प्रभुत्व करती जायगी त्यों-त्यों शृंगार-रस का, वैषयिक प्रेम का स्थान जीवन में कम ही कम होता जायगा।

जब यह बात है तब प्राचीन साहित्याचार्यों की शृंगार व्यवस्था की दुहाई देना कहां तक अनुमोदनीय है? उनका अनुसरण करके, उनके शृंगार-साहित्य का जीर्णोद्धार करके हम समाज को कौनसी शिक्षा देंगे, कौनसा हित-साधन करेंगे? स्वाधीनता के विकास में वह कैसे हमारी सहायता करेगा? शृंगार-रस की अभिवृद्धि से न हमारे जीवन को पोषण-रस मिल सकता है, न सुसंस्कार। फिर इस अनर्थ-व्यापार से हमें परांङ-मुख क्यों न होना चाहिए और क्यों न साहित्य के सु-संस्कृत और सु-संस्कर्ता कर्णधारों की लेखनी प्रवृत्ति के खिलाफ उठनी चाहिए?

[८]

कला-विचार

कला के संबंध में जब ऐसे उच्छृंखल और सदोष विचार अधिक फैलते जारहे हैं तो हमें उस कला के भी दर्शन करलेना चाहिए, जो हमें वास्तविक स्वतंत्रता की ओर ले जाती हो।

सर्व-साधारण कला शब्द के दो ही अर्थों से परिचित हैं—१-विद्या, जैसे शस्त्र-कला और २—कुशलता, जैसे संभाषण–कला। पर इनसे बढ़कर और गहरा अर्थ भी कला का है। एक के हृदय के भावों को दूसरे के हृदय में तद्वत् पहुँचाने या उद्दीप्त करने की विद्या का नाम भी कला है। भाषा जिस प्रकार एक मनुष्य के मस्तिष्क के विचारों को

दूसरे मनुष्य तक पहुँचाने का साधन है उसी प्रकार कला एक के हृदय के भावों को दूसरे के हृदय तक ले जानेवाला वाहन है। जो व्यक्ति अपने हृदय में उठे शोक, आनन्द, विस्मय, करुणा आदि भावों को किसी उपकरण की सहायता से दूसरे के हृदय में तद्वत् जाग्रत कर पाता है, वह कलाकार कहा जाता है। कलाकार के उपकरण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कोई अपने स्वर की विशिष्ट रचना के द्वारा, कोई अपने इंगित वा अंग-विक्षेप द्वारा, कोई अपनी कलम या कूंची के द्वारा और कोई अपनी वाणी के द्वारा उन भावों को अपने हृदय से प्रकट और दूसरे के हृदय में जाग्रत करता है। अतएव किसी कलाधर का उपकरण होता है उसका स्वर, किसीका होता है उसका अंग-विक्षेप, किसीकी कलम और किसीकी वाणी। स्वर के द्वारा अपनी कला का परिचय देनेवाले को हम संगीतपटु, अंग-विक्षेप के द्वारा परिचय देनेवाले को अभिनेता या नट, कलम के द्वारा देनेवाले को चित्रकार और वाणी के द्वारा देनेवाले को कवि कहते हैं। स्थापत्यकारों की गणना भी कलाधरों में होती है। इस प्रकार उपकरण-भेद से कला के भिन्न-भिन्न विभाग हो गये हैं— संगीत-कला, नाट्य-कला, चित्र-कला, काव्य-कला और स्थापत्य-कला आदि। अक्सर लोग कला के इस मर्म को नहीं जानते। चित्रों में वे केवल रंग-बिरंगे, चमकीले-भड़कीले चित्र को 'अच्छा' कह बैठते हैं। वे तो इतना ही देखते हैं कि किस चित्र पर हमारी आंखें गड़ जाती हैं, कौन सुन्दर है, कौन लुभावना है, किसे देखकर हमारी आंखों को आनन्द होता है। उनकी आनन्द और सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणायें भी उनके संस्कार के ही अनुरूप रहा करती हैं। चित्रकार और पत्रकार अक्सर उनकी सेवा के नाम पर, उनकी रुचि की दुहाई देकर, ऐंसे ही चित्रों के कनिष्ट नमूने पेश करते रहते हैं जिससे उनके चित्र और पत्र खप जायँ।

सर्व-साधारण की वे संस्कार-हीन धारणायें ज्यौं-की-त्यों बनी रहें तो बनी रहें इस कारण न सर्व-साधारण की कलाभिरुचि जाग्रत और परिष्कृत होती है, न कला का विकास ही हो पाता है। वे बेचारे जान ही नहीं पाते कि अच्छा चित्र वह नहीं है जो आम तौर पर आंखों को सुन्दर मालूम हो, बल्कि वह है जिसे देखकर हृदय में उच्च, पवित्र, निर्मल भाव उदय हों। ऐसे भाव उठें जिनके द्वारा आचरण को सुधारने की, देश-सेवा, जन-सेवा करनें की, कायरता छोड़नें और पुरुषार्थ बढ़ानें की, दुर्व्यसन और दुराचार से मुंह मोड़ने और सद्गुणों की वृद्धि करनें की उमंग मन में पैदा हो। चित्र के अच्छे या बुरे होने की सब से अच्छी कसौटी यह है कि उसे देखकर मन में उपभोग करने की वासना न उत्पन्न हो। जैसे यदि किसी स्त्री के चित्र को देखकर मन में कामुक अनुराग उत्पन्न हुआ, किसी सुन्दर दृश्य को देखकर वहां जो विलास करने की इच्छा पैदा हुई, यदि किसी रमणी के चित्र को देखकर मन में यह भाव उठा कि यह मेरी पत्नी होती तो क्या बहार आती, तो समझ लो कि यह चित्र अच्छा नहीं है। क्योंकि चित्र को चित्रित करते समय जो भाव चित्रकार के मन में प्रधानरूप से काम करता रहता है वही भाव चित्र में प्रस्फुटित होता है और वही सामान्यत: देखनेवालों के मन पर अधिकार करता है। संक्षेप में कहें तो जिस चित्र को देखकर मन में कुविचार उत्पन्न होते हों, बुरे भाव उत्पन्न होते हों, वह अधम है, उसे कला का नमूना नहीं कह सकते। चित्रकार अपनी कला के बल पर अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के भाव समाज के हृदय में उपजा सकता है। पर समाज का हित-साधन वही चित्रकार कर पाता है जो विवेक से काम लेकर समाज के लिए आवश्यक भावों की सृष्टि करता है और समाज को ऊर्ध्वगामी बनाता है। इसलिए कलातत्वज्ञों ने ऐसे ही चित्रकार की

कला को कला माना है, दूसरे प्रकार की कला को वे केवल अधम कला ही नहीं कहते, बल्कि उसे कला के आसन पर ही नहीं बैठने देते। जिस प्रकार सदाचारी मनुष्य को ही हम मनुष्य मानते हैं, और दुराचारी मनुष्य को, उसके मनुष्य रहते हुए भी, हम पशु मानते हैं उसी तरह समाज को ऊपर चढ़ानेवाली कला ही सच्ची और एकमात्र कला है, समाज को अधःपात का रास्ता दिखानेवाली कला को कला न कहना ही सार्थक है।

कला का सम्बन्ध भाव से है; सुन्दरता से नहीं। दूसरे शब्दों में यों कहें कि कला का सम्बन्ध रूप-सुन्दरता से नहीं, भाव-सुन्दरता से है। रुप-सुन्दरता के पुजारी प्रकृति की प्रतिलिपि को ही कला मानते हैं अर्थात् सृष्टि में जो वस्तु उन्हें जैसी दिखाई देती है उसकी ज्यों की त्यों नकल कर देने, उसका हूबहू चित्र खड़ा कर देने की कुशलता को ही वे कला समझते हैं। इसलिए वे केवल प्राकृतिक दृश्यों के ही चित्र नहीं खींचते, प्राकृत संसार में मिलनेवाली मनुष्य की नानाविध अवस्थाओं के ही चित्र बिना तारतम्य के नहीं खींचते, बल्कि नग्न ग्रौर अर्धनग्न स्त्री-पुरुषों के चित्र चित्रित करना भी अनुचित नहीं मानते। वे ठेठ दम्पतियों के अन्तःपुर में भी बेधड़क चले जाते हैं और उसकी दीवारें तोड़कर सारे जन-समाज में उन्हें उपस्थित कर देते हैं। जब पत्र-पत्रिकाओं का जन्म नहीं हुआ था तब ऐसे दृश्य केवल अन्तःपुर की ही सम्पत्ति समझे जाते थे, पर अब तो 'गुप्त' को पाप समझने का जमाना जो आगया है! प्रकृत-संसार में चाहे हमारे स्त्री-संसार के मुख पर से परदा उठाने की हिम्मत हमें न हो, पर चित्र-संसार में तो हमने अन्तःपुर का भी परदा निकाल डाला है! मन में प्रश्न उठता है कि किसीके अन्तःपुर में जाकर झांकने का किसीको कुछ अधिकार हो सकता है? यदि नहीं हो सकता तो फिर अन्तःपुर को बाजार में बेचने-

वाले महाशयों से कभी किसीने इसका जवाब तलब किया है ? किसी भी माता या बहन ने पूछा है कि क्यों हजरत, जब चाहे जहां और जिस अवस्था में हमें उपस्थित करनें की गुस्ताखी आप क्यों कर रहे हैं ? कभी उनके आर्यसतीत्व नें सन्तप्त होकर उन्हें चेतावनी दी है कि बस, यहीं तक; अब आगे नहीं ! मेरी राय में अब वह समय आगया है कि समाज इस प्रवृत्ति पर अपना अंकुश रखने लगे । दम्पती के अन्तःपुर के ऐकान्तिक जीवन के प्रसंगों के अतिरिक्त चित्रकारों के लिए ऐकान्तिक जीवन के ही ऐसे अनेक दूसरे प्रसंग मिल सकते हैं जिनके द्वारा वे अपनी कला का सदुपयोग कर सकते हैं ।

यह तो हुई प्रकृति की प्रतिलिपि करनेवाले चितेरों की बात । इनकी कला नाम से प्रचलित वस्तु को कला-तत्वविद् यथार्थदर्शी कला कहते हैं । एक दूसरे प्रकार के कलामर्मज्ञ हैं । वे भाव-सुन्दरता के उपासक हैं । वे कहते हैं, रूप तो क्षणिक और गौण चीज है । भाव मुख्य वस्तु है । कुदरती चीजों की नकल कर देना कौन बड़ी बात है ? हाथ और आंख को जरा अभ्यास होजाय तो बस है । उसमें बुद्धि, कल्पना, प्रतिभा के बल से काम नहीं लिया जाता । भाव-सुन्दरता के लिए चित्रकार को अपनी नई ही सृष्टि रचनी पड़ती है । वह अपने हृदय के भाव-विशेष को मूर्त्ति का, व्यक्ति का रूप देता है, जिसे देखते ही यह मालूम होता है कि यह कोई प्राकृत व्यक्ति नहीं साक्षात् करुणा या भक्ति की ही मूर्ति है । वह उस भाव दर्शन के अनुरूप आदर्श अवयवों को अपनी प्रतिभा के साम्राज्य से खोज-खोजकर लाता है और एक आदर्श भाव-सृष्टि खड़ी कर देता है । इसलिए ऐसे चित्रकार आदर्शदर्शी-कला के अनुगामी माने जाते हैं । आदर्शदर्शी चित्रकार भावों को व्यक्ति का रूप देता है; यथार्थदर्शी चित्रकार प्राकृत संसार के व्यक्तियों का चित्र खींचकर उसमें भाव आरोपण करने

का प्रयत्न करता है। आदर्शदर्शी चित्रकार का ध्यान हमेशा आदर्श-दर्शन की ओर रहता है। यथार्थदर्शी कलाधर दुनिया की अच्छी बुरी, भद्र-अभद्र, सब चीजें आपके सामने लाकर रख देता है। आदर्शदर्शी कलाकार खुद विवेकपूर्वक चुनाव करके अच्छी चीज आपके सामने पेश करता है। यथार्थदर्शी कलाकार स्वयं विवेक का उपयोग करने के झगड़े में नहीं पड़ता; चुनाव और पसन्दगी का काम समाज पर छोड़ देता है। समाज का जी चाहे ऊपर चढ़े चाहे नीचे गिरे। वह तो अपने मन को जो चीज अच्छी लगी, आपके सामनें पेश करके अलग हो गया।

भारतवर्ष स्वभावत: और परम्परया आदर्शवादी है। अभी-अभी अंग्रेजी सभ्यता की धाक का ऐसा जमाना आया कि और बातों की तरह हम अपनी कला का आदर्श भी भूलने लगे थे। अनेक धन्यवाद है, हैवल साहब को, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर को, डाक्टर कुमारस्वामी को, जिन्होंने भारतीय चित्रकला को डूबते हुए बचाया। इस समय भारत में चित्रकला के दो प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं—एक बंगाल-सम्प्रदाय, दूसरा बम्बई-सम्प्रदाय। बंगाल-सम्प्रदाय का झुकाव जितना आदर्शवाद की तरफ है, उतना बम्बई-सम्प्रदाय का नहीं है। यूरोप में भी आदर्शवादी, और यथार्थवादी दोनों सम्प्रदाय हैं। रस्किन, टॉलस्टाय आदर्शवादी हैं। उनका कहना है कि यूरोप से कला लोप हो रही है। टॉलस्टाय ने What is art? (कला क्या है ?) नामक एक अत्यन्त मार्मिक पुस्तक लिखी है। इसमें उन्होंने अपने समय तक के तमाम कला और सौन्दर्य-शास्त्र के प्रधान ज्ञाताओं के मत का निदर्शन करके उनकी समीक्षा की है और कला के सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र मत प्रतिपादित किया है इस लेखारम्भ में कला की व्याख्या में मैंने उन्हींके मत को गृहीत किया है। इसे और भी विस्तार से समझने का यत्न करें।

कला की उत्पत्ति जीवन के मृदुल अंश से है। उसका जन्म रस में और परिणति आनन्द में है। जब जीवन में सजीवता और स्निग्धता होती है और इतनी होती है कि वह फूटकर बाहर निकलना चाहती है तब कला का उदय होता है। एककी सजीवता और स्निग्धता जिस प्रभावशालिनी विधि या वाहन के द्वारा दूसरे में जाग्रत होती है उसे कला कहते हैं। इस तरह कला एक माध्यम हुई दो हृदयों को एक रस बनानें का। दो हृदयों को, दो जीवनों का यह मधुर मिलन किसी एक उद्देश से होता है। कला उसीका साधन है। किसी के मन में एक अनूठा भाव जगा। उससे न रहा गया। उसने कूंची उठाई और एक कागज पर लकीरें खींचकर उसे अभिव्यक्त कर दिया। एक सजीव छवि बन गई। यह चित्र-कला हो गई। यदि उस भावावेश में वह गाने या नाचने लगता तो वह संगीत कला और नृत्य-कला हो गई होती। यदि अभिनय करने लगता तो उसे नाटचकला कह देते। काव्य में जिसे चमत्कार कहते हैं वही कला है। काव्य में ध्वनि भी कला है। काव्य स्वयं भी एक कला है। क्योंकि वह भी हृदय के भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति ही है। रस उसमें सजीवता और आनंद ला देता है। भाव जितना ही निर्दोष होगा, उच्च होगा, आनन्द और तन्मयता उतनी ही सात्विक होगी। हृदय उतना ही ऊँचा उठेगा और अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करेगा। हमारे भिन्न-भिन्न भाव हमारे मानसिक व्यापार, हमारे सारे पिण्ड के प्रतिबिम्ब हैं। हमारे पिण्ड में जैसे संस्कार संगृहीत हुए होंगे वैसी ही भावनायें हमारी होंगी। और जैसी हमारी भावनायें होंगी वैसी ही हम दूसरों में प्रेरित और जाग्रत करेंगे। अर्थात् जैसे हम होंगे वैसे ही हम दूसरों को बनाने में सफल होंगे। इसलिए कलाकार जैसा होगा वैसी उसकी कलाकृति होगी और जैसी उसकी कृति होगी वैसा ही उसका परिणाम दर्शक पर

होगा । कलाकार ने अपने अन्तःकरण के जिन तारों को छेड़ा है वही अपनी स्वर-लहरी द्वारा तत्सदृश तारों को दर्शक के अन्तःकरण में स्वरित करेंगे । विशुद्ध कलाकृति के लिए कलाकार का अन्तःकरण निर्दोष होना ही चाहिए । अन्तःकरण की मलिनता को धोने के लिए मलिन वासनाओं को मिटाने के लिए सत्य की आराधना जरूरी है । भौतिक पदार्थों की आराधना उसे अधोमुख करेगी और क्षुद्रताओं से, रागद्वेष से, ऊपर न उठने देगी । हर जगह से सत्य को ही ग्रहण करने की वृत्ति उसे सत्य से भिन्न और नीची वस्तुओं के लोभ से हटाने की चेष्टा करेगी और इस क्रिया में उसका हृदय विशुद्ध होता जायगा । उसमें स्वार्थ, भोग, परोप-कार, आदि के संस्कार नष्ट होते जायँगे । क्योंकि ज्यों-ज्यों वह सत्य की ओर आगे बढ़ेगा त्यों-त्यों उसे उसमें इतना आनन्द, सुख, और परोपकार देख पड़ेगा कि स्वार्थ, भोग, आदि से उसका मन अपने आप हटता जायगा । इनकी साधना से मिलनेवाला आनन्द या सुख बिल्कुल क्षणिक, भ्रमपूर्ण और परिणाम में पश्चात्तापात्मक मालूम होने लगेगा । इस तरह कलाकार जितना ही सत्य-पूत होगा, उतनी ही उसकी कृति पवित्र और उज्ज्वल होगी । कला कलाकार की सृष्टि है । वह अपने जीवन के सारे सत्व को कलाकृति के रूप में जगत् की भेंट करता है । उसकी कृति में जितनी ही सत्य की झलक होगी, सत्य का साक्षात्कार होगा उतनी ही उसकी कला-सृष्टि दिव्य और अमर होगी—उतनी ही वह जगत् को स्फूर्ति, जीवन, चैतन्य, आनन्द, सुख, देगी ।

संसार का परम सत्य यह है कि विश्व के अणु-रेणु में एक ही चैतन्य, एक ही प्रकाश, एक ही तेज, एक ही सत्ता, निखरी और बिखरी हुई है । किसी भी वस्तु का अस्तित्व उसके बिना सम्भव नहीं है । हमने इस सत्य को जान तो लिया; किन्तु इसका अनुभव कैसे हो ?

हमारे जीवन में इसकी प्रतीति हमें कैसे हो ? हम अपने अन्दर उस चैतन्य को प्रत्यक्ष कैसे देखें ? हम और वह दोनों जो आज पृथक् हैं, एक-दूसरे में मिल कैसे जायँ ? इसका उपाय यह है कि हमारे हृदय का प्रत्येक भाव, हमारे मस्तिष्क का प्रत्येक विचार, हमारे दिल की हर एक धड़कन, हमारे फेफड़े की हरएक सांस, हमारा एक-एक रोम इस स्फूर्ति से भर जाय कि सारे ब्रह्माण्ड में मैं फैला हुआ हूँ। सारी सृष्टि मेरे अन्दर है। जगत् का सुख-दुःख मेरा सुख-दुख है। जगत् में कहीं कष्ट देखूं तो ऐसा अनुभव हो कि यह कष्ट मुझे हो रहा है। संसार में कहीं आनन्द देखूं, किसीको सुखी देखूं, तो स्वयं कष्ट में रहते हुए भी उस आनन्द में नाचने लगूं। मेरा शत्रु या एक हिंस्र पशु सामने आजाय तो मुझे उसमें अपनी ही आत्मा की ज्योति दिखाई दे। जब कलाकार इस स्थिति को पहुँच जाता है—अपने आपमें इतना तल्लीन हो जाता है—या यों कहें कि अपने आपको भूल जाता है, सत्य की स्फुरणा ही अवशिष्ट रह जाती है, तब वह जो सृष्टि रचना करता है, उसे कला कहते हैं। वह सत्य की झलक होती है। शान्ति, करुणा, प्रेम, उदारता, वीरता, शोक, उत्साह, साहस, चिन्ता, किसी भी भाव की अभिव्यक्ति हो; किन्तु होगी सत्य की प्रेरणा का फल। वह भाव मूल में सत्य से आरम्भ हुआ है, फिर शान्ति, वीरता, चिन्ता या किसी भी भाव में उसका विकास हुआ है, इस विकास की अभिव्यक्ति कला है। इसका परिणाम दर्शक के मन में उसी भाव की जागृति होगा। यह जागृति उसे उस मूल सत्य की ओर जाने की प्रेरणा करेगी जहां से कलाकार के मन में वह भाव स्फुरित हुआ है। इस प्रकार कला आदि में सत्य मूलक और अन्त में सत्याभिमुख है; मध्य में वह भाव-विशेष का रूप गृहण कर लेती है। या यों कहें कि एक सत्यांश से दूसरे सत्यांश को जगानेवाले भाव-विशेष की अभिव्यक्ति का नाम कला है।

इस तरह कला एक कृति है, साधन है, अभिव्यक्ति है, साध्य नहीं है। उसका परिणाम है भावोन्मत्तता और साध्य है सत्य का साक्षात्कार—सत्य का दर्शन।

व्यावहारिक भाषा में कला का अर्थ है—कुशलता। कला का अर्थ विद्या, हुनर भी है। इस मानी में कला एक मानसिक गुण हुई। इस अर्थ में कला हर एक व्यावहारिक मनुष्य के अन्दर परम आवश्यक है। पर कला से अभिप्राय यहां उस कृति से है जो हमारे हृदय को जगा देती है; बार-बार उसे गति देती रहती है, बस इसके आगे उसका काम खतम हो जाता है। कलाकार आपका हाथ पकड़कर—आपका साथी या नेता बनकर, आपकी सहायता नहीं करता। वह तो एक ऐसा दृश्य दिखा देता है जिससे आपके अन्तःकरण में एक हलकी मीठी गुदगुदी उत्पन्न होती है और आपकी आत्मा जागृत होने लगती है। मृदुलता कला का जीवन है। समवेदना उसकी जननी है। किसी कल्पना या दृश्य से कलाकार के हृदय को चोट पहुँचती है, क्षोभ होता है, या आनन्द होता है—उससे उसके अन्तःकरण के कपाट खुलते हैं। वहां से एक रस की धारा फूटती है। समवेदना उसमें मृदुलता की दूसरी धारा छोड़ती है। दोनों मिलकर किसी उपकरण के द्वारा कोई स्थूल रूप ग्रहण करती हैं—उसे हम कला कहते हैं। अतएव कला का कार्य केवल दूसरे चित्रों की नकल, या मानव मूर्तियों का चित्रण, अथवा सृष्टि के विविध दृश्यों का दर्शन नहीं है; बल्कि भावदर्शन के द्वारा भावोद्बोधन है। कलाकार मानव-मूर्तियों में भाव का प्रवेश नहीं करता; बल्कि भावों की मानव-मूर्तियों या पार्थिव दृश्यों के रूप में उपस्थित करता है। जिन दृश्यों को मनुष्य प्रायः अपने जीवन में देखता है उनकी प्रतिकृति उसका कार्य नहीं है; बल्कि एक नई सृष्टि-रचना उसका कार्य है। उसे एक दूसरा विधाता ही

समझिए। वह हमारे विधाता की रची सृष्टि की नकल नहीं करता; बल्कि उसमें सुधार करता है; उससे अधिक परिष्कृत, सुन्दर, कोमल, मनोहर और दिव्य सृष्टि रचना चाहता है। वह एक आदर्श को मानवी हाथ-पांव आदि अंग जोड़कर हमारे सामने रखता है। इस अंग रचना में वह अपनेको स्वतंत्र समझता है। वह यदि यह समझता है कि अँगुलियां लम्बी बनाने से चित्र की सुन्दरता बढ़ेगी तो फिर इस बात का विचार नहीं करता कि ब्रह्मदेव नें तो इतनी लम्बी अँगुलियां मनुष्य की नहीं बनाई है, मैं कैसे बनाने का साहस करूँ ? इस अर्थ में कलाकार मौलिक, साहसी और स्वतंत्र होता है।

कला को उदर-पूर्ति का साधन हरगिज न बनाना चाहिए। पेट जब तक मनुष्य के साथ लगा हुआ है तबतक उसकी पूर्ति अनिवार्य है; परन्तु उसके लिए जीवन के प्रधान और महान् उद्देश को बिगाड़ा नहीं जा सकता। जो महान् और सच्चे उद्देश के लिए जीते हैं उन्हें न तो पेट की चिन्ता होती है और न उन्हें वास्तव में भूखों मरना ही पड़ता है; यदि मरना भी पड़े तो उसमें भी वे अधिक आनन्दित रहते हैं और चमकते हैं। उदर-पूर्ति का भाव प्रधान हुआ नहीं और कला भ्रष्ट हुई नहीं। क्योंकि कला फिर कलाकार की आत्मा की ज्योति नहीं रह जाती; अन्नदाता या धनदाता की रुचि की दासी बन गई। कहां की आत्मा की स्वतंत्र ज्योति और कहां दूसरे की रुचि की गुलामी ? कितना स्पष्ट पतन ! पेट की चिन्ता, पुरस्कार की इच्छा उन्हीं कलाकारों को हो सकती है जिन्होंने किसी उच्च या महान् उद्देश के अनुवर्ती होकर कला जीवन नहीं आरंभ किया है। यह कला-मर्मज्ञ और कला-रसिक लोगों का कर्त्तव्य है कि वे कलाकारों की जीविका का उचित प्रबंध कर दिया करें। जबतक समाज या कला-रसज्ञ अपने कर्त्तव्य के प्रति जाग्रत नहीं

हैं तबतक कलाकार के सामने दो ही मार्ग हैं—या तो अपनी कला का दाम लगाकर स्वयं धनोपार्जन करे—या कष्ट पाकर समाज को अपने कर्त्तव्य का भान करावे। पहले प्रकार का कलाकार समाज को कुछ कलाकृतियां तो देगा; परन्तु उनसे समाज का मनोरंजन विशेषरूप से होगा, समाज में जागृति कम होगी और उसे बोध उससे भी कम मिलेगा। इसके विपरीत जो कलाकार धनाभाव में कष्ट सहन करेगा; वह समाज में एक जागृति उत्पन्न करेगा, और उस कष्ट की भावनाओं से प्रेरित होकर जो कलाकृतियां निर्माण करेगा उनमें अदभुत प्रभाव, बल और जीवन होगा, जिससे समाज को अमित लाभ होगा। आसानी से धनोपार्जन करके हम सिर्फ अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण निश्चिन्तता के साथ कर सकते हैं; किन्तु धनाभाव से कष्ट उठाकर हम सारे समाज की आत्मा को जगाने का पुण्य प्राप्त करते हैं। जो वस्तु हमारे लिए आवश्यक है उसके न मिलने से शरीर या मन को जो क्लेश होता है उसे सहना, उसे कष्ट न समझना, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर उसमें आनन्द मानना कष्ट सहन है। इसके द्वारा हम उन व्यक्तियों, संस्थाओं श्रेणियों का ध्यान आकर्षित करते हैं, जिनके लिए यह जरूरी है कि वे उस वस्तु को हमतक पहुँचावें। जब उन तक इस बात की खबर पहुँचेगी तो वे फौरन सोचने लगेंगे कि फलां आदमी ऐसा क्यों कर रहा है? उसके बाद ही वे यह सोचेंगे कि इस विषय में हमारा क्या कर्त्तव्य है? इसके पश्चात् वे उसके साधन की पूर्ति करने की चेष्टा करेंगे। जबानी या लिखित मांग के द्वारा भी इस उद्देश की पूर्ति हो सकती है; किन्तु दोनों के प्रभाव और फल में अन्तर है। जबानी और लिखित मांग [उस वस्तु की अनिवार्यता उतने जोर के साथ नहीं जाहिर करती जितनी कि कष्ट सहन द्वारा की गई मांग। फिर कष्टसहन से

अपनें में सन्तोष और संयम का गुण बढ़ता है एवं दूसरे में कर्त्तव्य जागृति का ।

इतने विवेचन से पाठक यह अच्छी तरह समझ चुके होंगे कि कला वही है जिसकी प्रेरणा आत्मा की सत्यता, स्वतंत्रता और पवित्रता से मिली हो, और कलाकार वह है जिसने जीविका के बाजार में बेंचने के लिए कला को नहीं सिरजा हो । इसके विपरीत जो कला दीखती है, या कलाकर कहलाते हैं, वे निःसत्व होते हैं और स्वाधीनता की साधना या स्वाधीन भावों की रक्षा में किसी प्रकार सहायक नहीं हो सकते ।

———

संस्था-सञ्चालन

[६]

[१]

आधुनिक दाता और भिखारी

सार्वजनिक काम बिना संस्था के समुचित और सुसंगठित रूप से नहीं चल सकते और संस्था बिना धन की सहायता के नहीं चलती यह स्वयंसिद्ध और सर्वमान्य बात है। धन मुख्यतः धनी लोगों से ही मिल सकता है। हमारे देश में ऐसे धनी बहुत कम हैं जो सार्वजनिक कामों में दिल खोलकर धन लगाते हों। पुराने विचार के धनी मंदिरों, गोशालाओं, धर्मशालाओं, कुवों, अन्नक्षेत्रों आदि में धन लगाते हैं और कुछ संस्कृत-हिन्दी की पाठशालाओं तथा अंग्रेजी स्कूलों के लिए भी धन देते हैं। देश की परम आवश्यकता को समझकर सामाजिक सुधार अथवा राष्ट्रीय संगठन के काम में थैली खोलकर रुपया लगानेवालों की बड़ी कमी है! फिर जो ऐसे कामों में दान दिया जाता है वह कीर्ति के लोभ से, मुलाहिजों में आकर, जितना दिया जाता है

उतना उस कार्य से प्रेम होने के कारण नहीं। इसका फल यह होता है कि हमें रुपया तो मिल जाता है पर उन कामों के लिए उनका दिल नहीं मिलता, जो कि धन से भी अधिक कीमती है। जहां धन और मन दोनों मिल जाते हैं वहां ईश्वर की पूरी कृपा समझनी चाहिए।

पर जहां मन नहीं है, अथवा मन दूसरी बातों में लगा हुआ है, वहां से अपने कामों के लिए धन प्राप्त करना एक टेढी समस्या है। कार्यकर्त्ता की सबसे बड़ी परीक्षा यदि किसी जगह होती है, सबसे अधिक मनःक्लेश उसे यदि कहीं होता है, तो अपनें प्रिय कार्यों के लिए धन एकत्र करने में। मैं इस बात को मानता हूँ कि यदि कार्यकर्त्ता अच्छे और सच्चे हों तो धन की कमी से उनका काम नहीं रुक सकता। मैं यह भी देखता हूँ कि कितनें ही देश-सेवक धन प्राप्त करने में विवेक का कम उपयोग करते हैं। धनवान् प्रायः शंकाशील होते हैं। यदि वे ऐसे न हों तो लोग उन्हें जिन्दा खा जायँ। धन ही उनका जीवन-प्राण होता है; धन ही उनके सारे परिश्रम और उद्योग का लक्ष्य होता है; इसलिए धन-दान के मामले में वे कठोर, संशयचित्त और बेमुरौवत हों तो आश्चर्य की बात नहीं; फिर भी जिस बात में उनका मन रम जाता है, फिर वह देश-सेवकों की दृष्टि में उचित हो वा अनुचित, वे मुट्ठी खोलकर पैसा लगाते ही रहते हैं। अतएव सबसे आवश्यक बात है धनवानों को यह जँचाना चाहिए कि हमारा काम लोकोपयोगी है, उसकी इस समय सबसे अधिक आवश्यकता है और कार्यकर्त्ता सच्चे, प्रामाणिक और व्यवस्थित काम करनेवाले हैं। यह हम बातें बनाकर उन्हें नहीं समझा सकते। छल-प्रपंच तो कै दिन तक चल सकता है? हमारी व्यक्तिगत पवित्रता, हमारी लगन, हमारी कार्य-शक्ति ही उन्हें हमारा सहायक बना सकती है।

हमारे देश में दान देनेवाले तीन प्रकार के लोग होते हैं। (१) एक तो वे धनी जो पुराने ढंग के धार्मिक कार्यों में धन लगाते हैं, (२) दूसरे वे धनी जो देश-हित और समाज-सुधार में रुपया देते हैं, और (३) सर्व-साधारण लोग। पुरानें ढंग के लोगों में धर्म का भाव अधिक है, धर्म का ज्ञान कम है; और देश तथा समाज को स्थिति का ज्ञान तो और भी कम है। पुरानी रूढ़ियों और अन्ध विश्वासों को ही उन्होंने धर्म मान रक्खा है—और यह उनका इतना दोष नहीं है जितना उन लोगों का, जिन्होंने उनकी ये धारणायें बना दी हैं, और अब भी जो उन्हें बना रहने देते हैं। दान का भाव उनके अन्दर है; जिस दिन वे अपनी धारणाओं को गलत समझ लेंगे, अपने भ्रम को जान जायंगे, उसी दिन वे समझ और खुशी के साथ देश-हितकारी कार्य्यों में दान दिया करेंगे। इसका उपाय तो है, उनके अन्दर देश-काल के ज्ञान का प्रचार करना। उनके साथ धीरज रखना होगा, आतुर बनने से काम न चलेगा।

दूसरे दल में दो प्रकार के लोग हैं—एक तो वे जो सभी अच्छे कामों में सहायता देते रहे हैं; दूसरे वे जो खास-खास कामों में ही देते हैं। ये दो भेद हम सार्वजनिक भिखारियों को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए। पहले प्रकार के लोग काम करनेवालों पर ज्यादा दृष्टि रखते हैं और दूसरे प्रकार के लोग काम और काम करनेवाले दोनों पर। पहले दाता को यदि यह जँच जाय कि आदमी भला ग्रौर ईमानदार है तो फिर उसका काम न जँचने पर भी वह सहायता कर देता है और दूसरा दाता इतने पर संतोष नहीं करता। वह यह भी देखता है कि यह काम क्या कर रहा है, अच्छी तरह कर रहा है या नहीं, जो कार्य स्वयं दाता को पसंद है वही कर रहा है या दूसरा;

और यदि वह उसके मत के अनुकूल हुआ तो ही सहायता करता है। पहले दाता में उदारता अधिक है और दूसरे में विवेक तथा मिशनरी-वृत्ति। पहले में राजा का मनौदार्य है, और दूसरे में सेनानायक की विवेक-शीलता, तारतम्य-बुद्धि। पहला देने की तरफ जितना ध्यान रखता है उतना इस बात की तरफ नहीं कि दिये धन का उपयोग कैसा हो रहा है, काम-काज कैसा-क्या चल रहा है; दूसरा पिछली बात के लिए जागरूक रहता है। पहले दाता से बहुतों को थोड़ा-थोड़ा लाभ मिलता है, दूसरे से थोड़ों को बहुत। पहला धूर्तों के जाल मे फँस सकता है, दूसरे से सच्चे भिखारी भी निराश हो सकते हैं। इस मनोवृत्ति को पहचानकर हमें भिक्षा-पात्र हाथ में लेना चाहिए। राजा-वृत्ति के दाता के पास हर भिखारी बड़ी रकम की अभिलाषा से जायगा, अथवा बार-बार जाने लगेगा, तो निराशा, पछतावा और कभी किसी समय उपेक्षा या अपमान के लिए उसे तैयार रहना चाहिए। मिशनरी-वृत्तिवाले दाता के पास उसके प्रिय कामों को छोड़कर दूसरे कामों के लिए जाने से सूखा इन्कार मिलनें की तैयारी कर रखनी चाहिए।

अब रहे सर्वसाधारण दाता। ये दाता भी हैं और दान-पात्र भी हैं। सार्वजनिक काम अधिकांश में सर्वसाधारण के ही लाभ के लिए होते हैं। उन्हींका धन और उन्हींका लाभ। हमारी वर्ण-व्यवस्था ने समाज-हित के लिए धन देना धनियों का कर्तव्य ठहरा दिया। इसलिए अधिकांश धन उन्हींसे मिलता है और उन्हींका दिया होता है। यों देखा जाय तो सर्वसाधारण जनों के ही यहां से वह धन धनियों के यहां एकत्र हुआ है और उसका कुछ अंश फिर उन्हींकी सहायता में लग जाता है। पर इतना चक्कर खाकर आनें के कारण वह उन्हें अपना नहीं मालूम होता। सब से अच्छी मनोवृत्ति तो मुझे यही मालूम होती है कि सर्वसाधारण

अपनी संस्थायें, अपने काम, अपने ही खर्चे से चलावें; दान लेने और दान देने की प्रथा मनुष्य के स्वाभिमान को गहरा धक्का पहुँचाती है। दान देनेवाला अपनेको उपकार-कर्त्ता अतएव बड़ा सामझने लगता है और अभिमानी हो जाता है। इधर दान लेनेवाला अपनेको उपकृत अतएव छोटा और जलील समझने लगता है। यदि कर्त्तव्य-भाव से दान दिया और लिया जाता है, यदि दाता अपना अहोभाग्य समझता हो कि मेरा पैसा अच्छे काम में लगा, यदि भिक्षुक भी अपने को धन्य समझता हो कि समाज-सेवा या देश-हित के लिए मुझे झोली हाथ में लेने का और अपमानित या तिरस्कृत होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ—तब तो इससे बढ़कर सुन्दर, उच्च, ईर्ष्या-योग्य मनोवृत्ति हो नहीं सकती। अतएव या तो कर्त्तव्य और सेवा-भाव से दान दिया और लिया जाय, फिर उसमें उपकार या एहसान का भाव किसी ओर न रहे, या फिर दान देने-लेने की प्रथा उठाकर स्वावलम्बन की प्रणाली डाली जाय। वर्तमान दाताओं और भिक्षुकों का वर्तमान अस्वाभाविक और उद्वेग-जनक सम्बन्ध किसी तरह वांछनीय नहीं है।

भिक्षुक भी कई प्रकार के हैं। पेटार्थी और सेवार्थी—ये दो बड़े भेद उनके किये जा सकते हैं; फिर याचक भिखारी और डाकू भिखारी—ये दो भेद भी उनके हो सकते हैं। अपने पेट के लिए भीख मांगनेवाले—फिर चाहे वे पुराने ढंग के भिखमंगे हों, चाहे नवीन ढंग से चन्दा जमा करनेवाले हों, लोग उन्हें पहचानते हैं और चाहें तो उन्हें जल्दी पकड़ सकते हैं। सेवार्थी वे हैं जो अपनें अंगीकृत कार्यों और संस्थाओं के लिए सहायता प्राप्त करते हैं। अपने भरण-पोषण मात्र के लिए वे संस्था से खर्च ले लेते हैं। याचक भिखारी वे जो गली-गली चिल्लाते और गिड़गिड़ाते फिरते हैं; और डाकू भिखारी वे जो मुडचिरे होते है, अथवा अखबारों में

बदनामी करने की धमकी दे-देकर, या आन्दोलन मचाकर रुपया हड़प लेते हैं।

दाताओं को चाहिए कि वे स्तुति से प्रभावित और निन्दा से भयभीत होकर दान न दें। कार्य की आवश्यकता, श्रेष्ठता और उपयोगिता तथा कार्य-संचालक की लगन, प्रामाणिकता, व्यवस्थितता और योग्यता देखकर धन दिया करें। भिखारियों को चाहिए कि दाता को पहचानकर उसके पास जायँ, आवश्यकता हो तभी जायँ। दाताओं और भिखारियों के लिए नीचे लिखे कुछ नियम लाभकारी साबित होंगे—

दाताओं के लिए—

(१) देश, काल और पात्र को देखकर दान दें।

(२) जो देना हो खुशी-खुशी दें—बेमन से या जबरदस्ती कुछ न दें।

(३) आजकल देश-हित और समाज-सुधार के कामों में ही धन लगावें।

(४) दान देने के पहले भिक्षुक को परख लें। यह जांच लें कि वह अपने, अपने कुटुम्बियों के, आश्रितों के लिए सहायता चाहता है, या अपने अंगीकृत कार्य के लिए, अपनी संस्था के संचालन के लिए चाहता है। फिर व्यक्ति और कार्य की जैसी छाप उनके दिल पर पड़े वैसी सहायता करनी चाहिए।

(५) हर आगन्तुक की सीधे सहायता करने के वजाय यह अच्छा है कि एक-एक कार्य के लिए एक-एक विश्वसनीय प्रधान चुन लिया जाय और उसकी मार्फत सहायता दी या दिलाई जाय।

(६) जहां-जहां दान दिया जाता है वहां उसका उपयोग कैसा-क्या होता है, इसकी जांच-परताल दाता को हमेशा कराते रहना चाहिए और आवश्यकता जान पड़े तो बिना मांगे भी सहायता करनी चाहिए।

(७) इतनी बातों की जांच होनी चाहिए—(१) प्राप्त धन का हिसाब ठीक-ठीक रक्खा जाता है या नहीं; (२) खर्च-वर्च में किफायत से काम लिया जाता है या नहीं; और (३) कार्य के अलावा व्यक्ति अपने ऐशो-आराम में तो खर्च नहीं कर रहे हैं न।

(८) दाता भिखारी का अनादर न करे। स्नेह के साथ उसकी बातें सुनें और मिठास से उसको उत्तर दे। इन्कार करनें में भी, जहांतक हो, रुखाई से काम न लिया जाय। यह नियम सेवार्थी भिखारियों पर लागू होता है; पेटार्थी या डाकू भिखारी पर नहीं—उनको तो भिक्षा, दान या सहायता देना घर की लक्ष्मी को कूड़े पर फेंकना है।

भिखारियों के लिए—

(१) केवल सार्वजनिक कार्य के लिए ही भिक्षा मांगनें जायँ।

(२) अपने खर्च-वर्च के लिए किसी व्यक्ति से कुछ न मांगें—संस्था या अपने अंगीकृत कार्य पर अपना बोझ डाले और सो भी उतना ही, जितना भरण-पोषण के लिए अति आवश्यक है। भूखों मरने की नौबत आने पर भी अपने पेट के लिए किसीके आगे हाथ न फैलावें।

(३) जब वह भिक्षा मांगनें निकला है, तब मान-अपमान, आशा-निराशा से ऊपर उठकर दाता के पास जाय। सहायता मिल जाने पर हर्ष से फूल न उठे, न मिलने पर दुखी न हो। मिल जाने पर दाता को धन्यवाद अवश्य दिया जाय; पर न मिलनें पर तनिक भी झुंझलाहट न दिखाई जाय—उसे कोसना तो अपनेको भिक्षुक की श्रेष्ठतासे गिरा देना है।

(४) भिक्षा मांगने तभी निकले जब काम बिल्कुल ही अड़ जाय।

(५) धन के हिसाब-किताब और खर्च-वर्च में बहुत चौकस और सावधान रहे। कार्थ-संचालन में प्रमाद या आलस्य न करे। अन्यथा उसका भिक्षा मांगने का अधिकार कम हो जायगा।

(६) दाताओं पर प्रभाव जमाने के लिए आडम्बर न रचे। उन्हें फुलसाने के लिए व्यर्थ की तारीफ न करे। डराकर दान लेने का तो स्वप्न में भी खयाल न करे।

(७) अपनें कार्य में जिन-जिन लोगों की रुचि हो उन्हींके पास सहायता के लिए जाय।

(८) यह समझे कि संस्थाएँ और कार्य धन के बल पर नहीं, हमारे त्याग, तप और सेवा के बल पर ही चल सकती हैं। और यदि तप और सेवा न होगी तो धन भोग-विलास की सामग्री बन जायगा। स्थायी कोष बनाने के लिए धन संग्रह करने किसीके पास न जाना चाहिए।

मेरा खयाल है कि यदि दाता और भिखारी दोनों इन बातों का खयाल रखते रहेंगे तो न कोई अच्छा कार्य धन के अभाव में बिगड़ने पावेगा, न धन का दुरुपयोग होगा, न दाता और भिखारी को परस्पर निन्दा या तिरस्कार करने का अवसर ही आवेगा। आदर्श दाता और आदर्श भिखारी जिस समाज में हो वह धन्य है। वह समाज कितना ही पीड़ित, पतित, पिछड़ा हो, उसका उद्धार हुए बिना रह नहीं सकता।

[२]

सेवक के गुण

संग्राम में विजय पाना जिस प्रकार सेना के गुण, योग्यता और नियम-पालन पर बहुत-कुछ अवलंबित रहता है, उसी प्रकार देश-सेवा का कार्य देशसेवकों के गुण, बल, योग्यता और नियम-पालन के बिना प्रायः असम्भव है। केवल व्याख्यान दे लेने, लेख लिख लेने, अथवा सुन्दर कविता रच लेने से कोई देश-सेवक की पदवी नहीं पा

सकता। ये भी देश-सेवा के साधन हैं; पर ये लोगों के दिलों को तैयार करने भर में सहायक हो सकते हैं, उनके संगठन और सञ्चालन में नहीं। अतएव यह आवश्यक है कि हम जान लें कि एक देश-सेवक की हैसियत से हमें किन-किन गुणों के प्राप्त करने की, किन,किन नियमों के पालन करने की आवश्यकता है और फिर उसके अनुसार अपने-अपने जीवन को बनावें।

(१) देश-सेवक में पहला गुण होना चाहिए सचाई और लगन। यदि यह नहीं है, तो और अनेक गुणों के होते हुए भी मनुष्य किसी सेवा-कार्य में सफल नहीं हो सकता। मक्कारी और छल-प्रपञ्च के लिए देश या समाज या धर्म-सेवा में जगह नहीं।

(२) दूसरे की बुराइयों को वह पीछे देखे पर अपनी बुराइयां और त्रुटियां उसे पहले देखनी चाहिएँ। इससे वह खुद ऊंचा उठेगा और दूसरों का भी स्नेह संपादन करता हुआ उन्हें ऊंचा उठा सकेगा।

(३) तीसरी बात होनी चाहिए नम्रता और निरभिमानता। जो अपने दोष देखता रहता है वह स्वभावतः नम्र होता है, और जो कर्तव्य-भाव से सेवा करता है उसे अभिमान छू नहीं सकता। उद्धतता, अहम्मन्यता और बड़प्पन की चाह—ये देश-सेवक के रास्ते में जहरीले कांटे हैं। इनसे उन्हें सर्वदा बचना चाहिए।

(४) देश-सेवक निर्भय और निश्चयशील होना चाहिए। सत्यवादी और स्पष्टवक्ता सदा निर्भय रहता है। ये गुण उसे अनेक आपदाओं से अपने आप बचा लेते हैं।

(५) मित और मधुर-भाषी होना चाहिए। मित-भाषिता नम्रता, और विचार-शीलता का चिन्ह है और मधुरता दूसरे के दिल को न दुखाने की सहृदयता है। मधुरता की जड़ जिव्हा नहीं, हृदय होना

चाहिए। जिव्हा की मधुरता कपट का चिन्ह है; हृदय की मधुरता प्रेम, दया और सौजन्य का लक्षण है। भाषा की कटुता और तीखापन या तो अभिमान का सूचक होता है या अधीरता का। अभिमान स्वयं व्यक्ति को गिराता है; अधीरता उसके काम को धक्का पहुंचाती है।

(६) दुःख में सदा आगे और सुख में सबसे पीछे रहना चाहिए। यश अपने साथियों को दो और अपयश का जिम्मेवार अपने को समझने की प्रवृत्ति रहे।

(७) द्वेष और स्वार्थ से दूर रहना चाहिए। अपने योग्य साथियों को हमेशा आगे बढ़ने का अवसर देना, उन्हें उत्साहित करना और उनकी बताई अपनी भूल को नम्रता के साथ मान लेना द्वेष-हीनता की कसौटी होती है। अपने जिम्मे की संस्था या धन-सम्पत्ति को या पद को एक मिनट की नोटिस पर अपने से योग्य व्यक्तियों को सौंप देने की तैयारी रखना निःस्वार्थता की कसौटी है।

(८) सादगी से रहना, कम-से-कम खर्च में अपना काम चलाना और अपना निजी बोझ औरों पर न डालना चाहिए। सादगी की कसौटी यह है कि अन्न-वस्त्र आदि का सेवन शरीर की रक्षा के हेतु किया जाय, स्वाद और शोभा के लिए नहीं। सेवक के जीवन में कोई काम शोभा या शृंगार के लिए नहीं होता, केवल आवश्यकता के लिए होता है। खर्च-वर्च की कसौटी यह है कि आराम पाने या पैसा जमा करने की प्रवृत्ति न हो।

(९) जो सेवक धनी-मानी लोगों के संपर्क में आते रहते हैं या उनके स्नेह-पात्र हैं उन्हें इतनी बातों के लिए खास तौर पर सावधान रहना चाहिए—

(अ) बिना प्रयोजन उनके पास बैठना और बातचीत न करना चाहिए।

(आ) अपने खर्च का बोझ उनपर डालनें की इच्छा न पैदा होनी चाहिए—हुई तो उसे दबाना चाहिए ।

(इ) वे चाहें तो भी बिना काम उनके साथ पहले या दूसरे दरजे में सफर न करना चाहिए ।

(ई) उनके नौकर-चाकर, सवारी आदि पर अपने काम का बोझ न पड़ने देनें की सावधानी रखनी चाहिए ।

(उ) मान पाने की इच्छा न रखनी चाहिए—उसका अधिकारी अपनेको मान लेना तो भारी भूल होगी ।

(ऊ) उनके धनैश्वर्य में अपनी सादगी और सेवक के गौरव को न भुला देना चाहिए ।

(ए) थोड़े में यों कहें कि अपने सार्वजनिक कामों में सहायता प्राप्त करनें के अतिरिक्त अपना निजी बोझ उनपर किसी रूप में न पड़ जाय इसकी पूरी खबरदारी रखनी चाहिए । यदि उनके यहां किसी प्रकार की असुविधा या कष्ट हो तो उसका प्रबंध स्वयं कर लेना चाहिए—इसकी शिकायत उनसे न करनी चाहिए ।

(१०) अपने खर्च-वर्च का पाई-पाई का हिसाब रखना और देना चाहिए । अपने कार्य की डायरी रखना चाहिए ।

(११) घरू काम से अधिक चिन्ता सार्वजनिक काम की रखनी चाहिए । एक-एक मिनट और एक-एक पैसा खोते हुए दर्द होना चाहिए । खर्च-वर्च में अपने और साथियों के सुख-साधन की अपेक्षा कार्य की सुविधा और सिद्धि का ही विचार रखना चाहिए । सार्वजनिक सेवा सुख चाहनेवालों के नसीब में नहीं हुआ करती, इस गौरव के भागी तो वही लोग हो सकते हैं जो कष्टों और असुविधाओं को झेलने में आनन्द मानते हों और विघ्नों और कठिनाइयों का प्रसन्नता-पूर्वक स्वागत

और मुकाबला करते हों। सेवक का कार्य उसके कष्ट-सहन और तप के बल पर फूलता-फलता है। सेवक ने जहां सुख की इच्छा की नहीं कि उसका पतन हुआ नहीं। सेवक दूध, फल और मिष्टान्न खाकर नहीं जीता—कार्य की धुन, सेवा का नशा उसकी जीवनी-शक्ति है।

(१२) व्यवहार-कुशल बननें की अपेक्षा सेवक साधु बनने की अधिक चेष्टा करे। साधु बननेवाले को व्यवहार-कुशल बनने के लिए अलहदा प्रयत्न नहीं करना पड़ता। व्यवहार-कुशलता अपनेंको साधुता के चरणों पर चढ़ा देती है। व्यवहार-कुशलता जिस भय से डरती रहती है वह साधुता के पास आकर उसका सहायक बन जाती है। मनुष्य का दूसरा नाम है साधु। सेवक और साधु एक ही चीज के दो रूप हैं। अतएव यदि एक ही शब्द में देश-सेवक के गुण, योग्यता और नियम बताना चाहें तो कह सकते हैं कि साधु बनो। साधुता का उदय अपने अन्दर करो, साधु की सी दिनचर्या रक्खो। अन्न पर नहीं, भावों पर जिओ। स्वीकृत कार्य के लिए तपो। विघ्नों, विपत्तियों, कठिनाइयों, मोहों और स्वार्थों से लड़ने में जो तप होता है वह पंचाग्नि से बढ़कर और उच्च है। अतएव प्रत्येक देश-सेवक से मैं कहना चाहता हूँ कि यदि तुम्हें सचमुच सेवा से प्रेम है, सेवा की चाह है, अपनी सेवा का सुफल संसार के लिए देखना चाहते हो और जल्दी चाहते हो, तो साधु बनो, तप करो। दुनिया में कोई काम ऐसा नहीं जो साधु के लिए असम्भव हो, जो तप से सिद्ध न हो सके। अपने जीवन को उच्च और पवित्र बनाना साधुता है और अंगीकृत कार्यों के लिए विपत्तियां सहना तप है। इन दो बातों का संयोग होने पर दुनिया में कौनसी बात असंभव हो सकती है?

---

[३]

जीवित रहने का भी अधिकार नहीं ?

सार्वजनिक संस्था, संगठन और जीवन में यह एक प्रश्न है कि दूसरे के मतों और विचारों को किस हद तक सहन किया जाय ? आप एक बात को सही मानते हैं; मैं दूसरी बात को। आप कहते हैं, ठहरनें और काम करने का समय है; मैं कहता हूं, लड़नें और आन्दोलन करनें का है। एक कहता है, फलां आदमी को सभापति बनाओ; दूसरा कहता है, नहीं फलां को बनाना चाहिए। एक के मत में यह प्रणाली अच्छी है; दूसरे के विचार से दूसरी। एक एक व्यक्ति को नेता मानता है; दूसरा दूसरे को। कोई एक संस्था पर कब्जा करना करना चाहता है; कोई वहां से हटना नहीं चाहता। धार्मिक झगड़ों को छोड़ दें तो सार्वजनिक जीवन में ऐसी ही बातों पर विवाद, वैमनस्य और झगड़े हुआ करते हैं। यदि हम हर छोटी-बड़ी बात पर लड़ते और एक-दूसरे पर हमला करते रहें तो सार्वजनिक जीवन एक घृणित वस्तु हो जाय। हमें एक ऐसी मर्यादा बांधनी ही होगी, जहां तक हम एक-दूसरे को बरदाश्त करें और उसके बाद विरोध या प्रतीकार। फिर हमें यह भी निश्चय करना होगा कि विरोध या प्रतीकार कैसा होना चाहिए ? मेरी समझ में हमें सबसे पहले यह देखना चाहिए कि मत-भेद का आधार कोई सिद्धान्त, आदर्श या उच्च लक्ष्य हैं, अथवा स्वभाव, व्यवहार, द्वेष, मत्सर आदि है ? इसी प्रकार मतभेद रखनेवाले व्यक्ति का भाव शुद्ध है, नीयत साफ है, या धोखा और फरेब से काम लिया जाता हैं ? यदि मतभेद के मूल में सिद्धान्त, आदर्श या लक्ष्य है और

भावना शुद्ध है, तो वहां वैमनस्य नहीं पैदा हो सकता। जहां शुद्ध और उच्च भावना है वहां छोटी-छोटी व्यवहार की, तफसील की, या स्वभावगत गुण-द्वेष की बातों पर झगड़ा और तू-तू, मैं-मैं नहीं हो सकती। जहां दिल में एक बात हो और बाहर दूसरी कही जाती हो, वसां विश्वास जमना कठिन होता है और झगड़ा हुए बिना नहीं रहता। अब इसकी क्या पहचान कि मतभेद सिद्धान्त-मूलक है या व्यक्तिगत कारणों से, अथवा भावना शुद्ध है या अशुद्ध? यदि सिद्धान्तगत है तो व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हानि-लाभ, उतार,चढ़ाव, मान-अपसान को सिद्धान्त के मुकाबले में तरजीह न देगा। सिद्धान्त की रक्षा के लिए उसे महल में रहने की आवश्यकता होगी तो वहां रहेगा, और यदि जंगल में एकाकी मारे-मारे फिरनें अथवा फांसी और सूली पर चढ़ने की जरूरत होगी तो उसके लिए भी खुशी से तैयार रहेगा। वह कठिनाइयों में सदा आगे और सुख-भोग में पीछे रहेगा। वह ऐसे समय पर अवश्य अपनेको जोखिम में डाल देगा, जब संकट और साहस का अवसर होगा, जब बुराई और बदनामी का ठीकरा सिर पर फूटनेवाला होगा। पर यदि मतभेद का कारण व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा है, तो वह सिद्धान्त को कुचल कर अपने व्यक्तित्व को आगे बढ़ाने के लिए चिन्तित रहेगा। पद न मिलने से अप्रसन्न होगा, मान न मिलने से सहयोग छोड़ देगा, सहायता न मिलने से बुराई करने लगेगा, गुणों को भूलकर दुर्गुणों की चर्चा करने लगेगा, सिद्धान्त-पालन का मजाक उड़ावेगा। सिद्धान्त-वादी सिद्धान्त को छोड़कर लोकप्रियता या लोकनिन्दा की परवा न करेगा। वह टीका-टिप्पणी और निन्दा से चिढेगा नहीं, बल्कि नम्र बनकर प्रत्येक बात से शिक्षा ग्रहण करने की चेष्टा करेगा।

इसी तरह सच्चाई छिपी नहीं रहती। आप बोलें या न बोलें,

सच्चाई सदा बोलती रहती है। सच्चाई है क्या चीज ? अन्तःकरण और आचरण का सामञ्जस्य, एकता। सच्चाई ही एक ऐसी चीज है, जो मतभेद रहते हुए भी परस्पर आदर बढ़ाती है। सच्चाई अपने अवगुण को अधिक और पहले देखती है, दूसरे के को कम और बाद में। जहां सच्चाई है, वहां नम्रता अवश्य मिलेगी। उद्दण्डता और अभिमान, यदि सच्चाई हो भी तो, उसे मुरझा देते हैं। उद्दण्डता और अभिमान दूसरों पर शासन करना चाहते हैं, अपने अपात्र होने पर भी दूसरों को दबाना चाहते हैं; परन्तु सच्चाई सदा विनत रहकर, अपनेको मिटा कर, दूसरों को बढ़ाना चाहती है।

यह तो हुई सिद्धान्त या आदर्शगत मत-भेद तथा सच्चाई की पहचान। अब प्रश्न यह रह जाता है कि मत-भेद किस हद तक सहन किये जायँ ?सो प्रथम तो यह मनुष्य की सहनशीलता पर अवलम्बित है। मतभेद छोटी-बड़ी बातों पर हो तो वह सर्वथा सहन करने योग्य है। यदि सिद्धान्त और आदर्श-सम्बन्धी है, उसके बदौलत यदि सिद्धान्त और आदर्श की जड़ कटती है, तो वह सहन करने योग्य नहीं बल्कि असहयोग करने योग्य है। असहयोग के मूल में भी व्यक्ति के प्रति तो प्रेम और सहानुभूति ही होनी चाहिए; द्वेष और डाह के लिए उसमें जगह नहीं हो सकती। असहयोग के आगे की सीढी है कष्ट-सहन। यही तपस्या है। अपने सिद्धान्त और आदर्श के लिए जो व्यक्ति तपता है, निन्दा, कटूक्ति भर्त्सना, अपमान और शारीरिक यन्त्रणायें प्रसन्न रहकर सहता है, वही महान् पुरुष बनता है; वह सार्वजनिक जीवन को ऊँचा उठाता है, पवित्र बनाता है और आगे बढ़ाता है।

पर एक यह भी मत प्रचलित है कि यदि तुम्हारा मत न मिलता हो तो उसकी निन्दा करो, उसके खिलाफ जहर उगलो, उसे लोक-दृष्टि

में गिराओ और अन्त में उसका काम तमाम कर दो। मेरी समझ में यह भले आदमियों का पथ नहीं है। मतभेद के कारण गिराना और मारना आसुरी प्रवृत्ति है और सभ्य समाज में उसको कदापि प्रोत्साहन नहीं मिल सकता। मनुष्य को स्वेच्छा से जीवित रहनें का, स्वतंत्र रहने का और सुधारने का जन्मजात अधिकार है। बुराई होने पर आप उसकी स्वतंत्रता को मर्यादित कर सकते हैं; परन्तु जीवित रहने का अधिकार नहीं छीन सकते। आपकी तारीफ तो तब है, जब आप मुझे अपने मत का कायल कर दें, अपने मत में मिलालें। मुझे मार डालने में आपकी कौनसी बहादुरी है ? एक बैल भी सींग मारकर मनुष्य को मार डाल सकता है। इसलिए सच्ची वीरता किसीको अपनें मत का कायल कर देने में है, न कि उसको गिराने या मार डालने में है। कुचलना या मार डालना नहीं, बल्कि मत-परिवर्तन ही सच्ची सिद्धान्तवादिता और वीरता की कसौटी है। यह मनुष्य का कितना बड़ा अन्याय और अत्याचार है कि वह अपने मत को इतना श्रेष्ठ अटल, निर्भ्रम और सत्य समझे कि उसके लिए दूसरे को जिन्दा रहने का भी हक न रहने दे ? यह मनुष्यता का व्यभिचार है। यह मनुष्यता को लज्जित और कलंकित करना है। यह मनुष्य का घोर स्वार्थ और मदान्धता है। इससे समाज में कभी न्याय और स्वतंत्रता का विकास नहीं हो सकता। यह एकतंत्रता, अत्याचार और स्वेच्छाचार का परवाना है। इसका यह अर्थ है कि तुम्हारे हाथ में यदि गिराने और मारने की शक्ति है तो बस। तुम अपने गुणों और खूबियों पर नहीं जीना चाहते, अपनी पशुता के बल पर जीना चाहते हो। अपनी मनुष्यता को नहीं, पशुता को बढ़ाकर जग में पशुता की वृद्धि करना चाहते हो ! क्या तुम यह मनुष्यजाति की सेवा कर रहे हो ? क्या इसपर कुछ सोचने की जरूरत नहीं है ?

[४]

देश-सेवक और तनख्वाह

देश-कार्य को सुव्यवस्थित और सुसंगठित रूप से संचालित करने के लिए हजारों की तादाद में देश-सेवकों की आवश्यकता रहती है। जबतक इनके गुजर का नियमित प्रबंध न हो तबतक इतनी बड़ी कार्यक्षम सेना मिलना असंभव है। फिर भी कई लोग उन देश-सेवकों या सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं को, जो वेतन लेते हैं, बुरा समझते हैं, उनकी निन्दा करते हैं, समय-असमय उनपर टीका-टिप्पणी करते हैं। इसलिए हम यह भी देखलें कि यह आक्षेप कहांतक ठीक है।

तनख्वाह के मानी हैं नियमित और निश्चित रुपया अपने खर्च के लिए लेना। देशभक्त या सार्वजनिक कार्यकर्ता सिर्फ उतना ही रुपया नियमित रूप से लेता है जितना महज जीवन-निर्वाह के लिए काफी हो। ऐश-आराम और मौज-शौक के लिए एक पाई भी लेने का उसे हक नहीं है। कोई नियमित-रूप से ले या अनियमित-रूप से, निश्चित रकम ले या अनिश्चित, किसी संस्था से ले या व्यक्ति से, किसी देशसेवक या लोक-सेवक को मैंने फाके कर-करके काम करते हुए नहीं देखा है। यदि उसके साथ उसका कुटुम्ब भी है तो उसे कहीं-न-कहीं से, किसी-न-किसी तरह, गुजर-बसर के लिए रुपया लेना ही पड़ता है। तो जब कि तन-ख्वाहदार या बेतनख्वाहदार सभी लोगों को खर्च-वर्च या गुजर-बसर के लिए रुपयों की जरूरत होती है तब जो निश्चत और नियमित रूप से एक रकम लेकर उसीपर अपना गुजर चलाते हैं वे बुरे क्यों, और वेतन लेकर सारा समय देश और जन-सेवा में लगाने की प्रणाली बुरी क्यों?

जो लोग वेतन न लेकर देश या जन-सेवा करते हैं वे या तो अपने बाप-दादों की कमाई में से खर्च करते हैं, या धनी मित्रों की सहायता पर गुजर करते हैं, या बीमा, अखबार, वकालत, डाक्टरी अथवा ऐसा ही कोई निजी धन्धा खोलते हैं और उसमें से अलौंस लेते हैं, परन्तु जीवन-निर्वाह के लिए रुपया सब लेते हैं। यदि कोई निश्चित और नियमित रकम नहीं लेता हो तो मेरी राय में यह गुण की नहीं बल्कि दोष की बात है। इसके अलावा व्यक्तियों की अनियमित और अनिश्चित रूप से सहायता लेने की अपेक्षा तो किसी सुयोग्य और मान्य संस्था से नियमित रकम महज अपनी मामूली जरूरियात भर के लिए लेना क्यों श्रेयस्कर और वाञ्छनीय नहीं है? यों तो मैं ऐसे भी देशसेवकों या सार्वजनिक कार्यकर्ता कहलानेवालों को जानता हूँ, जो एक ओर वेतन शब्द का तिरस्कार करते हैं पर जो दूसरी ओर या तो चन्दा लेकर खा जाते हैं, या डरा-धमकाकर लोगों से रुपया लाते हैं, या कर्ज लेकर फिर मुंह नहीं बताते, या पैसा न मिलने पर अखबारों में गाली-गलौज देते और गिराने की कोशिश करते हैं। पर यहां इनका विचार नहीं करना है, क्योंकि ये तो वास्तव में समाज के चोर हैं और लोकहित के नाम पर चोरी और ठगी करते फिरते हैं। अस्तु।

तो अब यह समझ में नहीं आता कि जब कि हर देशभक्त और समाज-सेवक को अपने गुजर के लिए रुपयों की या धन की कुछ-न-कुछ आवश्यकता होती ही है तो फिर नियत रकम में अपनी गुजर करने की प्रणाली क्यों बुरी है? आप कहेंगे, निजी धन्धेवाला अधिक स्वतन्त्र है। पर किस बात के लिए? अधिक खर्च कर देने के लिए और किसी भी एक काम में न लगा रहने के लिए ही न? पर इस स्वतन्त्रता में या अनियम में रहकर काम करनेवाले की अपेक्षा एक नियम के अधीन रह

कर नियत और निश्चित रुपया लेने और काम करनेवाला आदमी क्या अधिक कठिनाइयों में काम नहीं करता है ? उसे अधिक संयम और शक्ति से काम नहीं लेना पड़ता है ? और क्या इसी कारण वह निन्दा का पात्र है ? फिर अपने निजी धन्धों में अधिकांश समय देनेवालों की मुख्य शक्ति तो अपने धन्धे में ही चली जाती है—राष्ट्र या समाज के कामों के लिए नाममात्र का अवकाश उन्हें मिलता है । इससे उन्हें 'देश-सेवक' बनने का श्रेय भी भले ही मिल जाय; देश को उनसे पूरा लाभ नहीं मिलता । इसके विपरीत तनख्वाहदार लोक-सेवक को 'वेतन-भोगी' कहकर आप चाहे 'देशभक्ति' से खारिज कर दीजिए; पर उसके सारे समय और शक्ति पर देश और समाज का अधिकार होता है और उसका पूरा एवं सारा लाभ देश या समाज को मिलता है । इसके सिवा जहां देशसेवकों के निर्वाह का कोई प्रबन्ध नहीं होता है वहां का सार्व-जनिक जीवन अक्सर गन्दा पाया जाता है । अतएव मेरी मन्दमति में तो वेतन की प्रथा निन्दनीय नहीं, प्रोत्साहन देनें योग्य है । गुजरात में जो इतना सुदृढ़ संगठन हुआ है, वह वेतनभोगी देशसेवकों का ही ऋणी है । आज देश में जितनी राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थायें चल रही हैं, श्री गोखले की भारत-सेवक-समिति, लालाजी की पीपल्स सोसायटी, श्रद्धानन्दजी का गुरुकुल, कर्वे का महिला-विद्यापीठ, देवराजजी का जालन्धर-कन्या-महा-विद्यालय, टैगोर की विश्वभारती, मालवीयजी का हिन्दू-विश्वविद्यालय, गांधीजी का चरखा-संघ, हरिजन सेवक-संघ, जमनालालजी बजाज का गांधी सेवा-संघ, ये सब अपने खर्च के लिए निश्चित और नियमित रकम अर्थात् वेतन पानेवालों के ही बल पर चल रहे हैं और अपने-अपने क्षेत्र में भरसक सेवा कर रहे हैं । देश में ठोस और रचनात्मक कार्य कभी हो ही नहीं सकता, यदि आपके पास हजारों की तादाद में नियत और निश्चित रकम

लेकर सेवा करनेवाले लोग न हों। कांग्रेस का काम आज से कहीं अधिक सुव्यवस्थित और सुसंगठित रूप से चलने लगे, वह कहीं अधिक बलशालिनी, इस सरकार से भी बहुत अधिक शक्तिशाली संस्था हो जाय, यदि उसमें 'राष्ट्र-सेवक-मंडल' की योजना पर अमल होने लगे।

इन बातों और स्थितियों की उपेक्षा करके यदि हम राष्ट्रीय क्षेत्र में वेतन-प्रथा का पैर न जमने देने का उद्योग करेंगे, तो हम या तो देश-सेवा और जन-हित के नामपर चोरी और ठगी को प्रोत्साहन देने का या देश-सेवा के उत्सुक नवयुवकों को निजी काम-धन्धों के द्वारा स्वार्थ-साधना में या सरकारी नौकरियों की गुलामी में लगाने का ही पुण्य प्राप्त करेंगे।

आन्दोलन और नेता

[७]

[१]

राजसंस्था

राजनीति समाजनीति का एक अंग है। मनुष्यों ने मिलकर समाज बनाया समाज ने राज्य बनाया । मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार-नियम को नीति कहते हैं । नीति शब्द का अर्थ है वे नियम जो आगे ले जाते हैं । जो नियम या व्यवस्था समाज को आगे ले जाती है वह समाज-नीति, जो राज्य को आगे ले जाती है वह राजनीति कहलाती है । समाज कहते हैं एक व्यवस्थित मानव-समूह को। यह मानव-समूह जब अपने शासन-कार्य के लिए सरकार नाम की एक अलहदा संस्था बना लेता है तब शासन-संस्था और मानव-समूह मिलकर राज्य (State) कहलाता है। अर्थात् राज्य के दो भाग हैं—एक तो शासन-संस्था और दूसरा शासित मानव-समाज। राज्य का अर्थ केवल सरकार यानी शासन-मंडली नहीं है। राज्य की उत्पत्ति समाज से हुई है । समाज नें अपनी सत्ता के एक अंश

से शासन-संस्था यानी सरकार खड़ी की है। जब मनुष्य-समाज व्यवस्थित होने लगा तो सहज ही इन बातों की सुव्यवस्था की ओर उसका ध्यान गया—दूसरे समाज के आक्रमणों से अपनेको कैसे बचावें? आपस के लड़ाई-झगड़ों का निपटारा कैसे करें? समाज का भरण-पोषण और उन्नति कैसे हो? शासन-संस्था इन्हीं कठिनाइयों का हल है। आरम्भ में समाज के लोग मिलकर इन कामों के लिए कुछ लोगों को चुन लिया करते थे—एक मुखिया या सरपंच बना लेते थे और समाज का काम चला लेते थे। दूसरों पर काम सौंप देने से स्वभावतः खुद निश्चित रहने लगे। इसका फल यह हुआ कि मुखिया राजा बन बैठा और समाज की सम्पत्ति से राज-काज करने के बदले समाज को अपने डण्डे से हांकने लगा। जब समाज जाग्रत हुआ तो उसने राजा को उखाड़ने की चेष्टा की और आज हम जगह-जगह प्रजा-सत्ता की स्थापना देख रहे हैं।

स्वतंत्रता का व्यवहारिक अर्थ है राजनैतिक स्वतंत्रता अर्थात् शासन-विषयक स्वतंत्रता। इसकी प्राप्ति या उपयोग के साफ अर्थ दो हैं—एक तो सीधे राज-काज में हाथ बँटाना, और दूसरे राजनैतिक जागृति या आन्दोलन करना। या यों कहें कि एक तो शासन-संस्था में सम्मिलित होकर काम करना, दूसरे उससे स्वतंत्र रहकर लोक जागृति करना और आवश्यकता पड़ने पर शासक-मंडली का विरोध करना। यह बात सच है कि राज-संस्था समाज का ही एक अंग है और समाज-हित ही उसका एक-मात्र लक्ष्य है; किन्तु कई बार शासन-संस्था स्वयं अपने अस्तित्व की चिन्ता में इतनी डूब जाती है कि उसे समाज-हित का खयाल नहीं रहता; तब समाज के प्रतिनिधियों का कर्तव्य होता है कि वे समाज के हित की ओर उसका ध्यान दिलावें और यदि शासन-मंडली इतने से न माने तो लोगों को सजग करे और उनके बल से उसमें आवश्यक सुधार या परि-

वर्तन करावें। इस प्रकार राजसंस्था के दो अंग अपने आप हो जाते हैं—एक तो शासक-वर्ग, दूसरे प्रतिनिधि-वर्ग। इनमें से ही प्रायः आन्दोलनकारी लोग उत्पन्न होते हैं। प्रतिनिधियों का काम है समाज-हितकारी नियम बनाना और शासक-वर्ग का काम है उनका व्यवहार करना। वास्तव में तो इन प्रतिनिधियों में से ही शासक भी उत्पन्न होते हैं। जो प्रतिनिधि शासन की जिम्मेवारी लेते हैं वे शासक और जिन पर शासन-सुधार की जिम्मेवारी आ जाती है वे आन्दोलनकारी हो जाते हैं। कभी-कभी ये एक-दूसरे के घोर विरोधी भी बन जाते हैं; परन्तु दोनों का उद्देश एक ही होना चाहिए, समाज-हित। इसके बदले जब व्यक्तिगत स्वार्थ इनके मूल में प्रविष्ट कर जाता है तब दोनों अपने उच्च उद्देश से गिर जाते हैं और समाज के दण्ड-पात्र होते हैं।

तो स्वतंवता-प्रेमी के सामने सबसे पहले दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—सरकारी अधिकारी बनें या लोक-सेवक बने? जहां सरकार सुव्यवस्थित है—लोकहित के लिए लोक-प्रतिनिधियों द्वारा संचालित होती है वहां तो सरकारी अधिकारी बनना उतने ही गौरव की बात है जितनी कि लोक-सेवक बनना; परन्तु जहां राज-संस्था ऐसे लोगों ने हथियाली हो जो अपनी स्वार्थ-साधना के लिए उसका उपयोग कर रहे हों, न लोक-हित की परवा है, न लोक-मत की पूंछ; वहां सरकारी अधिकारी बनना लोक-द्रोह करना है। वहां तो लोक-सेवक बनना ही प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है। सरकारी नौकरियों के लिए—भिन्न-भिन्न उच्च पदों के लिए परीक्षायें नियत होती हैं। पहले उन्हें पास करके अपनी रुचि और योग्यता के अनुकूल काम ग्रहण करना चाहिए और उसे ईमानदारी के साथ समाज-हित का पूरा ध्यान रखते हुए, अपनेको समाज का एक तुच्छ सेवक समझते हुए करना चाहिए। एक ओर से कठिन आपदाओं का

भय और दूसरी ओर से अनेक प्रलोभनों की मोहिनी के रहते हुए भी अपने कर्तव्य-पालन से न चूकना चाहिए। इन दोनों विपत्तियों से सदा सावधान रहना चाहिए। द्रव्य, स्त्री और नशा ये तीन चीजें ऐसी हैं जिन्हें स्वार्थी लोग दूसरे को कर्तव्य-भ्रष्ट करने के लिए इस्तेमाल करते हैं। जो इनसे बचता रहेगा, वही सफल और विजयी होगा। शिक्षा और न्याय विभागों के द्वारा समाज की शारीरिक—सुख—सुविधाओं की पूर्ति होती है किन्तु इन दो विभागों के द्वारा उनकी मानसिक, बौद्धिक और नैतिक प्रगति की जाती है। फिर भी चुनाव तो व्यक्ति को अपनी रुचि और योग्यता को देखकर ही करना चाहिए। भारतवर्ष में अभी ऐसी स्थिति नहीं उत्पन्न हुई है कि किसीको सरकारी पद ग्रहण करने की सिफारिश की जा सके।

लोक-सेवक के बारे में अगले प्रकरण में विस्तार से विचार करना ठीक होगा।

[२]

नेता और उसके गुण

लोक-सेवक के तीन विभाग किये जा सकते हैं—(१) नेता, (२) संयोजक और (३) कार्यकर्त्ता या स्वयंसेवक। नेता का काम है—लोगों का ध्यान लक्ष्य की ओर बनाये रखना, लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए आवश्यक बल और उत्साह की प्रेरणा करना, स्वयं उनके आगे रहकर लक्ष्य-सिद्धि के लिए उद्योग करना, लडना और उन्हें सफलता की ओर ले जाना। संयोजक का काम है नेता के बताये कार्यक्रम के अनुसार ग्राम, जिला या प्रान्त में संगठन करना, प्रचार करना और लोगों को एक सूत्र

में बांधना एवं लक्ष्य सिद्धि के लिए सामूहिक बल एकत्र करना। स्वयं-सेवक का काम है संयोजक की हर प्रकार से सहायता करना। नेता ही इनमें मुख्य होता है, इसलिए उसकी योग्यता का हम अच्छी तरह विचार करलें। नेता में इतने नैतिक, बौधिक, शारीरिक और व्यावहारिक गुण आवश्यक हैं।

नैतिक गुण—सत्यशीलता, न्यायपरायणता, प्रेममयता, साहस, निर्भयता, उत्साह, सहनशीलता, उदारता, गंभीरता, स्थिर और शान्त चित्तता, आशावादिता, निःशंकता, निर्व्यसनता।

बौद्धिक गुण—दूरदर्शिता, प्रसंगावधान, समयसूचकता, शीघ्र निर्णयता, विवेकशीलता, आज्ञादायित्व।

शारीरिक गुण—नियमनिष्ठा, कष्टसहिष्णुता, आरोग्यता, फुर-तीलपन,

व्यवहारिक गुण—मिलनसारी, साधन-प्रचुरता, भाईचारापन, कुशलता, सभाचातुरी, हरदिल-अजीजी,

नेता अपने युग की आत्मा समझा जाता है—इसलिए न केवल अपने समाज की तमाम अच्छाइयों का प्रतिबिम्ब उसमें होना चाहिए, बल्कि उसके कष्ट और पीड़ा का भी वह दर्पण होना चाहिए एवं उसके अभावों की आशा-ज्योति उसमें जगमगनी चाहिए। वह प्रायः हर गुण में अपने अनुयायियों से आगे रहता है। **सत्य शीलता** उसका सबसे बड़ा गुण है। वह सत्य को शोधेगा, सत्य को ग्रहण करेगा, सत्य पर दृढ़ रहेगा, सत्य का विस्तार करेगा, सत्य के लिए जीयेगा, सत्य के लिए मरेगा। व्यवहार में हम जिसे न्याय कहते हैं, वह सत्य का एक नाम है। दो आदमी लड़ते हुए आये, उसमें किसकी बात सच है, कौन सच्चा है और कौन झूठ बोलता है इसी निर्णय का नाम है न्याय। न्याय का नाम

है सत्य-निर्णय। जो न्यायी है उसे सत्य का अनुयायी होना ही पड़ेगा। वह नेता कैसे जन-समाज के आदर को प्राप्त कर सकता है यदि वह न्यायी और सत्य-परायण नहीं है। सत्यशीलता के द्वारा वह अपने दावे को मजबूत कर लेता है और शत्रु तथा प्रतिपक्षी तक को उसे मन में मानना ही पड़ता है। इस कारण लोकमत दिन-दिन उसके अनुकूल होता ही चला जाता है। अपने राष्ट्र और समाज की दृष्टि से सत्य किस बात में है, हित किस बात में है इसका निर्णय उतना कठिन नहीं है जितना इस बात का निर्णय कि प्रतिपक्षी, या शत्रु, या कोई तटस्थ व्यक्ति जिससे हमारा मुकाबला है, या साबका पड़ा है वह किस हद तक सत्य और न्याय से प्रेरित हो रहा है; उसके व्यवहार में कौनसी बात शुद्ध भाव से की जा रही है और कौनसी अशुद्ध भाव से। क्योंकि यदि किसी नेता ने इसकी परवा न की और उनके प्रत्येक व्यवहार को असत्य और दुर्भाव-पूर्ण ही वह मानता चला जायगा तो वह असत्य और अन्याय के पथ पर चल पड़ेगा, जिसका फल यह होगा कि एक तो उसके पक्ष में ही सत्य और न्याय पर चलनेवाले लोग उससे उदासीन हो जायँगे और दूसरे विपक्षी दल के भी उससे सहानुभूति रखनेवाले लोग विरक्त हो जायँगे। स्वयं शत्रु भी जो मन में उसकी सच्चाई को मान रहा होगा और इसलिए उसे आदर की दृष्टि से देख रहा होगा, उसके दिल से दूर हट जायगा। जो तटस्थ होंगे उनकी सहानुभूति शत्रु की ओर होने लगेगी। इस प्रकार क्रम-क्रम से उसका बल निर्बल होता जायगा और फिर केवल पशुबल ही भले उसका साथ दे सके। सो नेता को सबसे अधिक सावधानी इस बात की रखनी चाहिए कि विपक्षी के प्रति अन्याय न हो। परन्तु यदि इतनी उदारता से काम लिया जाय तो संभव है, शत्रु हमारी सज्जनता से लाभ उठाकर हमको चमका देता रहे—हम

तो रहें अपनी सज्जनता में और वह दिन-दिन प्रवल होता रहे। सो सज्जनता का अर्थ, अन्धता नहीं है। सत्य और न्याय अन्धा नहीं होता। हां, उसके पास पक्षपात नहीं होता। यही उसकी विशेषता और सबसे वड़ा गुण है। इसीके कारण सबके हृदय पर इनका राज्य है। और इस आशंका से बचने के लिए सरल उपाय यह है कि आप प्रत्येक मनुष्य के व्यवहार को अच्छी और बुरी दोनों दृष्टियों से देखने की आदत डाल लें। भले ही पहले आप उसके व्यवहार को बुरे भाव में ग्रहण कर लें। यह सोचिए कि इस बुरे उद्देश का मुझ पर बुरे से बुरा क्या परिणाम हो सकता है? आवश्यकता पड़ने पर यहां तक कल्पना कर लीजिए कि इससे आप और आपका सारा काम चौपट हो जायगा। अब इस दुष्परिणाम के लिए अपने मन को, अपने साथियों को तैयार कर रखिए। यह भी सोच लीजिए कि यदि हार ही हो गई, यदि असफलता ही मिली, यदि अन्त तक दुःख और क्लेश में ही जीवन बीता, तो परवा नहीं—दुनिया में हमेशा ही सबको सफलता और विजय नहीं मिला करती। इससे दो लाभ होंगे—एक तो आप सतर्क हो जायेंग और दूसरे विफलता मिलने पर हताश न होंगे। अब यह सोचिए कि इससे बचने का क्या उपाय है? कितनी तैयारी की जरूरत है? कहां-कहां मजबूती रखना जरूरी है? कहां कैसी पेशबन्दी करनी चाहिए? जैसी जरूरत दीखे वैसा प्रबन्ध कर लीजिए।

इसके बाद यह विचार कीजिए कि ऐसे दुर्भाव की कल्पना करके हम उसके साथ अन्याय तो नहीं कर रहे हैं? तब यह कल्पना कीजिए कि उसने यह शुभ भाव से किया होगा। अब अन्दाज लगाइए कि क्या शुभ भाव हो सकता है? शत्रु, उदासीन, मित्र, की स्थिति का विचार करके आप भिन्न-भिन्न निर्णयों पर पहुँचेंगे। यदि व्यवहार शत्रु का है तो

शुभ भाव की आशा कम रखिए; यदि तटस्थ पुरुष का है तो उससे अधिक और मित्र का हो तो उससे भी अधिक रखनी चाहिए। हर दशा में, बुरे परिणाम की पूरी तैयारी करके, शुभ भाव की ओर झुकता हुआ निर्णय करना अच्छा है। यह व्यवहार परोक्ष में हुआ है तो बिल्कुल शुद्ध निर्णय कठिन है, इसलिए संशय का लाभ दूसरे को देना सज्जनता और वीरता दोनों हैं। हां, विपरीत परिणाम की अवस्था में अपनी तैयारी पूरी रखनी चाहिए—इसमें गफलत न रहे। ऐसा करने से आपकी सत्य-शीलता और न्याय-परायणता को किसी प्रकार आघात न पहुँचेगा—इना ही नहीं; बल्कि उनकी वृद्धि होगी और वृद्धि के साथ ही साथ नेता को उनका वर्धमान लाभ भी मिलेगा।

नेता का हृदय **प्रेम-परिपूर्ण** होने की आवश्यकता इसलिए है कि वह मनुष्य है। मनुष्य प्रेम का पुतला है। वह नेता है इसलिए उसमें प्रेम भी उतना ही अधिक होना चाहिए। प्रेम के जादू से ही अनुयायी उसकी ओर खिंचते हैं—बरबस खिंचते चले आते हैं। सत्य अन्तःकरण का बल है तो प्रेम हृदय का बल है। सत्य और न्याय हमें कायल कर देता है कि हम इसका साथ दें। परन्तु प्रेम हमें दौड़ाकर उसके पास ले जाता है और खुशी-खुशी बलिवेदी पर स्वाहा करवा देता है। प्रेम के ही कारण नेता समाज के दुःख को अनुभव करता है और उसे मिटाने के लिए व्याकुल रहता है। नेता का प्रेम व्यक्ति, कुटुम्ब में सीमित नहीं होता। राष्ट्र और समस्त विश्व में व्याप्त होता है। इस कारण उसके प्रेम का प्रभाव तटस्थ और शत्रु पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता। वास्तव में उसकी शत्रुता किसी से नहीं होती। वह तो बहुतों के दुःखों को दूर करने के लिए, बहुतों को सुधारनें के लिए, कुछ लोगों को कष्ट पहुँचने देता है—उसके बस में हो तो वह इतना भी कष्ट न पहुँचने दे। परन्तु एक तो

खुद ही वह अपूर्ण है और दूसरे सारी प्रकृति पर उसकी सत्ता नहीं चलती है। बिना इस प्रेम के नेता एक मशीन का पुतला है, जिससे किसीको जीवन, उत्साह और स्फूर्ति नहीं मिलती।

यदि नेता में **साहस और निर्भयता** न हो तो वह खतरे के मौके पर पीछे हट जायगा और बलवान् शत्रु हो तो दब जायगा। खतरे के मौके पर नेता को सदा आगे रहने का साहस होना चाहिए। जनता को भी उसे विकट परिस्थितियों में साहस दिखाने और प्राण तथा शरीर का जहां भय हो वहां बेखटके आगे कदम बढ़ाने के लिए प्रेरित करना चाहिए। उसे सदा यह ध्यान में रखकर चलना चाहिए कि मैं कोई काम किसीसे दबकर, किसी खतरे से डरकर तो नहीं कर रहा हूँ और यदि कहीं ऐसा प्रतीत हो तो फौरन् अपने को सँभालना चाहिए।

उत्साह नेता का जीवन है। उसका शरीर और मन ऐसा होना चाहिए जो थकावट को न जानता हो। उत्साह आत्मविश्वास से उत्पन्न होता है। आत्मविश्वास अपने कार्य की सत्यता से आता है। जब उत्साह-भंग होने का अवसर आवे तो उसे सोचना चाहिए कि मेरा कार्य गलत तो नहीं हैं। यदि मूलतः कार्य सही है तो फिर अनुत्साह या तो उसकी मानसिक दुर्बलता है या किसी शारीरिक रोग का परिणाम है। उसे चिन्ता रखकर इनका उपाय करना चाहिए। उत्साह उस गुण का नाम है जो मनुष्य को सदा सक्रिय और तेज-तर्रार बनाये रखता है। वह जिसकी ओर देखता है उसमें जीवन आने लगता है। वह सोते हुओं को जगा देता है, जागे हुओं को खड़ा कर देता है और खड़े हुओं को दौड़ा देता है। उत्साह के ही कारण नेता उम्र में बूढ़ा होने पर भी जवान मालूम होता है।

दुर्दमनीयता वह गुण है जो बाधाओं और कठिनाइयों को चीरकर अपना रास्ता निकाल लेता है। दुर्दमनीय यह नहीं कहता कि क्या करूँ,

परिस्थिति ही ऐसी थी। उचित और सत्य बात पर वह परमेश्वर से भी दबना न चाहेगा। परन्तु यदि वह गलत बात पर अड़ जायगा तो उसकी अदम्यता अधिक दिनों तक न चलेगी। आवेश, आवेग, क्रोध, उन्माद या मिथ्याभिमान ठंढा होने पर अपने आप उसका दिल बैठने लगेगा। उसका तेज कम पड़ने लगेगा।

प्रतिज्ञा-पालन के बिना वह अपने साथियों और अनुयायियों का विश्वास-पात्र न रहेगा और इस विश्वास-पात्रता के बिना उसका नेतापन एक दिन नहीं टिक सकता। प्रतिज्ञा करने के पहले वह सौ दफा विचार करले, पर कर चुकने पर उसे हर तरह निभावे। यदि कोई ऐसा ही विशेष कारण आ पड़ा हो तो वह इतना सबल होना चाहिए कि साथियों और अनुयायियों को भी जँच सके। यदि कोई व्यक्तिगत कष्ट या असुविधा उसके मूल में हो तो यह बहुत कमजोर कारण समझा जायगा।

निश्चलता, दृढ़ता और **धीरज** कठिनाइयों, संकटों के समय में महौषधि का काम देते हैं। तूफान के समय में लंगर जो सेवा जहाज और यत्रियों की करता है वही ये गुण विपत्ति और खतरे के समय करते हैं। चंचल मनुष्य यों भी विश्वास और आदर-पात्र नहीं हो सकता। एक काम को पकड़ लिया तो फिर उसे जबरदस्त कारण हुए बिना न छोड़ने का नाम है दृढ़ता। काम की शुरूआत करने के पहले खूब सोच लो; शुरू करने के बाद उसी अवस्था में उसे बदलो या छोड़ो जब यह विश्वास हो जाय कि अरे यह तो अच्छाई के भरोसे बुराई कर बैठे, पुण्य के खयाल से पाप कार्य में लिप्त हो गये। कठिनाइयों में न घबराने का नाम धीरज है। फल जल्दी न निकलता हो तो शान्ति रखने और ठहरने का नाम धीरज है। कठिनाइयां तो तबतक आती ही रहेंगी जबतक कुछ लोग तुम्हारे विरोधी होंगे फिर प्राकृतिक विघ्न भी

तो आते रहते हैं । दोनों दशाओं में घबराने की क्या जरूरत है ? यदि विघ्न मनुष्य-कृत हैं तो उनका मूल और उपाय कठिन नहीं है । यदि प्राकृतिक हैं और हमारे बस के बाहर हैं तो फिर घबराने से क्या होगा ? बस की बात हो तो उसका उपाय करो—घबराकर बैठ जाना तो पशु से भी नीचे गिर जाना है । फल तो किसी कार्य का समय पा कर ही निकलता है । जितनी ही हमारी लगन तेज होगी, जितने ही अधिक हमारे साथी और सहायक होंगे, जितने ही कम हमारे विरोधी होंगे, जितनी ही अधिक हमारी तपस्या होगी, जितने ही अधिक अनुकूल अन्य उपकरण होंगे, उतनी ही जल्दी सफलता मिलेगी । सो यदि फल वांछित समय तक न निकलता हो तो पूर्वोक्त बातों में से ही एक या अधिक बातों की कमी उसका कारण होगी । वह हमें शोधना चाहिए और यह विश्वास रखना चाहिए कि कार्य का फल अवश्य मिलता है ।

सहनशीलता, विपक्षियों को निःशस्त्र करनें में और अपने बडप्पन का प्रमाण जगत् को देने के लिए बहुत आवश्यक है । जब कोई हम पर वार करता है, या हमें कष्ट पहुँचाता है, तब हम यदि बदले में उस पर वार नहीं करते हैं, या उसे कष्ट नहीं पहुँचाते हैं, उस कष्ट या वार को शान्ति से पी जाते हैं तो उसे सहनशीलता कहते हैं । परन्तु यदि हमने डरकर या दबकर ऐसा किया तो वह सहनशीलता नहीं, दब्बूपन है । सहनशीलता तभी कही जायगी जब उसे कष्ट पहुँचानें या प्रहार करने का सामर्थ्य या साधन हमारे पास हो और फिर हम सहन कर जायँ । किसीके अपराध को सहन करने के बाद भूल जाना क्षमा कहलाती है और जब हम उसके साथ पूर्ववत् ही सज्जनता का व्यवहार करते हैं तब वह **उदारता** हो जाती है । सहनशीलता और उदारता की जितनी आवश्यकता अपने लोगों के लिए है उससे अधिक तटस्थों या विपक्षियों

के लिए है। क्योंकि अपनों की ओर तो इन गुणों का प्रवाह सहज ही होता है; परन्तु जब दूसरों की ओर हो तब उनकी विशेषता और मूल्य बढ़ जाता है। लोग जितना ही अधिक यह अनुभव करेंगे कि तुम अपने प्रति पक्षी से अधिक न्यायी, अधिक शान्तिमय अधिक नीतिमान्, अधिक सभ्य, अधिक सज्जन हो, उतना ही तुम्हारा पक्ष अधिक प्रबल होगा, उतनी ही तुम्हारी अधिक सहायता वे करेंगे और यह सहनशीलता और उदारता के ही बल पर हो सकता है।

गम्भीरता एवं **स्थिर** और **शान्त चित्तता** से नेता का ठोंसपन और मानसिक समतोलता सूचित होती है। गम्भीरता का मतलब कपटाचरण नहीं है; बल्कि किसीकी बात को पेट में रखने, उसके सब पहलुओं पर धीरज के साथ विचार करने की शक्ति है। यदि आपके साथियों और अनुयायियों को यह शंका रहती है कि आपके मन में बात समाती नहीं है, आप चटपट ही बिना आगा-पीछा सोचे और गहरा विचार किये ही कुछ कह डालते और कर डालते हैं तो आपके निर्णयों पर उनकी श्रद्धा नहीं बैठेगी और आपकी बातों को वे शंका की दृष्टि से देखते और दुविधा में पड़ते रहेंगे।

आशावादिता और **निःशंकता** अन्तःकरण की स्वच्छता का चिन्ह है। जिसका हृदय मलिन नहीं है, उसे अपने कार्य की सफलता पर अवश्य ही श्रद्धा रहेगी और दूसरों की ओर से उसे सहसा खटका न रहेगा। जिसका चित्त शुद्ध है, वह दूसरों की सत्प्रवृत्तियों को ही अधिक देखता है और इसलिए आशावान् तथा निःशंक रहता है। जिसे दूसरों की दुष्प्रवृत्तियां अधिक दिखाई देती हैं वह निराशावादी क्यों न होगा ? परन्तु दूसरे के ोषों को देखनेवाला नायक नहीं बन सकता। जो खुद ही आशा-निराशा से पद-पद पर चलित होता रहता है उससे दूसरे आशा का सन्देश कैसे पा सकते हैं ?

व्यसनों में फँसना इन्द्रियों के अधीन होना है । जो इन्द्रियों का गुलाम है, समझ लीजिए, उसे दूसरों से अपने साथियों या अनुयायियों से एवं विरोधियों से भी कहीं न कहीं अनुचित रूप से दब जाना पड़ेगा और विरोधी तो उसके इस रोब से जरूर बहुत फायदा उठा सकता है एवं उसे पछाड़ सकता है ।

ये तो हुए नेता के आवश्यक नैतिक गुण । बौद्धिक गुणों में **दूरदर्शिता** इसलिए आवश्यक है कि वह अपने साथियों और अनुयायियों को दूर के खतरों से बचाता और सावधान करता रहे । **प्रसंगावधान** इसलिए उपयोगी है कि कठिन समय पर, विषम परिस्थिति में, ठीक निर्णय कर सके । **शीघ्रनिर्णयता** के अभाव में 'समय निकल जाने पर' पछताना पड़ता है । जो निर्णय करने में मन्द तथा आलसी है उसका प्रभाव अपने तेज-तर्रार सैनिकों पर नहीं पड़ सकता और उसे खुद भी सदा आनन्द और उत्साह की प्रेरणायें नहीं हुआ करेंगी । बल्कि यों कहना चाहिए कि हृदय के सर्वदा सजीव और जाग्रत आनन्द तथा उत्साह से ही शीघ्र निर्णय-शक्ति मनुष्य में आती है । जो सदा प्रसन्न और जागरूक रहता है उसकी बुद्धि खांडे की धार की तरह दोनों तरफ के तर्कों और विचारों को काटती हुई खट् से निर्णय कर देती है । **विवेक शीलता** के मानी हैं सदा सार और असार का, लाभ और हानि का, कर्तव्य और अकर्तव्य का औचित्य और अनौचित्य विचार करते रहना, अपनी मर्यादाओं एवं देश, काल, पात्र का विचार रखना । जो इतना विवेक और विचारशील नहीं है, वह पद-पद पर संकटों, निराशाओं और असफलताओं से घिरा रहता है । शीघ्र निर्णय तो हो पर हो वह विवेक पूर्वक । विवेक की मात्रा जितनी अधिक होगी, निर्णय भी उतना ही शीघ्र और शुद्ध होगा । **आज्ञादायित्व** के बिना तो नेता का काम एक मिनिट नहीं चल सकता । उसे दूसरों से काम

कराना पड़ता है और सो भी बहुतांश में आज्ञा देकर ही । इसमें वही सफल हो सकता है जो आज्ञा-पालन के महत्व को जानता हो, जो स्वयं स्वेच्छया दूसरों की आज्ञा में रह चुका हो । यदि हमनें कोई आज्ञा दी और पालन करनेवाले के सिर पर वह एक बोझ बनकर बैठ गई तो उसमें न लाभ है न लुत्फ । नेता की आज्ञा, और अनुयायी की इच्छा, दोनों घुल-मिल जानी चाहिए । अनुयायी की भाषा में वह आज्ञा भले ही हो, नेता के स्वभाव में वह प्रेम का सन्देश हो जाना चाहिए । अनुयायी की स्थिति, शक्ति, योग्यता का सतत विचार करते रहने से ही ऐसी मानसिक स्निग्धता आ जा जाती है कि नेता का इंगित, तृषित अनुयायी के लिए पानी की बूंद हो जाती है । ऐसे स्नेह-मय सम्बन्ध के बिना आज्ञा-दायित्व 'फौजी कानून' का दूसरा नाम हो जाता है और केवल पेट-पालू ही, यन्त्र की तरह, उसका किसी तरह पालन कर देते हैं । नेतृत्व की सफलता के लिए यह स्थिति बिल्कुल हानिकर है ।

शारीरिक और व्यावहारिक गुणों के लाभ स्पष्ट हैं। ये बौद्धिक और नैतिक गुणों से उत्पन्न होने या बननेवाली प्रवृत्तियां अथवा आचार हैं । **नियमनिष्ठा** सत्यशीलता का एक उप-गुण है और सुव्यवस्थित रहने और रखने के लिए बहुत उपयोगी है । प्रकृति में नियम और व्यवस्था है । नियमित जीवन से सुव्यवस्थितता आती है । बाहरी अव्यवस्था जरूर ही किसी अन्दरी बिगाड़ की सूचक है। ऐसे लोग भी पाये जाते हैं जो अन्दर से बिल्कुल अच्छे किन्तु बाहरी बातों में उदासीन होते हैं। लेकिन उनमें और अनियमित, या अव्यस्थित आदमी में भेद होता है। उनकी उदासीनना बाह्य बातों से विरक्ति का फल है । वह उनके जीवन में हर जगह दिखाई देगी । परन्तु अव्यवस्थितता और अनियमितता मानसिक दुर्बलता का चिन्ह है और दोष है । **कष्ट सहिष्णुता** साहस का परिणाम है ।

जिसके शरीर को कष्ट उठाने का अभ्यास नहीं है वह साहस से जी चुराने लगेगा और अन्त को कायर बनजायगा। **आरोग्यता-फुरतीला-पन** नियम-पूर्ण जीवन से आता है और शरीर को कार्यक्षम बनाये रखने के लिए अनिवार्य हैं। बीमार और सुस्त नेता अपने साथियों और अनुयायों के सिर पर एक बोझ हो जाता है। **मिलनसारी** और **हरदिल अजीजी** प्रेममय जीवन और सहनशीलता से बननेवाला स्वभाव है। जिसने अपने हृदय को मधुर बना लिया है, उसकी तमाम कटुता, तीखापन और मलिनता निकाल दी है वह मिलनसार और जिसने दूसरों के लिए अपनी घिसाई और पिसाई को जीवन का धर्म बना लिया है वह हरदिलअजीज क्यों न होगा ? इनके बिना दूसरों के हृदय को जीतनें का अवसर नेंता को नहीं मिल सकता। **भाईचारापन** मिलनसारी और कौटुम्बिकता का दूसरा नाम है। भ्रातृभाव में समान और स्नेहपूर्ण व्यवहार तथा कौटुम्बिकता में समान-स्वार्थ की भावना है। यह नेता की विशाल हृदयता का सूचक है। इस भावना के कारण नेता किसी-को अपना शत्रु नहीं समझ सकता और वह अजेय हो जाता है। **कुशलता** सत्य और अहिंसा के सम्मिश्रण से पैदा होती है। तेज के साथ जब हृदय की मिठास मिलती है तो जीवन में कुशलता अपनें आप आने लगती है। कोरा सत्य-व्यवहार उद्दण्डता में परिणत हो सकता है; अहिंसा की मिठास उसको मर्यादा में रखती और रुचिकर बना देती है। प्रसंग को देखकर बरतनें, निश्चित प्रभाव डालनें और इच्छित परिणाम निकालने के यत्न का नाम कौशल है। यह चित्त की समता से प्राप्त होता है। **सभाचातुरी** कुशलता का ही एक अंग है। जिसे समाज के शिष्टाचारों का ज्ञान नहीं है, जिसे मानसिक जगत् के व्यापारों से परिचय नहीं है, वह सभा-चतुर नहीं हो सकता। और जिसे समाज

के भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों, रुचियों और विचारों के लोगों से काम लेना है, सामूहिक रूप में काम करना और कराना है, उसमें सभाचातुरी का गुण बहुत आवश्यक है ।

[३]

नेता के साधन

संयोजक और कार्यकर्ता या स्वयं सेवक तो नेता के साथी हुए, उसके गुण उसकी मूल सम्पत्ति हुई; उसका व्यावहारिक ज्ञान, धन और ससाचार-पत्र उसकी सफलता के जबरदस्त साधन हैं । जनता को ज्ञान-दान करने के लिए उसे विद्वत्ता की और उत्थान-सामग्री देने के लिए भावुकता की आवश्यकता है । उसमें मौलिकता भी होनी चाहिए । हम मानते हैं—'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'—अर्थात् यह जगत् सत्यमय है, ज्ञानमय है, ब्रह्ममय है । ऐसी दशा में इस ज्ञान से बढ़कर मौलिकता और क्या होगी ? पर सत्य, ज्ञान, ब्रह्म, या आत्मा के समस्त स्वरूपों को, अंगों को, सम्पूर्ण प्रकाश को समय की आवश्यकता के अनुसार समाज के सामने रखने में अवश्य मौलिकता आती है । महात्मा गांधी का ही उदाहरण लीजिए । अहिंसा का सिद्धान्त आर्य-जीवन में कोई नई बात नहीं है, किन्तु उन्होंने उसे सर्वसाधारण राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में प्रविष्ट करके एक नई ज्योति संसार को दी है ।

पर यह मौलिकता केवल अध्ययन से नहीं आ सकती । मनन उसका मुख्य आधार है । अध्ययन मनन के लिए किया जाता है । अध्ययन से ज्ञान में व्यापकता आती है—किन्तु मनन ज्ञान में व्यक्तित्व लाता है । अध्ययन और मनन की पूर्णता की कसौटी यह है कि उस विषय में हम

बिना किसीसे पूछे स्वयं निश्चित राय और निर्णय दे सकें और बिना किसी ग्रन्थ या गुरु के वचनों के प्रमाण के स्वत: अपने बल पर अपने मत को प्रतिपादित और सिद्ध कर सके। इतनी पूर्णता के बाद ही ज्ञान में नवीनता या मौलिकता आ सकती है।

अपनी मानसिक अवस्था से जगत् की मानसिक अवस्था की सतत तुलना करने रहने से ही व्यावहारिक ज्ञान आता है। अपना और जगत् का—समाज का—समन्वय ही व्यावहारिकता हैं। नेता को इतनी बातों का व्यावहारिक ज्ञान अवश्य होना चाहिए—

(१) समाज को कहां ले जाना है ?

(२) समाज की वर्तमान दशा क्या है ?

(३) कौन-कौन-से पुरुष या संस्था समाज को प्रभावित कर रहे हैं ?

(४) उनसे मेरा सम्बन्ध, या उनके प्रति मेरा रुख क्या होना चाहिए ?

(५) कौन लोग मेरे विचार या कार्यक्रम के विरुद्ध हैं ?

(६) उन्हें मैं अपने अनुकूल किस तरह बना सकता हूँ ?

(७) जो अनुकूल हैं उनसे किस-किस प्रकार से सहायता लीजाय ?

(८) सर्व-साधारण शिक्षा और संस्कार की किस सतह पर हैं ?

(९) समाज के सूत्र जिनके हाथों में हैं उनका समाज पर कितना और कैसा प्रभाव है।

(१०) मेरे प्रति, या मेरे विचारों के प्रति उनके क्या भाव हैं ?

(११) किस हद तक उनका विरोध करना होगा ?

(१२) विरोध में जनता कहां तक सहायक होगी ?

(१३) जनता को विरोध के लिए कैसे तैयार किया जाय ?

(१४) वे कौन-सी बातें हैं जिनसे जनता को कष्ट है और जिनके कारण जनता उनसे दुखी या अप्रसन्न है ?

(१५) विरोधी प्रबल हुए तो संकट-काल में क्या-क्या करना उचित है ?

(१६) उस समय जनता क्या करे ?

(१७) दूसरे समाज या देश के कौन लोग या संस्थायें मेरे उद्देश से सहानुभूति रखती हैं ?

(१८) उनका मेरे समाज या राज्य से क्या और कैसा सम्बन्ध है ?

(१९) मेरे उद्देश या कार्यक्रम के पोषक पूर्ववर्ती ग्रन्थ, व्यक्ति कौन-कौन हैं और युक्तियां क्या-क्या हैं ?

(२०) समाज में प्रचलित धर्म, संस्कृति, परंपरा और रूढियां क्या-क्या हैं, लोगों की मनोभावनायें कैसी हैं, वे भावुक हैं, ठोंस हैं, बहादुर हैं, पोच हैं, अक्खड हैं,—उनके त्योहार और मान्यतायें क्या-क्या हैं ?

(२१) उनके दोष और दुर्व्यसन क्या-क्या हैं ? आदि, आदि।

धन भी नेता का एक साधन जरूर है, पर मानसिक और नैतिक साधन-सम्पत्ति तथा विश्वासी साथियों के मुकाबले में यह बहुत गौण है। फिर भी उसके ऐसे धनी मित्र जरूर हों जो समय-समय पर उसके अर्थभार को घटाते रहें। किन्तु उसके धन का असली जरिया तो जनता का हृदय ही होना चाहिए। अधिकारियों में भी उससे मित्रता और साहानुभूति रखनेवाले कई लोग होनें चाहिए। ये उसके चरित्र की उच्चता से ही मिल सकते हैं। चरित्र में मुख्यत: तीन बातें आती हैं (१) बात की सचाई, (२) गांठ की (धनकी) सचाई और (३) लंगोट की सचाई ।

उद्देश तो नेता का महान् और जन-हितकारी होता ही है। स्वभाव भी उसका मधुर और प्रकृति मिलनसार होनी चाहिए। सच्चाई, अच्छाई

और गुण के प्रति प्रीति और अत्याचार, अन्याय, झुठाई, बुराई के प्रति मन में तिरस्कार और प्रतिकार का भाव होना चाहिए। पहला गुण उसे भले आदमियों का मित्र बनावेगा और दूसरा बुरों को मर्यादित तथा हतबल। संकट का अवसर हो तो पहले सबसे आगे होने की और यश तथा पुरस्कार का प्रसंग हो तो पीछे रहने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। आत्म-विज्ञापन उतना ही होने दे जितना कि उद्देश सिद्धि के लिए आवश्यक है। सदा अपने हृदय पर चौकी बिठा रक्खे कि अपनी निजी प्रशंसा या बड़ाई का भाव तो आत्म-विज्ञापन की प्रेरणा नहीं कर रहा है।

[४]

पत्र-व्यवसाय

समाचार-पत्र यों तो साहित्य-जीवन का एक अंग है। साहित्य का जीवन में वही स्थान और काम है जो मनुष्य-शरीर में दिल और दिमाग का होता है। साहित्य न केवल ज्ञान-सामग्री ही समाज को देता है, बल्कि हृदय-बल भी देता है। मनुष्य के मन में एक बात पैदा होती है वह उसे लिखकर या कहकर प्रकट करता है। उसका भाव या विचार अक्षर-बद्ध कर लिया जाता है, यही साहित्य है। संसार में जो-कुछ वाक्मय=वाङ्मय—है वह सब साहित्य है। इसमें आध्यात्मिक ज्ञान देनेवाले वेद, दर्शन, उपनिषद् भी हैं, भौतिक और लौकिक ज्ञान देनेवाले विज्ञान तथा आचार-शास्त्र हैं और हृदय को उत्साहित, आनंदित रमणीय एवं बलिष्ठ बनानेवाले काव्य-नाटकादि भी हैं। इस तरह सार्वजनिक जीवन के बहुत बड़े आधार सामयिक पत्र-पत्रिकायें भी साहित्य के ही अन्तर्गत हैं। साहित्य के बिना जीवन यदि असंभव नहीं तो संस्कारहीन

और निर्जीव होकर रहेगा । यदि साहित्य न हो तो मानव-शिक्षा और सुधार कठिन होजाय । साहित्य जीवन का केवल पथ-प्रदर्शक और उत्साही साथी ही नहीं, बल्कि उसकी आंखें भी हैं । साहित्य समाज का प्रतिबिंब भी होता है । जो कुछ हमारे जीवन और समाज में होता है उसे हम साहित्य के द्वारा ही देख सकते हैं । प्राचीन जीवन को हम इतिहास-साहित्य के द्वारा देखते और लाभ उठाते हैं एवं वर्तमान जीवन को सामयिक पत्रों के द्वारा बनाते हैं ।

इस कारण पत्र-व्यवसाय भी नेता के कार्य का एक बृहत् अंग हो गया है । आधुनिक जगत् में समाचार-पत्र एक महती शक्ति है । वह जन समुदाय की बलवती वाणी है। अपने विचारों, भावों को जन-समुदाय तक पहुँचानें के वाहन है । लोकमत को जाग्रत करनें के साधन हैं । जन-शक्ति के प्रतिकार-अस्त्र हैं। इनका उपयोग, प्रयोग या व्यवहार करना साधारण बात नहीं है । जो चीज जितनी ही प्रभावशालिनी होगी उसका उपयोग उतना ही जिम्मेवारी और सोच-समझ के साथ करना होगा । यदि किसी बात का असर सैकड़ों लोगों पर पड़नेवाला हो तो उसका उपयोग करने के पहले पत्रकार को बीस दफा उस अक्षर पर विचार करना होगा । आजकल पत्र-व्यवसाय बहुत मामूली धन्धा बन गया है । जिसे और कोई काम न मिला, उसनें झट एक अखबार निकाल लिया—ऐसी कुछ दशा हो रही है । या जरा चटपटा लिखनें की कला सध गई, किसीकी धूल उड़ाने की जी में आ गई, किसीसे झगड़ा हुआ और विरोध करने को तबीयत चाही और अखबार निकाल दिया । ऐसी हलकी हालत असल में पत्र-व्यवसाय की न होनी चाहिए । यह स्थिति समाज की समझदारी के प्रति कोई ऊँचा खयाल नहीं बनने दे सकती । वास्तव में पत्र-व्यवसाय उन्हीं लोगों के हाथों में होना चाहिए जो बहुत, दूरदर्शी,

प्रभावशाली, अनुभवी, विश्वासनीय, विचारक, आदर्श चरित और विवेक शील हों।

पत्र-व्यवसाय में संपादक मुख्य है। यह काम या तो नेता स्वयं करता है, या उसका कोई विश्वस्त साथी। पत्र-व्यवसाय दो भागों में बँट जाता है एक तो दैनिक और सप्ताहिक पत्र दूसरे मासिक और त्रैमासिक पत्र—या यों कहें कि एक तो समाचार-पत्र और दूसरे विचार-पत्र। दोनों के संपादक भिन्न-भिन्न श्रेणी के होते हैं। पहले प्रकार का संपादक प्रधानतः आन्दोलनकारी होता है और दूसरे प्रकार का विचार-प्रेरक। सामाजिक पत्रकार समस्याओं को सुलझाता है, दूरवर्दी परिणाम निकालनेवाली घटनाओं की विवेचना करता है; विचार-जगत् में काम करता है, तहां समाचार-पत्रकार प्रत्यक्ष या कार्य-जगत् में काम करता है; घटनाओं का संग्रह करता है और उन्हें अपने प्रभाव के साथ जनता तक पहुँचाता है। समाचार-पत्रकार जो सामग्री उपस्थित करता है उसके दूरवर्ती परिणामों और तत्वों की छान-बीन सामयिक पत्रकार करता है। या यों कहें कि सामयिक पत्रकार जिन बीजों को विचार-जगत् में बोता है उन्हें समाचार-पत्रकार कार्थ-जगत् में पल्लवित, पुष्पित और फुल्लित करता है। समाचार-पत्र की दृष्टि आज पर रहती है और सामयिक पत्र की कल पर। एक योद्धा है और दूसरा विचारक। एक क्षत्रिय है दूसरा ब्राह्मण। एक में शक्ति है, दूसरे में शान्ति। चूंकि दोनों के क्षेत्र और कर्तव्य भिन्न हैं इसलिए दोनों की योजना भी भिन्न-भिन्न होनी चाहिए। एक कर्म-प्रधान और दूसरा विचार-प्रधान होना चाहिए। दोनों दशाओं में सम्पादक उच्च कोटि का होना चाहिए। क्योंकि हजारों के जीवन के सुख-दुःख की जोखिम उसके हाथ में है। लेखक के गुणों के साथ-साथ संपादक में प्रचारक के गुण भी होने चाहिए। उसमें ऊँचे दर्जे के मानसिक

नैतिक, और बौद्धिक गुण होने चाहिएँ। नेता में और संपादक में इतना ही अन्तर है कि नेता कार्यों में प्रत्यक्ष पड़कर जनता को अपने साथ ले जाता है और संपादक केवल पत्र-द्वारा उन्हें प्रेरित और जाग्रत करता है। आजकल की आवश्यकतायें ऐसी हैं कि नेता प्रायः संपादक होता है। जिसके पास पत्र नहीं वह सफल नेता नहीं हो सकता। इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी संपादकों में नेता की योग्यता होती है। परन्तु नेता में सम्पादक की योग्यता अवश्य होनी चाहिए।

संपादक के पास एक अच्छा पुस्तकालय और एक अच्छा विद्वानों और प्रभावशाली लोगों का मित्र-मण्डल होना चाहिए। समाचार लाने-वाले स्थानिक तथा प्रान्तीय कई संवाददाता होनें चाहिएँ। ये उसकी आंखें हैं। इसलिए ये बहुत जँचे हुए आदमी होने चाहिएँ। प्रभावशाली संपादक के पास अपना निजी प्रेस होना बहुत आवश्यक है। कम से कम एक साथी ऐसा जरूर हो जिसके भरोसे वह बाहर जा-आ सके। एक ऐसा विश्वसनीय साथी भी हो जो प्रबंध-विभाग की ओर से संपादक को निश्चिन्त रखता रहे।

लेखन-शैली स्पष्ट, ओजस्विनी और तीर की तरह सीधी दिल की सतह तक पहुँचनेवाली हो। कैसा भी क्षोभ और घबराहट का समय हो उसे शान्त और एकाग्र चित्त से लेख लिखने का अभ्यास होना चाहिए। लेख और टिप्पणी के विषयों को महत्व के अनुसार छांटने की त्वरित-शक्ति उसमें होनी चाहिए। थोड़े में उनकी मुख्य-मुख्य बातें अपने साथियों को समझा देने की योग्यता होनी चाहिए। शीघ्र-निर्णय का गुण संपादक में होना आवश्यक है। एक सरसरी निगाह में सब कुछ देख लेने का अभ्यास होना चाहिए। संपादक अपनें दफ्तर में आंख खोलकर आता है और अपने कमरे में एक एंजिन की तरह बैठता है।

दफ्तर में दो आदमियों से उसका काम विशेष पड़ता है—व्यवस्थापक और उपसंपादक। इन दोनों के सुयोग्य होने से संपादक का बोझ बहुत कम हो जाता है। बड़े सौभाग्य से ही ये दो व्यक्ति संपादकों को मिला करते हैं। इन्हींके द्वारा वह सारे दफ्तर और पत्र के तमाम कामों का संचालन करता है।

ताजे अखबार संपादक का जीवन हैं। दफ्तर में आते ही संपादक सब से पहले डाक और ताजे अखबार पर हाथ डालता है। खास-खास लेख, पत्र-संपादक खुद अपने हाथों से लिखता है। संपादक रोज चाहे अपने दफ्तर की छोटी-छोटी बातों को न देखे; परन्तु उसे हर छोटी-से-छोटी बात का स्वयं ज्ञान और अनुभव होना चाहिए। छोटी बातों की उपेक्षा तो वह हरगिज न करे। आलस्य और गफलत ये दो संपादक के शत्रु हैं। वह फुरतीला हो; पर लापरवाह नहीं, बेगार काटने की आदत बिल्कुल न हो। उसे सदैव स्मरण रखना चाहिए कि उसके सारे गुण-दोषों का असर अकेले दफ्तर पर ही नहीं, उसके सारे पाठक वर्ग पर पड़ता है। इसलिए उसे अपने आचार-विचार के बारे में सदा जागरुक और सदा सावधान रहना चाहिए। वह खुद जैसा होगा वैसा उसका पत्र, उसका दफ्तर और अन्त में उसके पाठक होंगे। इसलिए संपादक के लिए यह परमावश्यक है कि वह सदा अपने आदर्शों से अपनी तुलना करता रहे और उसतक पहुँचने का प्रयत्न बड़ी तत्परता से करे। जितना ही वह ऐसा करेगा उतना ही अपने पाठकों—अपने समाज—को उस तरफ ले जा सकेगा। हम निश्चय रक्खें कि हमारी कृति हमसे बढ़कर नहीं हो सकती। हम विश्वास रक्खें कि हमसे बढ़कर योग्य पुरुष सहसा हमारे पास नहीं टिकेगा। इसलिए अपनी योग्यता बढ़ाने की चिन्ता सदैव संपादक को रखनी चाहिए। उसका यह स्वभाव ही

बनजाना चाहिए कि इस नये आदमी के मुकाबले में मुझमें किन-किन बातों की कमी है। अपनी कमी को उसे प्रसंगानुसार स्वीकार भी करते रहना चाहिए। इससे उसमें वृथा अभिमान भी न पैदा होगा और उससे अधिक योग्य साथी उससे सच्चा प्रेम रक्खेंगे। मिथ्याभिमानी पुरुष योग्य साथियों को खो देता है।

सम्पादक रोज अपने दफ्तर के सब कर्मचारियों से चाहे मिले नहीं, पर किसे कोई कष्ट तो नहीं है, किसीके यहां कोई बीमार तो नहीं है, इसकी जानकारी उसे अवश्य रखनी चाहिए। और ऐसे अवसरों पर बिना उनके चाहे भी उसकी प्रकृत सहानुभूति उनपर प्रकट होनी चाहिए।

सम्पादक को चाहिए कि जो-कुछ लिखे परिश्रम करके, सोच समझ कर लिखे। ऊट-पटांग या अनुपयोगी कुछ न लिखे। उसके ज्ञान में यदि मौलिकता न हो तो उसके प्रतिपादन और विवेचन में अवश्य उसके व्यक्तित्व की छाप होनी चाहिए। कुछ-न-कुछ चमत्कार या विलक्षणता होनी चाहिए। किसीकी लेखन शैली या भाषा-प्रणाली का अनुकरण करने की अपेक्षा उसे अपनी विशेषता का परिचय देना चाहिए। वह अपने विषय में गरकाब हो जाय—उसे आत्मसात् करले। फिर हृदय में जैसा स्फुरण हो वैसा लिख डाले। उसमें जरूर विशेषता होगी—अपना पन होगा। मन में मन्थन होते-होते एक बात दिल में उठी। जिस जोर के साथ वह पैदा हुई, जिस सचाई के साथ आपके दिल में वह रम रही, जिस गहराई के साथ वह जड़ पकड़े हुए है उसीके साथ आप लिख दीजिए—आपका लेख प्रभावशाली होगा, उसमें ओज होगा, उसमें चमत्कार होगा। यदि चीज पूरे बल के साथ आपके हृदय की तह से निकली है तो वह जरूर दूसरे के दिल पर चोट कर देगी। बस आप सफल लेखक हुए। जिन-जिन कारणों से आप अपने निष्कर्ष पर पहुँचे हैं

उन्हें भी आप लोगों को समझाने के लिए दीजिए—आपका लेख युक्ति-संगत होगा। क्यों आप उस लेख या पुस्तक को लिखे बिना और समाज में उसे उपस्थित किये बिना रह नहीं सकते—यह आप लोगों को समझाएँ; आपके लेख या पुस्तक को वे चाव से पढ़ेंगे। आपको यह भी सोचना होगा कि भाषा कैसी हो। यदि लेख सर्वसाधारण के लिए है तो भाषा बहुत सरल, सुबोध लिखनी होगी। लेख लिखकर आप अपने घर की स्त्रियों को पढ़ सुनाइए—उनकी समझ में आ जाय तो अपनी भाषा को सरल समझ लीजिए। एक-एक बात खोलकर समझनी होगी। ठेठ तह तक पाठक को पहुँचा देना होगा। यह आप तभी कर सकेंगे जब आप खुद उस चीज को अच्छी तरह समझे हुए होंगे। छोटे-छोटे वाक्य और बोलचाल के शब्द होंगे। क्लिष्ट शब्दों और लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रयोग एवं उलझी हुई भाषा लिखना आसान है। सरल शब्द, छोटे वाक्य और सुलझी हुई स्पष्ट भाषा लिखना बहुत कठिन है। भाषा में यह गुण चिन्तन-मनन से आता है। जब कोई चीज हमारी आंखों के सामने हो तो उसका सीधा-सादा वर्णन करना आसान होता है। इसी तरह जब किसी विषय का सारा चित्र हमारे मन की आंखों के सामने खिंचा रहे तो उसका परिचय पाठकों को बहुत सरलता से कराया जा सकता है। पर यह तभी संभव है जब उस विषय पर इतना आधिपत्य कर लिया हो कि विषय का ध्यान आते ही उसकी तसवीर सामने खड़ी हो जाय।

यदि श्रेणी विशेष के लिए लिखना हो तो भाषा उनकी योग्यता के अनुरूप होनी चाहिए। फिर गहन और शास्त्रीय विषय की भाषा में थोड़ी-बहुत क्लिष्टता आ ही जाती है। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। किन्तु आम तौर पर भाषा में तीन गुण होने चाहिएँ—सरलता, सुन्दरता, संक्षिप्तता। सरलता का अर्थ ऊपर आचुका

है। सुन्दरता का अर्थ है रोचकता और प्रभावोत्पादकता। भाषा ऐसी मनोहर हो कि हृदय में बैठती चली जाय। भाषा हमारे अन्तःकरण का प्रतिबिंब है। दूसरे से हमारे हृदय को मिलानेंवाला साधन है। अतएव भाषा को मनोहर बनाने के लिए अन्तःकरण को मनोहर और रुचिर बनाना चाहिए। हृदय जितना ही सुरुचिपूर्ण, सुसंस्कृत, मधुर होगा उतनी ही भाषा मनोहर होगी। सुन्दरता का अर्थ कोरे शब्दालंकार नहीं, वागाडम्बर नहीं। सच्चे हृदय की व्याकुल वाणी में असर होता है। शब्द-सौन्दर्य की अपेक्षा भाव-सौन्दर्य पर मुख्य ध्यान देना चाहिए। भाव भाषा को अपने आप चुन लेते हैं और अपनें सांचे में ढाल लेते हैं। भाषा पर अधिकार पाने के लिए सब से जरूरी बात है शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों का संग्रह। यह अच्छे-अच्छे लेखकों की रचनाओं को पढ़ते रहने से होता है। एक ही अर्थ के कई शब्दों की ध्वनियों को अच्छी तरह समझना चाहिए। पुनरुक्ति से भाषा को बचाना चाहिए। ग्राम्य शब्दों का प्रयोग बिना आवश्यकता के न करना चाहिए।

संक्षिप्तता का अर्थ यह है कि काम की और आवश्यक बातें ही लिखी जायँ। संक्षिप्त भाषा वह जिसमें से न एक शब्द निकाला जा सके, न जोड़ने आवश्यकता रहे। लिखते समय मुख्य और गौण बात का भेद सदैव करते रहना चाहिए। यह सोचना चाहिए कि यह बात यदि न लिखी जाय तो क्या काम अड़ जायगा? अत्यन्त महत्वपूर्ण बातें ही लिखी जायँ। साधारण बातें तभी लिखी जायँ जब वे महत्वपूर्ण बातों की पुष्टि के लिए आवश्यक हों। बात जो लिखी जाय वह सच्ची हो। क्रोध में कोई बात न लिखनी चाहिए। क्रोधावेश में जितना लिखा गया हो उसे बेरहम बनकर काट देना चाहिए। क्रोध या द्वेषवश लिखी गई भाषा यदि सुन्दर बनगई हो तो भी वह अभीष्ट परिणाम न पैदा रेगीक। वह पाठक

के मन में क्रोध और द्वेष पैदा करेगी। भाषा का यह गुण है कि आप जिस भाव से लिखेंगे वही वह पाठक के मन में पैदा करेगी। जो भाषा हमारे हृदय के भाव दूसरे के हृदय में तद्वत् जाग्रत कर देती है उसे प्रभावशालीनी कहते हैं। लेखक जितना ही समर्थ होगा उतना ही उसकी भाषा में प्रभाव होगा। क्रोध, द्वेष, असूया ये मानव हृदय के दुर्विकार हैं और इनसे लेखक या पाठक किसीका लाभ नहीं है। अपने हृदय की बुराई सैकड़ों-हजारों घरों में पहुँचना साहित्य और समाज की घोर असेवा करना है। इसलिए लेखक को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके भाव समाज का कल्याण करनेवाले हों। उत्साह और प्रसन्न चित होकर निर्विकार भाव से लिखने बैठेंगे तो भाषा साधु, सजीव और प्रभावोत्पादक होगी। हम जैसे होंगे वैसी ही हमारी भाषा होगी। इसलिए भाषा-सौन्दर्य के बाह्य साधनों की अपेक्षा लेखक को अपने आन्तरिक सौन्दर्य की वृद्धि का ही सदा ध्यान रखना चाहिए।

लेख में सरलता और संक्षिप्तता लाने के लिए दिमाग में हर चीज को टुकड़े-टुकड़े करके देखने का गुण होना चाहिए। इससे विषय का असली स्वरूप और महत्व समझ में आ जाता है और गेहूँ में से भूसी को अलग करना आसान हो जाता है। अब आप अपने मतलब की बातें चुनकर ठीक सिलसिले से रख दीजिए। आपका लेख संक्षिप्त रहेगा और सरल भी बन जायगा। जैसे एक डाक्टर शरीर को चीरकर हरएक रगोरेशे को देख लेता है उसी तरह सम्पादक को अपने विषय की एक-एक नस देख लेनी चाहिए।

सम्पादकों को चाहिए कि वह अपने को जनता का सेवक समझे। सम्पादक यों तो सुधारक होता है; परन्तु सुधारक की भावना से अहम्मन्यता बढ़ सकती है। अहम्मन्यता से मनुष्य उच्छृंखल बन जाता है

और फिर अन्याय एवं अत्याचार तक करते हुए नहीं हिचकता। सेवक में नम्रता होती है। जनता के पथदर्शक होने की योग्यता होते हुए भी जब वह उसके सेवक के रूप में रहता है तब उसपर यह जिम्मेवारी रहती है कि वह अपनी सेवा का अच्छा हिसाब जनता को दे। जनता को अपनी बात समझाने का भार उस पर रहता है। इस कारण वह स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता। उसे सर्वदा जनता के हित का ही विचार करना पड़ेगा। जिसका हित-साधन उसे करना है उसकी राय भी उसे लेनी पड़ेगी। इस तरह अपनेको सेवक माननेवाले पर लोकमत का अंकुश रहता है जो कि दोनों के हित के लिए उपयोगी है।

सुधार या परोपकार का भाव है तो अच्छा ही; परन्तु सेवा का भाव इससे अधिक निर्दोष और सात्विक है। दूसरे की सेवा की अपेक्षा आत्म-विकास की भावना और भी निरापद एवं उच्च है। सेवा में फिर भी दूसरे का भला करने का 'अहं' भाव छिपा हुआ है; किन्तु आत्म-विकास में वह नहीं रह जाता। मैं जो कुछ करता हूँ अपनी आत्मा के विकास या कल्याण के लिए करता हूँ, यह भावना मनुष्य को मान-बड़ाई आदि बहुत-से गड्ढों और खाइयों में गिरने से बचा लेती है। उसके लिए समाज-सेवा, देश-भक्ति, राष्ट्र-हित ये सब आत्म-विकास के साधन हैं। वह अपने प्रत्येक कार्य को अन्त में यह हिसाब लगाकर देखता है कि इससे मेरे आत्मिक-विकास में क्या सहायता मिली? लोग ऐसे मनष्य को बड़ा देशभक्त, समाज-सेवक, राष्ट्रोद्धारक मानेगी; पर वह अपनेको आत्म-कल्याण का एक साधक मानेगा और इन विशेषणों को अपनी साधना के मार्ग की मोहिनी विभूतियां समझकर 'कृष्णार्पण' कर देगा।

परन्तु इसमें एक बात की सावधानी रखने की जरूरत है। यदि परोपकार का भाव प्रबल रहा तो जिस प्रकार अभिमान, मान-बड़ाई

के फेर में पड़ जाने का डर है उसी प्रकार आत्म-हित की दृष्टि प्रधान होने से स्वार्थ-साधुता आने या बढ़ जाने की आशंका रहती है। इन गड्ढों से बचने का सब से बढ़िया उपाय यह है कि आत्म-हित और समाज-हित को हम मिला लें। समाज-हित में ही हमारा आत्म-हित छिपा या समाया हुआ है अथवा समाज-हित करते-करते ही हम आत्म-साधना में सफल होंगे, यह धारणा इसका स्वर्ण-मार्ग है। सात्विक दृष्टि से भी इनमें कहने लायक अन्तर नहीं है। यदि दूसरे के और हमारे अन्दर एक ही आत्मा है तो दूसरे का हित मेरा ही हित है। गुण-विकास भी दूसरे का हित-साधन करते हुए जितना हो सकता है उतना कोरी आत्म-साधना—ध्यान-धारणा—से नहीं। दूसरे में अपनेको सब तरह मिला देना आत्मार्पण है; दूसरे के लिए अपने को सब तरह मिटा देना निर्भयत्व है। आत्मार्पण और निर्भयत्व ये आत्म-प्रकाश, चैतन्य, निर्वाण, कैवल्य, मोक्ष, पूर्ण स्वातन्त्र्य, परमपद, निरानन्द, ब्राह्मीस्थिति, स्थित-प्रज्ञता, के मुख्य द्वार हैं।

कर्त्तव्य का भाव भी संपादक के मन में हो सकता है। न तो आत्म-कल्याण के लिए, न परोपकार के लिए, मैं तो अपना कर्त्तव्य समझकर संपादन-कार्य कर रहा हूँ, ऐसा कोई संपादक कह सकता है। पर यह पूछा जा सकता है कि आखिर इसे आपने कर्त्तव्य क्यों बनाया? धन के लिए, कीर्ति के लिए, जन-हित के लिए, आत्म-संतोष के लिए या और किसी बात के लिए? यदि धन और कीर्ति इसका उत्तर है तो वह संपादक नीचे दरजे का हुआ। यदि दूसरे दो उत्तर हैं तो उनका समावेश परोपकार, सुधार, सेवा, आत्म-कल्याण इनमें हो जाता है। इसलिए परोपकार या आत्मकल्याण यही दो भावनायें असली हैं। साधारण व्यवहार की भाषा में इन्हें परमार्थ और स्वार्थ कहते हैं। स्वार्थ की

परिधि की ओर जावें तो वह परमार्थ हो जाता है और परमार्थ के केन्द्र की ओर चलें तो वह स्वार्थ हो जाता है। दोनों दृष्टियों से हम एक ही सत्य पर पहुँच जाते हैं—इसीसे कहते हैं कि जगत् में अन्तिम सत्य एक है। अस्तु।

एक यह भी प्रश्न है कि सम्पादक जनता का प्रतिनिधि है या पथदर्शक? प्रतिनिधि तो मनुष्य अपने आप नहीं बन सकता। किसी सम्पादक को जनता ने अपना प्रतिनिधि बनाकर सम्पादक चुना हो, ऐसा तो कोई उदाहरण नहीं देखा जाता। हां, बरसों की सेवा के बाद कोई सम्पादक जनता के किसी एक विचार, आदर्श या कार्यक्रम का नैतिक प्रतिनिधि हो सकता है—पर सभी सम्पादकों को यह पद नहीं मिल सकता। पथदर्शक तो अपने पास की कोई चीज हमें दिखाता है—वह हमें अच्छी मालूम देती है और हम उसके पीछे जाते हैं। वफादार और सच्चा पथदर्शक बाद को भले ही प्रतिनिधि बन जायँ या बना दिये जायें। जिनके पास न तो कोई अपनी चीज जनता को देने के लिए है, न जनता ने जिन्हें अपने प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया है, उन्हें सम्पादक इसीलिए कहा जा सकता है कि वे एक अखबार निकालते हैं, सनसनी भरी खबरें छापते हैं, जोश-खरोश भरी टिप्पणियां लिखते हैं और कुछ कापियां बेंच लेते हैं। न तो समाज पर, न राज्य पर उनका कोई असर होता है।

नेता लोकरंजन के लिए नहीं बल्कि लोक कल्याण के लिए पत्रकार बनता है। बल्कि मेरी राय में तो एकमात्र लोक-कल्याण ही सब प्रकार के पत्रों का उद्देश होना चाहिए। मनोरंजन को पत्रों के उद्देश में स्थान नहीं मिल सकता, न मिलना चाहिए। लोक-हृदय ठहरा बाल-हृदय। जटिल और गूढ़ ज्ञान-तत्त्व यदि नीरस और क्लिष्ट भाषा में उसके सामने उपस्थित किये जायँ तो उन्हें सहसा आकलन और ग्रहण

नहीं कर सकता। इसलिए कुशल लेखक मनोरंजन की पुट लगाकर उसे उसके अर्पण करता है। यही उसकी कला है। यही, और इतना ही, मनोरंजन का महत्व है।

इसके सम्बन्ध में दो मत हैं। एक मत के लोग कहते हैं, पत्र-संचालन और व्यवसायों की तरह एक व्यवसाय है। यद्यपि वह औरों से श्रेष्ठ है, उसके द्वारा ज्ञान और शिक्षा-लाभ होता है, तो भी वह है व्यवसाय ही। व्यवसायी का मुख्य काम होता है ग्राहक की रुचि देखना, उसकी रुचि और पसन्दगी के अनुसार तरह-तरह की चीजें रखना। चीजों को वह सजाता भी इस तरह है कि लोग उसीकी दूकान पर खिचकर चले आवें। इसके लिए उसे अपनी चीज की खास तौर पर तारीफ भी करनी पड़ती है। इन सब बातों के करने में उसे इसी बात का सबसे बड़ा खयाल रहता हैं कि ग्राहक कहीं नाराज न हो जाय, कहीं हमारी दुकान न छोड़ दे। यह निर्विवाद बात है कि सर्वसाधारण जन उस चीज की ओर ज्यादा आर्कषिक होते हैं जो चमकीली हो, चटकीली हो, फिर वह घटिया हो तो परवा नहीं। इसलिए व्यवसायी ऐसी ही चीजों को अपनी दुकान में ज्यादा रखता है। दूसरी बढ़िया, अच्छी, और ज्यादा उपयोगी चीजें भी वह रखता है, पर वे उसके नजदीक गौण हैं, क्योंकि वह कहता है, इसके खरीददार थोड़े होते हैं।

दूसरे मत के लोग पत्र-संचालन को एक 'सेवा' समझते हैं। वे कहते हैं कि पत्र-सम्पादक साहित्य के चौकीदार हैं, जनता के वैद्य हैं, शिक्षक हैं, पथ-दर्शक हैं, नेता हैं। वे अपने सिर पर बड़ी भारी जिम्मेवारी समझते हैं। उन्हें सदा सर्वदा इस बात का खयाल रहता है कि कहीं ऐसा न हो, हमारे किसी वचन, कृति, या संकेत से जनता का अकल्याण हो, वह बुरे रास्ते चली जाय, बुरे और गंदे भावों, विचारों और कार्यों

को अपना ले, ऐसे कामों में लग जाय जो उसे प्यारे मालूम होते हों, पर जो वास्तव में उसके लिए अकल्याणकारी हों। वे इस बात की तरफ इतना ध्यान नहीं देते कि लोगों को कौन-सी बात प्रिय है; बल्कि इसी पर उनका मुख्य ध्यान रहता है कि उसका कल्याण किस बात में है ? वह अपनेको प्रेय नहीं, श्रेय साधक मानते हैं। इसलिए वे लोक-रुचि का अनुसरण उसी हद तक गौण या प्रधान रूप से करते हैं जिस हद तक उसके द्वारा वे जनता के कल्याण को सिद्ध होता हुआ देखते हैं। बहुत बार ऐसा भी होता है, और इतिहास इस बात का खूब साक्षी है कि उन्हें लोक-रुचि के खिलाफ सरेदस्त आवाज उठानी पड़ती है और लोग पीछे से मानते हैं कि हां, उनकी बात ठीक थी। ऐसे पत्रकार पत्र-संचालन का उद्देश्य, फिर वह दैनिक हो, मासिक हो, या साप्ताहिक हो, 'लोकरंजन' नहीं 'लोक-कल्याण' मानते हैं और इसीलिए वे लोकरंजन या मनोरंजन को गौण स्थान देते हैं। लोकरंजनों से जनता शुरू में खुश भले ही हो, लोकरंजन कुछ काल के लिए लोकप्रिय भी भले ही हो, वह सफल भी भले ही होता हुआ दिखाई दे, लाखों रुपये भी भले ही पैदा करले, परन्तु उससे सर्वसाधरण की सेवा ही होती है, कल्याण ही होता है, वह बात नहीं। तुलसी और सूर की लोक-प्रियता पर कोई सवाल उठा सकता है ? क्या वे 'लोकरंजन' के अनुगामी थे ? लोक-कल्याण किस बात में है इसके जानने का आधार 'लोक-रुचि' नहीं, बल्कि लोक-शिक्षक की विद्या-बुद्धि, ज्ञान और अनुभव है। लोक-शिक्षक जितना ही अधिक त्यागी, संयम, निःस्वार्थ, कष्ट-सहिष्णु, सदाचारी, और प्रेम-मय होगा उतना ही अधिक वह पत्र-संचालन के योग्य होगा।

संसार में दो तरह के आदमी देखे जाते हैं। एक कल पर दृष्टि रखता है, दूसरा आज में मगन रहता है। एक ऊपर देखता है, आगे उँगली दिखाता

है, दूसरा आसपास देखता है। एक देने के लिए तैयार रहता है, छोड़ने में लेने से बढ़कर सुख देखता है, दूसरा रखने में और चलने में आनन्द पाता है। एक संयम में जीवन की सार्थकता मानता है, दूसरा स्वच्छन्दता में। एक त्यागी है, दूसरा भोगी है। ये दोनों एक दूसरे के सिरे पर रहने वाले लोग हैं। इनके बीच में एक तीसरा दल भी रहता है। उसे एक की उग्रता और दूसरे की शिथिलता, दोनों पसन्द नहीं। इधर त्याग की आग के पास जाने की भी हिम्मत उसे नहीं होती, उधर भोग के रोग से भी वह घबराता है। कल उसे बहुत दूर—इतना दूर कि शायद उसे पहुँचने की भी आशा न हो—दिखाई देता है और आज नीरस मालूम होता है। आगे उँगली उठाने में उसे खतरा मालूम होता है और आस-पास देखते रखना निरर्थक। देने और देते रहने में उसे अपने दरिद्र हो जाने का डर रहता है और केवल रखने और चखने से उसे सन्तोष नहीं होता। यह जीवन को संग्राम-भूमि बनाना चाहता है, न असहयोग का अखाड़ा, और न फूलों की सेज। वह न इधर का होता है न उधर का। वह आराम से चाहे रह सके, पर उन्नति ही करता रहेगा यह नहीं कह सकते। वह सन्तुष्ट चाहे रहे, पर पुरुषार्थ भी दिखावेगा, यह निश्चय नहीं। बिना खतरे का सामना किये, बिना जान जोखिम में डाले, दुनिया में न कोई आदमी आगे बढ़ सकता है, न दूसरे को बढ़ा सकता है! परन्तु यह मध्य-दल तो अपने आसपास हमेशा किलेबन्दी करता करता है, फूंक-फूंक कर कदम रखता है, सम्हल-सम्हलकर चलता है। इसे वह विवेक समझता है। जो हो। 'लोक-रञ्जन' के अनुगामी अधिकांश में दूसरी और तीसरी श्रेणी में हुआ करते हैं। 'लोक-शिक्षक' पहली ही श्रेणी में अधिक होते हैं। दोनों में मुख्य भेद यही है कि एक का मुख्य ध्यान 'लोक-कल्याण' की ओर होता है और दूसरे का मुख्यतः 'लोक-रुचि' की

ओर। सच्चा कलावित् ही सच्चा शिक्षक हो सकता है और सच्चे शिक्षक होते हैं कला-मर्मज्ञ। यह सच है कि वे अपने आसन से उतरकर जनता के पास जाते हैं, उससे मिलते हैं, और उससे अपनी सहानुभूति जोड़ते हैं, पर उतरते हैं, उसे अपने आसन पर—ऊपर लाने के लिए, सहारा देने के लिए, उनपर अपना रंग जमाने के लिए, जाकर रह जाने के लिए नहीं, और उन्हींके रंग में रंग जाने के लिए तो हरगिज नहीं।

जहां पत्रकार या शिक्षक 'लोक-रंजन' के फेर में पड़ा कि वह 'लोक-सेवक' न रहा, व्यवसायी हो गया।

[५]

नेता की ज़िम्मेवारियाँ

नेता युगधर्म की प्रेरणा होता है। युगधर्म जनता की पीड़ा की पुकार है। वह मनुष्य नहीं है जिसके मन में उसे सुनकर हलचल न हो। हां, पीड़ा से व्याकुल होकर नेता को उसका इलाज जल्दी या क्रोध में आकर ऐसा न करना चाहिए कि जिससे जनता का जीवन अन्तिम लक्ष्य से इधर-उधर हो जाय। एक तरह की पीड़ा मिटने लगे तो दूसरी पीड़ा की नींव पड़ जाय। इसीलिए समाज में दूरदर्शी नेताओं की आवश्यकता होती है। नेता समाज की तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति होता है—पीड़ा का वैद्य होता है।

जीवन का मूल-भूत तत्व चाहे एक हो, किन्तु जीवन जगत् में आकर विविध हो गया है। वह एक से अनेक हुआ है और अनेक से एक होने की तरफ जा रहा है। यह दो तरह से होता है—विविध भावों के विकास के द्वारा अथवा भाव-विशेष की एकाग्र साधना के द्वारा।

एक का उदाहरण भक्ति और दूसरे का योग हो सकता है। नेता के जीवन में भक्ति और योग का सम्मेलन होना चाहिए व्यापकता और एकाग्रता दोनों ओर उसकी गति और विकास होना चाहिए।

एक वैद्य, योगी, योद्धा, सुधारक, किसी भी स्थिति में नेता की जिम्मेवारियां महान् हैं। वह यदि सचमुच अपनी जिम्मेवारियों को पूरा करना चाहता है, अपने गौरव की रक्षा करना चाहता है अपने पद को सार्थक करना चाहता है तो उसे यह मानकर ही चलना चाहिए कि उसका जीवन सदा संकटों से घिरा हुआ है। यदि काम आसानी से हो जाय और संकट में न पड़ना पड़े तो उसे आनंद नहीं आश्चर्य होना चाहिए और ईश्वर का एहसान मानना चाहिए*। निन्दा कटूक्ति अर्थिक कष्ट, गालियां, मार, जेल, अपमान और अन्त में मृत्यु—एवं मृत्यु से भी अधिक दुखदायी असफलता ये पुरस्कार अपनी सेवाओं का पाने के लिए उसे सदा तैयार रहना चाहिए। यह समाज की अनुदारता पर टीका नहीं है; बल्कि नेता किन-किन कसौटियों पर कसा जा सकता है और प्रायः कसा जाता है उनका दिग्दर्शन है। समाज के पास नेता की सच्चाई की परीक्षा के यही सधान हैं। इनका सामना करते हुए भी नेता जब अपने उद्देश्य से पीछे नहीं हटता, तब समाज उसकी बात मानता है। सच्चे

---

* यहाँ देशभक्तों के जीवन के सम्बन्ध में महाराष्ट्र में प्रचलित दो गान उपयोगी होंगे—

(१) जो लोक कल्याण, साधावया जाण घेई करी प्राण, त्या सौख्य कैंचें ?
निन्दाजनीं त्रास, अपमान उपहास, अर्थी विपर्यास, हें व्हावयाचें।
बहूकष्ट जीवास दुष्टान्न उपवास, कारागृहींवास हे भोग त्याचें॥

(२) देशभक्तां प्रासाद बन्दिशाळा। शृंगळेच्या गुंफिल्या पुष्प-माळा॥
चिता-सिंहासन शूल राजदण्ड। मृत्यु दैवत दे अमरता उदण्ड॥

आदमी को इतने कष्ट-सहन के बाद समाज अपनावे—यह है तो एक विचित्र और उलटी बात; पर समाज में झूठे, पाखंडी, स्वार्थ-साधु लोग भी होते हैं—उनके धोखे से बचने के लिए समाज के पास यही उपाय रह गये हैं। उनके अस्तित्व का दण्ड सच्चे आदमी को तब तक भुगते छुटकारा नहीं है जब तक समाज में झूठों, पाखंडियों और ठगों का जोर बना रहेगा।

दूसरे, जानता के स्वागत, सहयोग और अनुकरण पर से अपने कार्य की शुद्धता का अनुमान या निर्णय न करना चाहिए। जानता तो सदा अपने तात्कालिक लाभ को देखती है; आपके मूलतः अशुद्ध कार्य से भी उसका उस समय लाभ होता हुआ दीखेगा तो वह आपके पीछे दौड़ पड़ेगी, परन्तु, इसी तरह जब उसका कुफल भोगने का अवसर आवेगा, तब वह आपको कहीं का न रहने देगी। संसार में आम तौर पर सब अच्छे के साथी होते हैं—बुरे के बहुत कम—और होने भी क्यों चाहिए? कार्य की शुद्धता जानने के लिए एक तो उसे अपने हृदय को देखना चाहिए और दूसरे यह देखना चाहिए कि कार्य का स्वरूप अनैतिक तो नहीं है। वह ऐसा तो नहीं है जो उसके ध्येय और निश्चित नीति तथा दावों के प्रतिकूल हो। मनुष्य कुटुम्ब समाज और जगत् को धोखा दे सकता है; परन्तु उसके हृदय में छिपे सतत जाग्रत चौकीदार को धोखा नहीं दे सकता। मैं किसीके घर में चोरी करने के भाव से गया हूँ। अथवा उसका कोई भला करने गया हूँ, इसे मेरा दिल जितना अच्छी तरह जान सकता है उतना और कोई नहीं। हां, कर्तव्य-मूढ़ता की बात दूसरी है। कभी-कभी मनुष्य की समझ में ठीक-ठीक नहीं आता कि इस समय मेरा क्या कर्तव्य है। कभी-कभी उसके निर्णय में भूल भी हो जाती है। पर यह तो क्षन्तव्य ओर सुधारणीय है। यदि

नेता तनिक भी विचारशील है तो फौरन् उसे अपनी गलती मालूम हो सकती है।

यदि स्वयं भूल न मालूम हो; पर दूसरा दिखा दे तो उसे सरल और कृतज्ञ हृदय से मान लेना चाहिए। भूल मालूम होने पर उसे न मानने, न सुधारनें में खुद अपनी ही हानि है। अभिमान, मिथ्या बड़प्पन का भाव, कई मनुष्यों को भल-स्वीकार करने से रोक देता है; परन्तु नेता को तो इसके लिए सदा तैयार रहना चाहिए। कभी-कभी ऐसे प्रसंग आते हैं कि भूल सुधारने के लिए मनुष्य तैयार हो जाता है; परन्तु उसे प्रकट होने देना नहीं चाहता। इसमें क्षणिक लाभ हो सकता है—परन्तु वृत्ति तो, तुरन्त स्वीकारनें, आवश्यकता है तो उसे **प्रकट** करने, और सुधारने—जिसके प्रति भूल हुई है, या जिसको उससे हानि पहुँची हो उससे, क्षमा चाहने की ही अच्छी है। क्षमा-याचना से केवल दूसरे को ही सन्तोष नहीं होता,—हमारे हृदय की शुद्धता का ही इत्मीनान नहीं होता; बल्कि हमारे मन को भी शिक्षा मिलती है। जहां तक अपने मन पर होनेवाले असर से ताल्लुक है क्षमा-याचना एक प्रकार का प्रायश्चित्त ही है। प्रायश्चित्त का वह भाव, जो दूसरे की हानि को अनुभव करता है और इसलिए उस पर अपनी ओर से खेद और पश्चात्ताप प्रदर्शित करता है, क्षमा-याचना कहलाता है। कभी-कभी स्थिति को सुलझाने के लिए भी मस्लहतन् माफी मांग ली जाती है; परन्तु इससे दोनों के दिलों पर कोई अच्छा असर नहीं होता। न क्षमा मांगनेवाले का सुधार होता है, न क्षमा चाहनेवाले को सच्चा सन्तोष। उल्टा उसके मिथ्याभिमान की वृद्धि होने का भय रहता है। कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता है जब मनुष्य भूल सुधारने के लिए तो तैयार हो जाता है किन्तु क्षमा मांगना नहीं चाहता। उसमें वह अपनी मान-हानि

समझता है। इसका सरल अर्थ यह है कि वह सिर्फ अपनेको सन्तुष्ट कर लेना चाहता है, अपना लाभ कर लेना चाहता है; परन्तु दूसरे के दु:ख, हानि की उसे उतनी परवा नहीं है। यह एक प्रकार की अहम्मन्यता ही है। यह अमानुषता भी है। अपने हाथ से किसीकी हानि हो गई हो, किसीके दिल को चोट पहुँच गई हो, हमनें समझ भी लिया कि हमने ठीक नहीं किया, फिर भी उसके प्रति हम इतने भी विनम्र न हों—यह अमानुषता नहीं तो क्या है? सच पूछिए तो इसमें हमारी अधिक हानि है—अधिक अपमान है—क्योंकि हरएक समझदार और जानकार आदमी हमसे मन में घृणा करने लगता है। अतएव नेता को यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि हृदय की सरलता और स्वच्छता से बढ़कर सफलता और विजय का अमोध साधन संसार में नहीं है। युक्तियों और तर्कों से आप मनुष्य को निरुत्तर कर सकते हैं; दिमागी चालाकी से आप साफ-पाक बेलौस दिख सकते हैं; परन्तु आप किसीके हृदय को नहीं जीत सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि दिमाग की अपेक्षा दिल में ही अन्तरात्मा ने अपना डेरा डाल रक्खा है। कई बार यह अनुभव होता है कि दिमाग साथ नहीं देता, समझा नहीं सकता है; किन्तु दिल में बात जँच गई है। यदि हमने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया है कि बल आखिर सच्चाई में है, भला आखिर सच्चाई में है, तो फिर दिमागी कतर-ब्योंत व्यर्थ है। सच्चाई और झुठाई छिप नहीं सकती।

नेता का एक सहकारी-वर्ग तो होता ही है। वही आगे चलकर एक दल बन जाता है। जब दल सुसंगठित होने लगता है तब नेता पर विशेष जिम्मेवारी आजाती है। जनता के हित के साथ उसे अब अपने दल के हित का भी खयाल रहने लगता है। फिर वह यह मानने लगता

है कि मैं अपने दल को बढ़ाकर और मजबूत रखकर ही जनता की सेवा अच्छी तरह कर सकता हूँ—इसलिए जनता के हित से भी अधिक चिन्ता दल की रखने लगता है। कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता है कि दल के हित और जनता के हित में विरोध दीखने लगता है। यदि जनता के हित पर ध्यान देता है तो दल से हाथ धो बैठना पड़ता है; यदि दल का हित देखना है तो जनता के हित की उपेक्षा करनी पड़ती है। ऐसी दशा में सच्चे नेता का कर्तव्य है कि वह जनता के हित पर अड़ा रहे। दल जब कि जनता के ही हित के लिए बना है तब दल का ऐसा कोई स्वतंत्र हित नहीं हो सकता जो जनता-हित का विरोधी हो। दल में यदि व्यक्तिगत महत्वाकांक्षायें नहीं हैं तो ऐसे विरोध की संभावना बहुत कम रहेगी। नेता के लिए यह परीक्षा का अवसर है। दल से उसे अपनेको पृथक् करना पड़े, अथवा दल को तोड़ देना पड़े—तो उसे इसमें जरा भी हिचपिचाहट न होनी चाहिए। दल जनता-हित का साधन है और उसे सदा इसी मर्यादित स्थिति में रहना चाहिए।

समाज या देश में दूसरे दल भी हुआ ही करते हैं। वे भी उतने ही जनता-हित का दावा और कार्यक्रम रखते हैं। एक दल अपनेको श्रेष्ठ और दूसरे को कनिष्ठ दिखाने की गलती न करे। जनता का हित जिस दल के द्वारा अधिकाधिक होगा उसे जनता अपनाती चली जायगी। सब दल जनता के सेवक हैं इसलिए उनके परस्पर विरोधी बनने का सहसा कोई कारण नहीं है। उनका मार्ग जुदा हो सकता है; परन्तु परस्पर विरोध करके, लड़के और आपस में तू-तू—मैं-मैं करके अपना मार्ग अधिक सच्चा और हितकर साबित करने की अपेक्षा प्रत्येक जनता-हित को सिद्ध करनें का अधिक यत्न करे। धन या संख्या का बल दल का वास्तविक बल नहीं होता; बल्कि सेवा की मात्रा होता है। जो दल

वास्तविक सेवा करेगा उसका बल अपने आप बढ़ेगा—लोग खुद आ-आकर उसमें शामिल होंगे। आज भारत में कांग्रेस दिन दूनी बढ़ रही है और दूसरे दल पिछड़ रहे हैं। इसका रहस्य यही है। अतएव नेता को चाहिए कि दलबन्दियों की अनुदारता और एक देशीयता से अपने को बचावे। देशभक्ति और सच्चाई का जितना श्रेय वह अपने दल को देता है उतना ही वह दूसरे दलों को भी देने के लिए तैयार रहे। उनके प्रति अधिक उदारता और सहिष्णुता का परिचय दे। अपने दल के साथ चाहे एक बार अन्याय होना मंजूर कर ले; परन्तु दूसरे दलवालों के साथ न होने दे। इस वृत्ति से अपने दल के संकुचित और एकांगी लोगों के असन्तुष्ट होनें का अन्देशा अवश्य है; परन्तु यह जोखिम उसे उठानी चाहिए। अन्यथा उसका दल कभी फैल न सकेगा, प्रतिकूल या भिन्न मत रखनेवालों को अपने मत की श्रेष्ठता आप नहीं जँचा सकते यदि आप उनके प्रति सज्जनता, न्याय, सहिष्णुता और उदारता का व्यवहार नहीं रखते हैं। भिन्न या विरोधी मत होने के कारण हमारे हाथों उनके प्रति अन्याय हो जाना सहज है--इसीलिए इस बात की बहुत आवश्यकता है कि हम इस विषय में बहुत जागरूक रहें। यदि हम सदैव सत्य पर दृष्टि रखेंगे; सत्य की रक्षा, सत्य के पालन से बढ़कर व्यक्तिगत या दलगत लाभों और हितों को समझेंगे तो हम खतरे से बहुत आसानी से बच जायँगे। सत्य की साधना हमें कभी गलत रास्ते नहीं जाने देगी। हां, इसके लिए हमारे अन्दर काफी साहस, जोखिम उठाने का धीरज, बुरा, बेड़ा गर्क कर देनेवाला कहलानें की हिम्मत होनी चाहिए। ऐसे प्रसंग आ जाते हैं जब विरोधी की बात ठीक होती है; पर हमारे दल के लोग नहीं पसन्द करते कि उस औचित्य को स्वीकार किया जाय। ऐसी स्थिति में नेता यदि अपने दल की बात मानेगा तो विरो-

धियों को अपने नजदीक लाने का अवसर खो देगा—क्योंकि उसकी न्यायपरायणता पर से उनका विश्वास हटने लगेगा; यदि अपने दल को खुश नहीं रखता है तो सारी जमीन ही पांव के नीचे से खिसकी आती है। अपने दल में से उसकी जगह चली जा रही है और विरोधी दल में पांव रखने की गुंजायश नहीं। वह 'न घर का न घाट का' रहने की स्थिति में अपनेको पाता है। ऐसी दशा में एकमात्र सत्याचरण, न्याय-निष्ठा ही उसकी रक्षिका हो सकती है। उसे यह विश्वास रखना चाहिए कि आखिर सत्य और न्याय को अनुभव करने की प्रवृत्ति सबमें होती है। आज यदि क्षणिक लाभ या संकुचित हित हमारे सत्य और न्याय के भावों को मलिन कर रहा है तो कल अवश्य दोनों दल के लोग उसे अनुभव करेंगे। यदि सार्वजनिक प्रतिष्ठा-भंग होने का गलत खयाल उन्हें गुमराह करके उनसे उसी समय उसे न कहलावे तो कम-से-कम दिल उनका गवाही जरूर देगा कि इसने सच्चाई का साथ दिया है और यह बहादुर आदमी है। जो सच्चाई के खातिर अपना दल, मान, बड़ाई, छोड़ देने के लिए तैयार हो जाता है, विरोधी ही नहीं, सारा जगत् उसको माने बिना नहीं रह सकता। इसलिए नेता सदा यह देखे कि भिन्न या विरोधी मत रखनेवालों का **दिल** मेरे लिए क्या कहता है? वे सर्वसाधारण के सामने, अपने व्याख्यानों लेखों और वक्तव्यों में उसके लिए क्या कहते हैं, इसकी अपेक्षा अपने मित्रों में, घर में तथा क्लबों में, खानगी बातचीत में मेरे लिए क्या राय रखते हैं यह जानना अधिक सत्य के निकट पहुँचावेगा। यदि मैं सच्चा हूँ, यदि मैं न्याय-प्रिय और सत्पुरुष हूँ तो दूसरे लोग मुझे और क्या कैसे समझेंगे? हां, उन्हें मुझे पहचानने में देर चाहे लगे, पर अन्त में उन्हें मेरे इन गुणों की कद्र करनी ही पड़ेगी। सत्य और न्याय के खातिर की गई मेरी साधना, मेरी तपस्या उन्हें सत्य की ओर लाये बिना न रहेगी।

अन्त में नेता को अपनी भूलों, गलतियों के प्रति बहुत कठोर परन्तु साथियों और सहयोगियों के प्रति उदार होना चाहिए। अपने प्रति कठोरता उन्हें अपने आप गाफिल न रहनें की प्रेरणा करेगी और उनके प्रति उदारता उन्हें अपने हृदय-शोधन में लगावेगी—नेता के प्रति स्नेह बढावेगी। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी गलतियां उन्हें बताई न जायें। भूल भयंकर भी हो—पर अच्छा असर तभी होता है जब वह मधुरता, आत्मीय भाव और सहृदयता के साथ बताई गई हो। बिगाड़ हो जाने पर बदले में साथी को हानि पहुँचाना किसी भी दशा में नेता का कर्तव्य नहीं है। भूल होना मनुष्य के लिए सहज बात है। बल्कि भूल के दुष्परिणाम से अपने साथियों और मित्रों को बचाने के लिए आवश्यक हो तो नेता को खुद संकट में पड़जाना चाहिए।

नेता को अपने व्यक्तिगत और सामाजिक आचार में भेद को स्थान न देना चाहिए। साधारण लोग आचार के दो भेद कर डालते हैं–एक, व्यक्तिगत आचार और दूसरा, सामाजिक आचार। वे समझते हैं कि मनुष्य का सामाजिक आचार शिष्टता, सभ्यता और शुद्धतापूर्ण हो तो बस ! सामाजिक बातों में व्यक्तिगत आचार पर ध्यान देने की जरूरत नहीं। जैसे यदि कोई आदमी अपने घर पर गांजा या शराब पीता हो, या चुपके-चुपके व्यभिचार करता हो, पर यदि वह खुले आम ऐसा न करता हो, समाज में उसका प्रचार या प्रतिपादन न करता हो, तो इसे वे दोष न मानेंगे। यदि मानेंगे तो क्षम्य मानेंगे। मैं इस मत के खिलाफ हूँ। मेरी राय में यह भ्रम-पूर्ण ही नहीं, सदोष ही नहीं, महापाप है। मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवत से जुदा नहीं हो सकता। व्यक्तिगत जीवन का असर सामाजिक जीवन पर पड़े बिना नहीं रह सकता। जो मनुष्य व्यक्तिगत जीवन को शुद्ध नहीं रख सकता वह सामाजिक जीवन को क्या शुद्ध रख सकेगा? जो खुद

अपने, एक आदमी के आचार पर कब्जा नहीं रख सकता, वह सारे समाज के आचार पर कैसे रख सकेगा ? मनुष्य खुद जैसा होता है वैसा ही वह औरों को बनाता है, चाहे जान में, चाहे अनजान में। और व्यवहार में भी हम देखते हैं कि समाज पर उसीका सिक्का जमता है जो सदाचारी होता है, जसका व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार का आचार शुद्ध होता है। एक दृष्टि से व्यक्तिगत जीवन उसी मनुष्य के जीवन को कह सकते हैं जिसने समाज से और कुटुंब से अपना सब तरह का सम्बन्ध तोड़ लिया है, जो अकेला किसी जंगल में या पहाड़ की गुफा में जाकर रहता हो और खाने, पीने, पहनने तक के लिए किसी मनुष्य-प्राणी पर आधार न रखता हो, शिक्षा तक न ग्रहण करता हो। परन्तु जिस मनुष्य ने इतना भारी त्याग और संयम कर लिया हो उसका जीवन सच पूछिए तो व्यक्तिगत न रहा, सामाजिक से भी बढ़कर सार्वभौमिक हो गया। उसके चरित्र का असर सारे भूमण्डल पर हो सकता है, और होता है। इस दृष्टि से देखें तो मनुष्य की कोई भी ऐसी अवस्था नहीं दिखाई दे सकती जिसे हम 'व्यक्तिगत' कह सकें। इसीलिए कहा जाता है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सदाचार से जहां तक सम्बन्ध है, सेवा से जहां तक सम्बन्ध है, उसकें जीवन या आचार में व्यक्तिगत और सामाजिक ये भेद हो ही नहीं सकते। यदि हो भी सकें तो व्यक्तिगत आचार की सदोषता क्षम्य नहीं मानी जा सकती, न मानी जानी चाहिए। इसी भ्रमपूर्ण और गलत भावना का यह परिणाम हम देखते हैं कि आज देश-सेवा के क्षेत्र में कितने ही ऐसे लोग मिलते हैं, और मिलेंगें जिन्हें हम सदाचारी नहीं कह सकते, पर जो बड़े देश-सेवक माने जाते, और जिनका जीवन समाज के सामने गलत आदर्श उपस्थित कर रहा है और समाज को गलत राह दिखा रहा है। हां,म यह बात मानता हूँ कि समाज को यह उचित है कि

सेवक के दुर्गुणों पर ध्यान न दे, दोषों की उपेक्षा करता रहे। दुराचार से अपनेको बचाता रहे; पर समाज का यह सौजन्य, यह उदारता, सेवक के आत्म-संतोष का कारण न होनी चाहिए। इससे तो उलटे उसके मन में अधिक शर्म, अधिक ग्लानि उत्पन्न होनी चाहिए। उसे इस बात पर खुशी न होनी चाहिए, फूलना न चाहिए, फख़् न होना चाहिए कि देखो मैं ऐसा होते हुए भी समाज का प्रीति-पात्र हो रहा हूँ, बल्कि इस खयाल से उसकी आंखों से अनुताप के आंसू निकलने चाहिए कि समाज कितना सहिष्णु है, कितना उदार है, कितना गुण-ग्राहक है कि मुझ-जैसे पतित और नराधम को भी इतने आदर की दृष्टि से देखता है। तभी उसके कार्यों को देश-सेवा की श्रेणी में स्थान मिलने की सम्भावना हो सकती है। तभी वह समाज और राष्ट्र को उसके लक्ष्यतक पहुँचा सकता है।

भारत स्वतंत्रता की ओर—

[८]

[१]

भारतीय आन्दोलन

मनुष्य और समाज के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बुनियादी बातों के इतने विवेचन के बाद अब हम इस स्थिति पर पहुँचे हैं कि भारतीय आन्दोलन और उसके दूरगामी परिणामों पर विचार कर सकें। पूर्ण स्वाधीनता, और उसके अटल साधन सत्य और अहिंसा—यह एक ऐसी कसौटी और कुंजी हमारे हाथ लग गई है, जिसपर हम वर्तमान आन्दोलन और भावी सरकार को कस सकेंगे और उसकी गुत्थियां सुलझा सकेंगे।

अहिंसात्मक और सत्य-प्रधान होने के कारण वर्तमान भारतीय आन्दोलन का निश्चित और दूरगामी परिणाम होगा भारतीय स्वतंत्रता। हिन्दुस्तान दुनिया का पांचवां हिस्सा है। महान् प्राचीनता, उच्च संस्कृति, दिव्य तत्त्वज्ञान, अनेक महापुरुष, विविध प्रान्त, प्राकृतिक देन, आदि

विशेषताओं में यह संसार के किसी भी हिस्से से महान् है। एक गुलामी की जंजीर टूटी नहीं कि वह विशाल और प्राचीन देश संसार में भव्य और दिव्य हुआ नहीं। १५ करोड़ लोगों के रूस ने अपनी क्रान्ति के द्वारा सारे संसार में एक हलचल मचादी है। फिर वह क्रान्ति ऐसे साधन—हिंसाकाण्ड—के बल पर हुई है, जिसका नैतिक महत्व भारतीय आन्दोलन के वर्तमान साधन—अहिंसा—से सारे मनुष्य-समाज की दृष्टि में कम समझा जाता है। आम तौर पर कोई यह नहीं कहता कि अहिंसा से हिंसा श्रेष्ठ है। सिर्फ इतना ही कहा जाता है कि कभी-कभी हिंसा से जल्दी काम बन जाता है और दण्ड तथा युद्ध की आवश्यकता जबतक रहेगी तबतक हिंसा-बल से काम लेना पड़ेगा। अर्थात् जो लोग हिंसा-बल के हामी हैं वे भी उसे एक अनिवार्य अल्पकालीन आपद्धर्म-मात्र मानते हैं। ऐसी दशा में भारतीय आन्दोलन का संसारव्यापी प्रभाव स्पष्ट और निश्चित है। भिन्नता और विविधताओं से भरे हुए इतने बड़े देश में यदि अहिंसा-बल से संसार के सबसे बड़े साम्राज्य के छक्के छूट गये तो एक बार सारा संसार चक्कर खाने लगेगा और चारों ओर उथल-पुथल मचे बिना न रहेगी। हिंसाबल का थोथापन तो आज भी लोग समझने लगे हैं; किन्तु अहिंसा के सक्रिय बल पर उनका असीम विश्वास बढ़ जायगा। फलतः हिंसाबल पर अवलम्बित रहनेंवाले राष्ट्रों, समाजों और समुदायों को अहिंसा-बल पर आधार रखना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में लुटेरे-पन का स्थान उन्हें परस्पर के सहयोग को देना पड़ेगा, या यों कहें कि वर्तमान प्रजासत्ताओं की जगह विश्व-कुटुम्ब की निकटवर्ती समाज-व्यवस्था का जन्म या अधिकार होगा।

परन्तु मेरी राय में अभी भारतीय आन्दोलन को सफल होने में कम-से-कम १० साल जरूर लगेंगे। उसके बाद दस-पांच साल शासन-संगठन

और भीतरी सुधारों में लग जायँगे। तबतक और देशों में इस आन्दोलन के नैतिक प्रभावों से जो-कुछ परिवर्तन और सुधार होंगे वे होते रहेंगे। १५,२० साल के बाद भारतवर्ष को दूसरे देशों में अपना सन्देश पहुँचाने की अच्छी फुरसत मिलेगी। भारत का सन्देश संसार को क्या होगा? भारत का जीवन-कार्य क्या होगा? भारत ने समय-समय पर संसार को नये-नये सन्देश दिये हैं—कृष्ण, बुद्ध, महावीर के सन्देश दुनिया में पहुँचे हैं—अब गांधी एक आगे का सन्देश सुनाने आया है। रूस के महान् लेनिन ने एक देन संसार को दी है। उसनें शासन-सम्बन्धी एक आदर्श को व्यवहारिक रूप दिया है। रूस की वर्तमान सोवियट-शासन-प्रणाली अब-तक की तमाम प्रणालियों से नवीन और चकित करनेवाली है। उसके द्वारा कहते हैं, वहां की जनता को अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता मिली है। किन्तु अभी, वह भी, स्वतंत्रता के वास्तविक आदर्श से दूर है। अब समय आ रहा है कि भारतवर्ष संसार को उसके आगे की सीढी पर ले जाय। ऐसी दीखता है कि गांधी, अपने सत्य और अहिंसा के प्रकाश के द्वारा, एक नवीन समाज-व्यवस्था का दर्शन संसार को करावेगा। मेरी समझ में वह व्यवस्था हमें पूर्णस्वतंत्रता के निकट शीघ्र ले जानेवाली होगी। मेरे अन्दाज से वह क्या और कैसी होगी, इसका वर्णन आगे किया जायगा। यहां तो अभी हमें अपने आन्दोलन के सफल होने की शर्तों और अवस्थाओं पर विचार कर लेना है।

यह सफलता दो बातों पर सबसे अधिक अवलम्बित है—एक अहिंसात्मक वातावरण का कायम रहना; दूसरे, लोगों में, प्रत्येक वर्ग और समुदाय में परस्पर सहयोग का भाव बढ़ना। यदि हमने पहली बात को खूब समझ लिया है और मजबूती से समझ लिया है, तो दूसरी बात के सधने में अधिक विलम्ब और कष्ट न होगा। अहिंसा के महत्व और

उपयोग को देखने के लिए तो अबतक के उसके बल और फल के दर्शन ही काफी हैं। परस्पर सहयोग बढ़ाने के लिए भिन्न-भिन्न समुदायों के हितों और स्वार्थों पर ध्यान रखने की आवश्यकता होगी।

किन्तु इसमें दो बड़े विघ्न हैं—(१) मुसलमानों की जिद और (२) देशी नरेशों का प्रश्न। मुसलमानों की मांगें यद्यपि न्याय्य नहीं है और वे देश के आनबान के अवसर पर बुरी तरह अड़ रहे हैं तथापि, मेरी राय में, कलम उनके हाथ में देकर उन्हें सन्तुष्ट कर लेने में किसी प्रकार हानि का डर नहीं है। इसीसे उनके प्रबल और सुसंगठित होकर खुद हिन्दुओं से लड़ बैठने या अफगानिस्तान को हिन्दुस्तान पर चढ़ा लाने की आशंका इस समय करना उचित नहीं है। क्योंकि अव्वल तो वे इतनें कृतघ्न न होंगे, उनमें अब राष्ट्रीय विचार रखनेवालों का जोर बढ़ रहा है, और हम उन्हें पूर्ण संतुष्ट कर देंगे तो फिर उन्हें हमसे शिकायत ही क्या रह जायगी? यदि हमारे इस सद्-व्यवहार का उन्होंने दुरुपयोग भी किया तो दुनिया उन्हींको थूकेगी और वे देश के बहुमत से आंखें मिलाने लायक न रहेंगे। इसके विपरीत आज हम उनके साथ तराजू हाथ में लेकर बैठे हुए हैं और बूंद-बूंद उन्हें दे रहे हैं। इसका फल यह हो रहा है कि अपने स्थान से हटकर हम दे भी रहे हैं, बहुत कुछ दे भी चुके हैं—अब सिर्फ पूंछ भर बाकी रह गई है—पर फिर भी उनका संशय बना ही हुआ है और यदि यही हालत रही तो एक तो आन्दोलन की सफलता में विलम्ब होगा और दूसरे जब हमारी सरकार बननें लगेगी तब कई दिक्कतें पेश आ सकती हैं। इसलिए अभी से मुसलमानों के साथ हमें ठीक वैसा ही बर्ताव करना चाहिए, जैसा घर में एक छोटे जिद्दी भाई के साथ ऐसे विकट और नाजुक मौके पर किया करते हैं।

देशी नरेश यों भारतीय स्वाधीनता के विरोधी नहीं मालूम पड़ते;

किन्तु वे अपनी स्थिति के विषय में सजग और चिन्तित अवश्य हैं। अतएव उन्हें, जैसा कि नेहरू-रिपोर्ट में किया गया था, उनकी वर्तमान स्थिति को कायम रहने देने का आश्वासन देते रहना सब प्रकार उचित होगा। इस समय उनकी ऐसी स्थिति है कि भारतीय स्वतंत्रता को वे लाभ चाहे न पहुँचा सकें, पर उसके बड़े विघ्न जरूर बन सकते हैं—हमें कमजोर बनाने में उनकी शक्ति बहुत काम दे सकती है। अतएव उनके साथ ऐसा व्यवहार करना, जिससे वे उलटा हमारे प्रतिपक्षियों का बल बढ़ावे, हमारी रणचातुरी का परिचायक न होगा; बल्कि मेरी राय में तो इस समय देश में कोई भी ऐसा आन्दोलन उठाना या ऐसी कोई कोशिश करना, जिससे देश के भिन्न-भिन्न दलों और वर्गों में परस्पर कलह और संघर्ष हो या बढ़े, बिलकुल ना-समझी और अदूरदर्शिता होगी। यदि अभी से हम इसका अधिक ध्यान रक्खेंगे तो स्वराज्य-सरकार के बनते समय भी हमें विशेष कठिनाइयों का सामना न करना पड़ेगा। पर यदि अभी से हमने तरह-तरह के भय के भूतों से डरकर, भिन्न-भिन्न समुदायों को भड़काते रहने का उद्योग किया तो हमारी सफलता में ही विघ्न खड़े होंगे और दूसरे सरकार की स्थापना के समय गृह-कलह का पूरा अन्देशा रहेगा। इसके प्रतिकूल यदि अभी से हम इन्हें संतुष्ट रखते रहेंगे तो तब और भी इन्हें शिकायत का, असंतोष का, कोई कारण न रहेगा और इतने पर भी कोई अनहोनी बात इनकी तरफ से हुई तो गलती पर ये ही रहेंगे, हम नहीं, और उसका सब 'फल' इन्हींको भोगना पड़ेगा, हमें नहीं।

एक और विघ्न रह गया है। वह खुद देश-भक्तों की तरफ से है और उसके मूल में देश-सेवा तथा स्वराज्य आन्दोलन की सफलता का भाव ही है। वह है अहिंसा-प्रयोग के साथ-साथ यत्र-तत्र हिंसा-प्रयोग। यदि हिंसा के बल पर सुसंगठित और सफल युद्ध करने की स्थिति में

भारत होता तो शायद उसे अहिंसा-बल को अजमाने की इच्छा ही न पैदा होती; पर अब जब कि वह रास्ता बन्द है और दूसरे बल से देश में इतनी जागृति, निर्भीकता, बल और संगठन का परिचय मिल गया है, तब भी सेनापतियों के बार-बार मना करने पर भी बम का फूट जाना और पिस्तौलों का चल पड़ना अवश्य आश्चर्य और दुःख में डालता है। सरकार के एजेण्टों के भी ये कृत्य हो सकते हैं, जिससे ख्वामख्वाह यह बताया जा सके कि देखिए, शान्तिमय युद्ध कहां हो रहा है, शान्ति की ओट में मार-काट हो रही है, और दूसरे उन्हें अन्धा-धुन्ध दमनों एवं भय प्रयोग के लिए मनचाहा अवसर मिल जाय। किन्तु बड़े-बड़े सरकारी कर्मचारियों पर बम-पिस्तौल चलने की खबरें सिर्फ इसी नतीजे पर नहीं पहुँचातीं। हमारे ये भाई अधिक नहीं १० साल और ठहर जावें तो बड़ी हानि न नहीं। उनकी जल्दबाजी से आजादी जल्दी नहीं आवेगी, बल्कि दूर चली जा रही है, विघ्न और असुविधायें बढ़ रही हैं और इसका बुरा असर हमारी भावी सरकार के संगठन पर भी होगा।

एक आशंका यह भी की जा सकती है कि अपनी सरकार बनते समय यहां गृह-कलह हो जाय और वह हिंसात्मक हो सकता है। यदि ऐसा हो तो प्रथम तो सरकार की स्थापना ही मुश्किल, दूसरे उसके संगठन में अहिंसा की नहीं बल्कि हिंसा की तूती बोले बिना न रहेगी। गृह-कलह या तो हिन्दुओं और मुसलमानों में हो, या देशी राजाओं और भारतीय जनता में हो, या अन्य अल्प-संख्यक तथा बहुसंख्यक जातियों में हो। मुसलमानों और हिन्दुओं के कलह में अफगानिस्तान की सहायता की आशंका हो सकती है और कई लोगों को हो भी रही है। यह विषय विस्तार के साथ समझ लेने की जरूरत है, इसलिए इसका विवेचन अगले प्रकरण में करेंगे।

[२]

गृह-कलह की आशङ्का

मेरी राय में तो यह आशंका तबतक बनी रहेगी, जबतक हम अभी से उसके कारणों को दूर करने की हार्दिक चेष्टा न करते रहेंगे। हिन्दू-मुसलमानों में अविश्वास का भाव मौजूद है और हिन्दुओं को यह भय है कि सिन्ध प्रान्त के अलहदा हो जाने, पंजाब में उनको अधिक प्रतिनिधि दिये जाने और सीमा-प्रान्त में अधिक सुधार हो जाने से उत्तरी भारत का बड़ा हिस्सा प्रायः मुसलमानों के ही कब्जे में चला जायगा; फिर उनके लिए सुसंगठित होकर हिन्दुओं से लड़ना या अफगानिस्तान को भारत में चढ़ा लाना आसान होगा। इस सम्बन्ध में कई बातें विचार करने योग्य हैं। यदि हम मुसलमानों की मनचाही मांगें पूरी कर दें, उन्हें छोटे भाई के से स्नेह से रक्खें, और फिर भी वे दगाबाजी या बेईमानी कर जायँ, तो भारत की दूसरी जातियों और अफगानिस्तान को छोड़कर दूसरे पड़ौसी राष्ट्र जरूर भारत के तरफदार होंगे। अव्वल तो मुसलमान इतने नमकहराम होंगे नहीं। दूसरे वे हुए भी तो अफगानिस्तान की सरकार से उन्हें सहायता मिलेगी नहीं। क्योंकि एक तो अफगानिस्तान बिना किसी दूसरे राष्ट्र की सहायता से भारत पर चढ़ाई न करेगा। दूसरा कोई ऐसा प्रबल राष्ट्र नजदीक है नहीं, जो ऐसे समय उसकी सहायता करे। फिर अफगानिस्तान या उसका कोई पड़ौसी राष्ट्र ऐसा उद्योग-प्रधान भी तो नहीं है जिसे अपने बाजार के लिए हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करके उसे अपने कब्जे में रखना पड़े। यदि राज्य-विस्तार के लिए मुसलमानों और अफगानों का कोई

प्रयत्न हो तो यह व्यर्थ होगा। क्योंकि एक तो आजकल महज राज्य-विस्तार के लिए अनुकूल वातावरण भूमण्डल पर कहीं भी नहीं है। उसके प्रतिकूल अपने ही देश में सुखी, स्वतन्त्र, स्वावलम्बी रहने की ओर प्रत्येक देश की रुचि बढ़ रही है। दूसरे सहायक राष्ट्र बिना साझे के प्रलोभन के अफगानिस्तान का साथ क्यों देगा ? फिर हिन्दुओं और दूसरी जातियों से बैर बसाकर मुसलमान, अफगान या उनके सहायक राष्ट्र कितने दिनों तक अपनी खैर मना सकते हैं ? यदि अपने बिरते पर काम न चला तो हिन्दुस्तान, जापान और चीन की मदद ले सकता है। चीन और जापान की तरफ से तो चढ़ाई की सम्भावना हो सकती नहीं। फिर क्रान्ति की सफलता के चिन्ह नजर आते ही हम पड़ौसी राष्ट्रों के नाम एक घोषणा निकालेंगे, जिसमें उनके साथ मित्रता का व्यवहार रखने, उनके राष्ट्रों के लिए समय पड़ने पर आवश्यक सामग्री पहुँचाने आदि का आश्वासन दिया जायगा। हम साफ-साफ कहेंगे कि हमारी नियत किसी तरह पड़ौसी राष्ट्रों को दु:ख देने या उन्हें हड़पने की नहीं है। अतएव अपनें हड़पे जानें के डर से भी किसीके चढ़ाई करने की सम्भावना न रहेगी। इसके अलावा मुसलमानों की आबादी ६ करोड़ और दूसरी जातियों की लगभग २८ करोड़ है। अकेले हिन्दुओं की संख्या ही २४ करोड़ है। निस्संदेह भारतीय क्रान्ति हिन्दुओं के बल पर अधिक आधार रखती है। प्रभानतः उन्हीं के बल पर यदि ब्रिटिश सल्तनत को झुकना पड़ा, तो फिर अफगानिस्तान या किसी दूसरे राष्ट्र की क्या ताब कि वह उसकी ओर आंख उठाकर भी देख सके ? मर-मिटने पर तुल जानेवाली एक छोटी जाति को भी नेस्तनाबूद कर देना बड़े-से-बड़े राष्ट्र के लिए भी सम्भव नहीं है, तब २१ या २५ करोड़ के राष्ट्र को मुसलमान किसी तरह नहीं निगल

सकते; यदि निगला भी तो हजम होना और भारी पड़ेगा। यहां यह न भूल जाना चाहिए कि यदि जरूरत पड़ी ही तो हिन्दू या हिन्दुस्तान शस्त्र-बल का सहारा लेने से भी न चूकेंगे। यदि ऐसा ही करना पड़ा तो उस समय बननेवाली सरकार में बहुत सम्भव है तलवार का जोर रहेगा, जो कि वास्तविक स्वतन्त्रता की ओर उसे ले जाने में बाधक होगा। बल्कि मेरा तो उलटा यह खयाल है कि यदि मुसलमानों ने ऐसी बेईमानी की ही तो उस स्थिति से लाभ उठाकर अफगानिस्तान के बजाय अंग्रेज फिर अपना प्रभुत्व यहां आसानी से जमा सकते हैं। जो हो, मुझे तो इतनी बात निर्विवाद और असन्दिग्ध मालूम होती है कि यदि हमारा व्यवहार मुसलमानों के साथ भाईका-सा रहा तो यह सब होने की सम्भावना नहीं रह जायगी।

इस पर एक यह शंका उठती है कि इस तरह मुसलमानों की जिद को पूरा कर देने से दूसरी अल्प-संख्यक जातियां भी क्यों न विशेषाधिकारों का अड़ंगा लगावेंगी? यदि मान भी लिया जाय कि ३४ करोड़ में से १० करोड़ छोटी जातिवाले विशेषाधिकार पा गये, या उन्हींके हाथों में यहां की भावी सरकार चली गई, तो इससे बिगड़ेगा क्या? अंग्रेजों की बनाई इस मौजूदा सरकार से तो हर तरह बेहतर ही होगी। और क्या किसीको यह डर हो रहा है कि हिन्दू जैसी प्राचीन और प्रबल जाति को उन्हींकी बहन जातियां पीसकर खा जायँगी, जब कि मुख्यतः उन्हींकी कुर्बानियों से भारत में स्वराज्य हुआ होगा?

अब सिर्फ देशी-नरेशों का प्रश्न रह जाता है। इनमें अधिकांश तो मन में यह जान चुके हैं कि यदि हमने लोकमत के आगे सिर न झुकाया तो हमारे दिन इने-गिने हैं। अतएव उनका रुख अपने भरसक तो यही रहेगा कि भारतीय स्वतन्त्रता में किसी प्रकार बाधक न हों। पर यदि

हम उन्हें उनको निर्मूल कर डालने की धमकियां दे-देकर डराते रहे तो आत्म-रक्षा के लिए, सम्भव है, वे देश-द्रोही भी बन जायें। आज तो यों भी वे, सन्धि-पत्रों के अनुसार, ब्रिटिश सरकार की सहायता करने के लिए बँधे हुए हैं। पर ज्यों ही वे देखेंगे कि भारतीय क्रान्तिकारियों का पलड़ा भारी हो रहा है, अंग्रेजी सरकार के पांव उखड़ रहे हैं, तो वे उनका साथ दिये बिना न रहेंगे; क्योंकि उसी दशा में वे उनके हाथों अपने हित की कल्पना करेंगे। दूसरे यदि क्रान्ति सफल होनें के अवसर पर उन्होंनें क्रान्तिकारियों के खिलाफ अपना बल लगाया तो उनकी प्रजा में भी जबरदस्त बगावत हुए बिना न रहेगी; और भारतीय क्रान्तिकारी भी उनमें आग फैलाये बिना न रहेंगे। कई देशी-नरेशों की प्रजा जो आज भी उतावली हो रही है—भारतीय नेता अभी खुद ही उन्हें शान्ति धारण करने पर मजबूर कर रहे हैं और रोक रहे हैं। पर उस अवस्था में तो चारों ओर आग फैलाना उनका धर्म हो जायगा। अतएव इस समय हमारा कर्तव्य, बुद्धिमत्ता और होशियारी यही कहती है कि देशी-नरेशों को हम अपने मुखालिफ होने का अवसर ही न दें। किसीको अपना साथी या मुखालिफ बना लेना हमारी रीति-नीति पर ही अवलम्बित रहेगा। यदि हम विश्वास, मित्रता और बन्धुता की नीति पर चलेंगे तो उनके हृदयों पर स्थायी अधिकार कर लेंगे; यदि क्षुद्र बुद्धि और चालबाजियों से काम लेंगे तो बहुत खोकर भी, क्या अल्प-संख्यक जातियों तथा क्या देशी-नरेशों, सबको अपना शत्रु बनाये बिना न रहेंगे। और इस समय, जबकि दुनिया जाति-पांति तो ठीक, भौगोलिक भेद-भावों से भी आगे बढ़ना चाहती है, मुसलिम-राज या हिन्दू-राज की कल्पना करना तो पागलपन ही कहा जा सकता है।

---

[३]

भारत का सन्देश

भारत का सन्देश दुनिया को क्या होगा ? कब वह दुनिया में उसे फैलाने के लिए तैयार होगा ? यह बहुत कुछ इस बात पर अवलंबित है कि भारत की भावी सरकार कैसी होगी। यदि अपनी सरकार बनाने में भारतीय जनता पूरी स्वतन्त्र रही तो सन्देश जल्दी और अपने वास्तविक रूप में दिया जा सकेगा। भावी सरकार चाहे समझौता होकर बने, चाहे क्रान्ति सफल होकर बने, एक बात निर्विवाद है कि उसके निर्माण में महात्मा गांधी और पं० जवाहरलाल नेहरू का विशेष हाथ और प्रभाव रहेगा, यदि तब तक इन दोनों नेताओं की उम्र बरकरार रही। दूसरे, यह बात भी उतनी ही निर्विवाद है कि समझौता या क्रान्ति दोनों दशाओं में इनका मूलाधार होगा जनता की जागृति और कुरबानी। अतएव जिनके बल पर सफलता मिलेगी, उन्हींका प्रभाव भावी सरकार के संगठन में निश्चित रूप से रहेगा। पं० जवाहर-लाल समाजवाद का आदर्श रखनेवाले और महात्माजी उनसे एक कदम आगे, अपरिग्रह के पुजारी, हैं।* ऐसी दशा में यह बेखटके कहा जा सकता है कि भावी सरकार में सर्व-साधारण की ही आवाज प्रबल रहेगी, धन-बल और शस्त्र-बल की नहीं। धन-बल या पूंजी-वाद भारत में है भी नहीं ; धनियों के द्वारा एक किस्म का सर्व-साधारण का शोषण जरूर होता है, धनी खुद अपनेको धन-बल पर बड़ा जरूर मानते हैं। दूसरे भी धन-बल के कारण धनियों से दबते हैं, पर फिर भी पूंजीवाद

* परिशिष्ट ३ देखिए।

भारत में नहीं है। पूंजीवाद के मानी हैं संगठित धन-बल और उसका वहां की सरकार पर अमित प्रभाव, जिसका फल हो धनियों का दिन-दिन धनी बनते जाना और गरीबों का दिन-दिन गरीब बनते जाना। यह हालत भारत में नहीं है। फिर यहां के व्यापारी या धनी अथवा जमींदार स्वराज्य-संग्राम में भी योग देने लगे हैं और भावी सरकार की स्थापना के समय वे अपनी महत्ता या प्रभाव जमाने का प्रयत्न बहुधा न करेंगे। यदि करें भी तो वे तभी सफल होने की आशा रख सकते हैं, जब कोई बाहरी स्वतन्त्र पूंजीवादी राष्ट्र उनकी पीठ पर हो। ब्रिटिश साम्राज्य को शिकस्त देने के बाद शायद ही कोई राष्ट्र इनकी सहायता करने के लिए तैयार होगा; दूसरे यहां के व्यापारी या धनी इतने मूर्ख और देशद्रोही नहीं हैं, जो ऐसे समय दूसरे राष्ट्रवालों से मिलकर जय-चन्द का काम करें। इसलिए मुझे तो यह आशंका बिलकुल नहीं है कि स्वराज्य-सरकार में पूंजीवादियों की प्रबलता होगी और सर्व-साधारण जनता को फिर अपनी पहुँच करने के लिए दूसरी लड़ाई लड़नी होगी।' या जनता-क्रान्ति करनी होगी। और यदि करनी पड़ी भी तो जिस शक्ति ने सुसंगठित साम्राज्य को ढीला कर दिया होगा, वह क्या मुट्ठी-भर पूंजीपतियों के कोलाहल या प्रभाव से दब जायगी ?

शस्त्र-बल या सेना-बल यों तो किसीके पास भारत में रहा नहीं है, हां, देशी नरेशों के पास थोड़ी-सी सेना है; वे शस्त्र-बल के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। लेकिन इसके बल पर वे भारतीय सरकार का अंग बनने में सफल नहीं हो सकते। हां वे अपनी जान अलबत्ता बचा लेना चाहते हैं। सो यह अधिकांश में अवलम्बित है उनके स्वराज्य-संग्राम-सम्बन्धी रुख पर। यदि उनका व्यवहार सहानुभूति-पूर्ण रहा, तो अपनी सरकार बनते समय उनकी सुरक्षा का खयाल लोगों को स्वा-

भाविक तौर पर रहेगा ही; यदि उन्होंने इस समय बेरुखापन दिखाया तो उस समय वे अपने लिए सहानुभूति पाने की आशा कैसे रख सकते हैं ? इसके अलावा देशी नरेशों की संख्या बहुत है और उनमें इस पर एका होना मश्किल है कि भारत में जनता की और जनता के नेताओं की इच्छा के खिलाफ अपना राज्य जमा लिया जाय। शुरुआत में एका हो भी जाय तो अखीर में बटवारे के या बड़ा राजा चुनने के समय आपस में झगड़ा हुए बिना न रहेगा। और ऐसे देशभक्त राजा भी हैं, जो अभी से ऐसी किसी कु-योजना का हृदय से विरोध करेंगे।

इससे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि जो सरकार हमारी बनेगी, वह जनता की बनाई हुई होगी और उसीका बोलबाला उसमें रहेगा। और जबकि घोर युद्ध और क्रान्ति के दिनों में सत्य-प्रधान और अहिंसात्मक साधनों से सफलता मिली होगी, तब सरकार और समाज की बुनियाद इन्हीं पर डाली जायगी, यह स्पष्ट है। और जिसके मूला-धार सत्य और अहिंसा होंगे, वह निस्सन्देह पूर्ण स्वतन्त्रता की इमारत होगी। भले ही शिखर तक पहुँचनें में काफी समय लगे; पर उसकी बुनियाद और खम्भे उसीको लक्ष्य करके खड़े किये जायँगे। इस तरह सच्ची और पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर शीघ्र ले जानेवाली सरकार और इसलिए समाज की रचना का नमूना यह संसार को भारत की नजदीकी देन होगी—दूसरे शब्दों में पूर्ण स्वतन्त्रता और उसके दो बड़े पाये सत्य और अहिंसा का प्रत्यक्ष ढांचा, यह भारत का सन्देश संसार के लिए होगा। यह रूस के सन्देश से बढ़कर होगा।

---

[४]

रूसी और भारतीय सन्देश

रूस ने साम्यवाद या कुटुम्बवाद—कम्यूनिज्म—का नमूना संसार को दिखाया है। वह आदर्श समाज में किसी सरकार की आवश्यकता नहीं मानता। वह पूंजीवाद को या सम्पत्ति के असमान बटवारे को समाज की सारी बुराई की जड़ मानता है। इसलिए उसने ऐसी सरकार बनाई है, जिसमें किसानों और मजदूरों की ही पहुँच है, धनी-मानी लोग उससे महरूम रक्खे गये हैं। वहां यह नियम बना दिया गया है कि सरकार में मत देने का अधिकार उसीको है, जो खुद काम करता हो। जो ठलुए बैठे रहते हैं, या दूसरों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते हैं, उनकी कोई आवाज सरकार में नहीं है। सम्पत्ति का समान बटवारा करने की गरज से उन्होंने किसीको खानगी मिल्कियत रखने का अधिकार नहीं रक्खा है—अभी कुछ समय तक पुराने लोगों को अपनी सम्पत्ति रख छोड़ने का अपवाद कर दिया गया है; पर सरकार में उन्हें राय देने का अधिकार नहीं है। इसके अलावा जमीन-जायदाद, कल-कारखाने सब राज्य के अधीन कर दिये गये हैं। काम करने के एवज में नकद पैसा किसीको नहीं मिलता। सरकार की ओर से दूकानें खुली हुई हैं, वहां से रसद-कपड़े वगैरा जरूरी चीजें सबको मिल जाती हैं। व्यापार और उद्योग-धन्धे भी सरकार के ही आधीन हैं। आदर्श समाज में उन्होंने सब तरह की हिंसा का बहिष्कार माना है; किन्तु अभी सन्धि-काल में, हिंसाबल की आवश्यकता सरकार में समझी गई है। समाज-रचना में ईश्वर और धर्म के लिए कोई जगह नहीं रक्खी गई है और

विवाह-प्रथा को उठाकर स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को बहुत आजादी दे दी हैं। एक स्त्री का कई पुरुष से और भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुषों का भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुषों से सम्बन्ध रह सकता है। सन्तति के पालन-पोषण व शिक्षण का भार राज्य पर है।

जहांतक सर्व-साधारण के सुख-सुविधा-स्वतंत्रता से सम्बन्ध है, उससे पहले शासन-प्रणालियों की अपेक्षा यह निस्सन्देह बहुत दूर तक जाती है। साधन और ठीक-ठीक ज्ञानकारी के अभाव में यह राय कायम करना अभी अठिन है कि वह प्रयोग रूस में कितनी सफलता के साथ हो रहा हैं। अच्छा तो यह हो कि हमारी राष्ट्रीय सरकार बनते ही एक शोधक-मण्डल भारत से रूस को एक साल के लिए भेजा जाय और वहां वह सभी दृष्टियों से नवीन प्रयोगों का अध्ययन करे और फिर उससे यहां लाभ उठाया जाय। फिर भी शासन के बुनियादी उसूलों के गुण-दोष पर विचार करके इतना निस्सन्देह कहा जा सकता है कि कुटुम्बवाद पिछले तमाम वादों की अपेक्षा, सामाजिक स्वतन्त्रता में, बहुत आगे का कदम है। किन्तु साथ ही वह पूरा कदम नहीं है।

पिछले लेखों में हमने देखा है कि जबतक सत्य और अहिंसा को मूलाधार न माना जाय और इन पर अमल न किया जाय, तबतक पूर्ण और सच्ची स्वतन्त्रता का आना और निभना कठिन है। इसके अलावा एक और बात है, जिसमें सोवियट-प्रणाली अधूरी है। सामाजिक अव्यवस्था, विषमता या अशान्ति की असली जड़ सम्पत्ति का असमान बटवारा नहीं बल्कि परिग्रह की वृत्ति है। साधारण आवश्यकताओं से अधिक सामग्री अपने पास रखना ही असली बुराई है। दूरदर्शी विचारकों ने इसे चोरी कहा है। समान बटवारे के मूल में भोगेच्छा और उसके फल-स्वरूप कलह शेष रह जाता है; पक्षान्तर में, अपरिग्रह दोनों की

जड़ में कुठाराघात करता है। समान बटवारा एक ऊपरी इलाज है; अपरिग्रह मनुष्य की इच्छा पर ही संयम लगाना चाहता है। एक बाहरी बन्धन है; दूसरा भीतरी विकास। समान बटवारा जीवन के स्टैण्डर्ड पर कोई कैद नहीं लगाता, सिर्फ सम्पत्ति के समान रूप से बट जाने का निर्णय उसे चाहिए; इसके विपरीत अपरिग्रह जीवन की साधारण आवश्यकताओं तक ही मनुष्य को परिमित बना देना चाहता है। अतएव इसमें मनुष्य के लिए स्वेच्छा-पूर्वक त्याग, संयम और उसके फल-स्वरूप सामाजिक तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता अधिक रहेगी।

पूर्ण-स्वतन्त्रतावादी में और समाजवादी में एक यह भी अन्तर है कि पहला अहिंसा को शुरू से लेकर अन्त तक अनिवार्य और अटल मानता है। यह कहना कि संक्रमण-काल में हिंसा अनिवार्य है, यही नहीं बल्कि वह अन्तिम अस्त्र है, पूर्ण-स्वतन्त्रतावादी की समझ में नहीं आता। आपद्धर्म के रूप में जो बात स्वीकार की जाती है उसके समर्थन का और प्रचार का उद्योग कहीं नहीं किया जाता—अधिक-से-अधिक उसका तात्कालिक बचाव-मात्र किया जा सकता है, और उसे अन्तिम अस्त्र की महत्ता तो हर्गिज नहीं दी जा सकती। अन्तिम अस्त्र के मानी हैं सर्वोपरि अस्त्र। एक ओर हिंसा को सर्वोपरि अस्त्र मानना, और व्यवहार में भी उसका इसी तरह इस्तैमाल करना, इस बात में कैसे श्रद्धा पैदा कर सकता है कि हां, समाजवाद या कुटुम्बवाद की अन्तिम अवस्था में हिंसा का पूर्ण अभाव रहेगा? अहिंसा का वास्तविक लाभ और असली महत्व तो, अधिकांश रूप में, संक्रमण-काल में ही है। क्योंकि जबतक आप समाज को अहिंसा और सत्य की दीक्षा नहीं दे सकते तबतक आप किसी-न-किसी रूप में सरकार—शासक-संस्था को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते, जो कि कुटुम्बवाद के आदर्श के विरुद्ध है। और यह आशा करना भी

अभी तो व्यर्थ-सा ही मालूम होता है कि जबरदस्त और घोर हिंसा-बल के द्वारा एक क्रान्ति हो; उसी प्रकार यह आशा करना भी व्यर्थ-सा ही है कि हिंसा-बल के द्वारा आज भी शासन-संस्था का संचालन होता हो, फिर भी समाज में अहिंसा दिन-दिन बढ़ती ही जायगी। समाज में अहिंसा तो तभी बढ़ सकती है, जब समाज के नेता, शासन के सूत्रधार, अपने जीवन में उसे परमपद दें; अहोरात्र उसके प्रचार में रत रहें, उससे भिन्न या विपरीत भावों का उत्साह और बल अपनी साधना और व्यवस्था के द्वारा न बढ़ने दें; बाहरी बल से किसी को न दबाया जाय, बल्कि भीतरी परिवर्तन से मनुष्य और समाज को ऊँचा उठाया जाय, शान्ति-प्रिय बनाया जाय। इसके विपरीत यदि अग्रणी लोग खुद ही, उनके दायें-बायें हाथ सभी, मुंह से आगे के लिए अहिंसा का नामोच्चारण करें पर क्रिया में सर्वदा हिंसावादी रहें, तो इसपर कौन तो विश्वास करेगा और किस तरह समाज में हिंसावृत्ति का लोप हो सकता है ? यह तो जहर पिलाकर अमर बनाने का आश्वासन देना है। जहां असहिष्णुता इतनी बढ़ी हुई हो कि विरोधी मत तक नहीं प्रकाशित किया जा सकता, सो भी लोकमत के बल पर नहीं बल्कि जेलखाने और पिस्तौल के बल पर, वहां हिंसा के नाश की बात एक मखौल ही समझी जा सकती है। मुझे तो ये बातें परस्पर-विरोधी और एक-दूसरे का घात करनेवाली मालूम होती हैं। अस्तु।

ईश्वर, और धर्म पर पहले सविस्तर विचार हो ही चुका है। यहां तो सिर्फ इतना ही कहना काफी होगा कि रूस की नकल हिन्दुस्तान में नहीं हो सकती—महज इसलिए नहीं कि दोनों जगहों की परिस्थितियों में अन्तर है, बल्कि इसलिए भी कि समाजवाद के माने गये उसूलों में ही अव्वल तो कमी है और दूसरे उसके साधन भी शुद्ध और आदर्श तक ले

जानेवाले नहीं हैं। इस कमीको पूरा करना भारतवर्ष का काम होगा। वह संसार को समाजवाद का नमूना नहीं, बल्कि पूर्ण-स्वतन्त्रता की झलक दिखावेगा। सत्य और अहिंसा उसके पाये होंगे और अपरिग्रह उसका व्यवहारिक नियम। वह सिर्फ अमीरों की जगह गरीबों का राज्य नहीं कायम करेगा, सिर्फ तख्ता नहीं उलट देगा, बल्कि सर्वोदय का प्रयत्न करेगा—शासन-संस्था बनेगी और रहेगी तो ऐसी कि किसी वर्ग-विशेष या जाति-विशेष से द्वेष न होगा, और जब शासन-संस्था को मिटाने का समय आ जायगा तब कोई किसीका हाकिम या शासक नहीं रहेगा बल्कि सब अपने-अपने घर के राजा रहेंगे और होंगे। यही संसार को भारत का सन्देश होगा।

[५]

भारत की पहली सरकार

भारत की पहली सरकार जनता की सरकार होगी, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है और इसके कारण पहले बताये जा चुके हैं। फिर भी वह ऐसी न होगी, जिसमें किसानों और मजदूरों के अलावा किसीकी पहुंच और गुजर ही न हो। उसमें राय देने का अधिकार 'श्रम' पर नहीं, बल्कि 'सेवा' पर होगा। आलस्य, परोपजीवन, निकम्मा-पन, तिरस्कृत होगा; श्रम, उद्योग, काम, सेवा का आदर-मान होगा। संग्रह की जगह पर अपरिग्रह या त्याग उच्चता की कसौटी होगी। सरकार केन्द्र-प्रधान (Unitary) नहीं, बल्कि प्रान्त-प्रधान(Federal) होगी अर्थात् सारे देश में ऊपरी सरकार का दौर-दौरा न होगा, बल्कि भाषा आदि संस्कृति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रान्त या सूबे अपनी शासन

या समाज-व्यवस्था में स्वतन्त्र होंगे और यही नियम तथा प्रवृत्ति ठेठ गांव तक में पहुँचाई जायगी। हर गांव अपने हर भीतरी काम में स्वतन्त्र होगा; सिर्फ दूसरे गांवों की अपेक्षा से ऊपरी सत्ता के अधीन होगा। अपने काम और विकास के लिए वह स्वतन्त्र होगा; और यों सब गांव परस्पर सहयोगी होंगे। यही नियम कुटुम्ब, धन्धा और व्यक्ति पर भी चरितार्थ होगा। हर शख्स अपने काम में स्वतन्त्र, दूसरे की अपेक्षा से सहयोगी और संयमी होगा। हर चीज अपनी जरूरत के लिए स्वाश्रयी और दूसरे के सम्बन्ध से परस्पराश्रयी होगी। जिन उसूलों पर आज हमारी राष्ट्रीय महासभा चल रही है उन्हींका स्वतन्त्र और व्यापक विकास हमारी भावी सरकार होगी। सेना कुछ कालतक रखनी पड़ेगी; पर वह स्थायी नहीं, राष्ट्रीय स्वयंसेवक-सेना होगी। उसका काम अपने ही लोगों को या पड़ौसियों को दबाना, डराना और हड़पना नहीं बल्कि भीतरी और बाहरी आक्रमणों या ज्यादतियों से देश और समाज की रक्षा करना होगा। पुलिस हिफाजत के लिए और जेलें अपराधियों के सुधार के लिए होंगी। उनके भाव राष्ट्रीय सेवा के होंगे, न कि तनख्वाह पकाने और जोर-जुल्म करने के। शिक्षा सार्वजनिक होगी—योग्य और समर्थ नागरिक बनाने के लिए, न कि कारकुन, गुलाम और गली-गली का कुत्ता बनाने के लिए। स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर, सब समान-रूप से शिक्षा पाने के मुस्तहक होंगे। समाज और सरकार में, सार्वजनिक जीवन में, मनुष्य मात्र में समान अधिकार होंगे। पेशे या जन्म के कारण कोई अछूत या नीच नहीं समझा जायगा। व्यापार-धन्धा व्यक्तिहित के लिए नहीं बल्कि देश-हित और समाज-हित के लिए होगा। व्यापार-उद्योग और भिन्न-भिन्न पेशों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होगी; पर उनकी आन्तरिक भावना और वृत्ति स्वार्थ-साधना की न रहेगी। 'सत्य और अहिंसा के द्वारा पूर्ण

स्वतन्त्र होना' नागरिकता का ध्येय होगा। मनुष्य-यन्त्र को पूरा काम मिलने के बाद जड़-यन्त्रों से काम लेनें का नियम रहेगा। देश की आवश्यकता से अधिक होने पर ही कच्चा माल बाहर भेजा जा सकेगा। और घरेलू उद्योग-धन्धों में जो चीजें न बन सकेंगी और जिनकी राष्ट्र के लिए परम आवश्यकता होगी उन्हींके लिए बड़े कल-कारखाने खोले जायँगे। व्यापार-उद्योग स्पर्धा और मालामाल होने के लिए नहीं बल्कि समाज की सुविधा, सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होंगे। हर व्यक्ति हर काम अपनें लिए नहीं बल्कि समाज के लिए करेगा। अपने काम में वह स्वतन्त्र तो होगा; पर उसका जीवन अपने लिए नहीं बल्कि समाज के लिए होगा। जमीन का मालिक किसान रहेगा, पर वह गांव के अधीन रहेगा, अर्थात गांव-हित के विपरीत वह जमीन और पैदावार का उपयोग न कर सकेगा। खेती के खर्च और उसकी साधारण आवश्यकता से अधिक जो रकम बचेगी उसका नियत अंश लगान के रूप में लिया जायगा। मनुष्य की साधारण आवश्यकताओं के नियम बना दिये जायँगे और उससे अधिक आय या बचत पर राज्य-कर लगाया जायग। जमींदारों और साहूकारों की पद्धति उठा देनी होगी और गांव की पंचायत की तरफ से किसान आदि को प्रसंगोपात्त सहायता देने की व्यवस्था कर दी जायगी। गिरी, पिछड़ी और जरायमपेशा जातियों के सुधार के लिए विशेष प्रयत्न किया जायगा। धार्मिक स्वतन्त्रता और सहिष्णुता रहेगी। ईश्वर और धर्म के सम्बन्ध में कोई विधि-निषेध न होगा। हां, जीवन को नीतिमय बनाने पर अलबत्ता पूरा जोर दिया जायगा। विवाहित जीवन और कुटुम्ब रहेगा; पर वह शरीर सुख और स्वार्थ के लिए नहीं, नैतिक और सामाजिक उन्नति तथा आत्मिक सुख के लिए होगा। स्वार्थ नहीं बल्कि समाज सेवा सबका एक लक्ष्य होगा। दबाव नहीं, बल्कि निर्भयता सबकी एक

वृत्ति होगी। प्रत्येक कुटुम्ब और गांव को आवश्यक अन्न, दूध, घी, फल, साग, वस्त्र, शिक्षा, औषधि, स्थान, जल, हवा आदि भरण-पोषण, शिक्षण और रक्षण की सामग्री अबाध रूप से मिलती रहे—ऐसा प्रबन्ध होगा। रेल, तार, जहाज, डाक देश को लूटने के लिए नहीं बल्कि देश की सुविधा, आराम और उन्नति के लिए होंगे। ग्राम आबाद करने और बसाने का अधिक उद्योग होगा; शहरों को फैलाने का नहीं। सारांश यह कि मनुष्य-जीवन और जीवन-व्यवस्था सरल, सुगम और सुखकर रहे—इस बात की ओर विशेष ध्यान रक्खा जायगा।

मेरी समझ के अनुसार, भारत की पहली स्वतन्त्र सरकार की रूप-रेखा यही रहनी चाहिए और ईश्वर ने चाहा तो यही रहेगी।

[६]

ग्राम-रचना

अपनी सरकार बनते ही सबसे पहले ग्राम-रचना की ओर ध्यान देना होगा। अभी गांव जिस तरह बसे हुए हैं उसमें न तो कोई तरीका ही दीख पड़ता है, न सफाई का ही ध्यान रक्खा गया है। मकानों में काफी हवा और प्रकाश नहीं रहता। गांव आसपास की जमीन से कुछ ऊँचाई पर होने चाहिएँ। कतार और सिलसिले से मकान बने हों, रास्ता काफी चौड़ा हो, पनाले हों, गोबर और खाद के लिए पूर्व या दक्षिण दिशा में एक जगह मुकर्रर हो। मनुष्य के पाखाने और पेशाब का कोई उपयोग गांवों में नहीं होता। इसलिए खेतों पर चलते-फिरते पाखानों का प्रबन्ध हो और यह नियम रहे कि कोई सिवा बीमारी के इधर-उधर पाखाने न बैठे। पशु-शाला भी स्वच्छ-सुघड़ रहे। ग्राम-पाठशाला में पशु-

रक्षण और पशु-चिकित्सा पढ़ाई जाय । खेती और उद्योग धन्धों का पुस्तकीय और अमली ज्ञान कराया जाय । सर्व-साधारण का एक उपासना मन्दिर रहे । उपसना ऐसी हो, जिसमें सब धर्मों-मजहबों और जातियों के लोग आ सकें । घर में अपनी-अपनी विशिष्ट पद्धति से पूजा-अर्चा करने की स्वाधीनता प्रत्येक व्यक्ति और कुटुम्ब को रहेगी । गांव की एक पंचायत होगी, जिसमें सभी जाति-पांति और पेशे के बालिग लोगों को चुनाव का अधिकार होगा और प्रतिवर्ष उसका चुनाव हुआ करेगा । प्रतिनिधि-मण्डल की, पंचायत की बैठक नियत समय पर होगी, जिसमें आपस के लड़ाई-झगड़े, स्वच्छता, औषधि, पाठशाला, उपासना-मन्दिर, गोशाला, खेती-सुधार आदि ग्राम-सम्बन्धी सभी विषयों पर विचार और निर्णय होगा । अन्याय और अत्याचार की अवस्था में हलके की बड़ी पंचायत में अपील हो सकेगी । कई गांव मिलकर हलके होंगे और कई हलके मिलकर तहसील । इसी तरह कई तहसील मिलकर जिला और जिलों से प्रान्त आदि होंगे । प्रान्त-विभाग भाषा और संस्कृत के अनुसार होगा । ग्राम-सभ्यता के विकास की ओर पूरा ध्यान दिया जायगा । ग्रामों के कारण स्वतंत्रता बिखरी हुई रहती है । शहरों के कारण एक जगह एकत्र हो जाती है । सत्ता या स्वतंत्रता जितनी ही एकत्र या केन्द्रित होगी उतनी ही जनता या सर्व-साधारण की पराधीनता बढेगी । नगरों की वृद्धि से घनी आबादी, कुटिलता, कृत्रिम साधन, अनीतिमय जीवन, दुर्व्यसन और परावलम्बिता बढ़ती है; इसके विपरीत ग्राम-जीवन में सरलता, स्वाभाविकता, स्वावलम्बन, सुनीति और सुजनता का विकास होता है ।

प्रत्येक गांव की जमीन निश्चित होगी और वह आवश्यकतानुसार प्रत्येक कुटुम्ब में बँटती रहेगी । मनुष्य के जीवन का—रहन-सहन का

एक साधारण नमूना बना लिया जायगा और उसके अनुसार सबको सब बातें सुलभ करदी जायँगी। जमीन में किसान सब तरह की आवश्यक चीजें पैदा करेंगे और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति होने के बाद उन्हें बेचेंगे। लगान सिर्फ उतना ही होगा, जितना छोटी या बड़ी पंचायतों के खर्च आदि के लिए जरूरी होगा, या बचत का एक उचित अंश-मात्र लिया जायगा। किसान खुद ही नियत समय पर पंचायत में लगान दे आया करेंगे। लड़ाई-झगड़े या अन्याय-अत्याचार की अवस्था में ही पंचायत किसीके जीवन में हस्तक्षेप करेगी। परस्पर सहयोग का भाव प्रबल होगा। दूध-घी की इफरात होगी। कोई चीज गांव के बाहर तभी जा सकेगी, जब उसकी आवश्यकता गांववालों को न होगी, या दूसरे गांववालों का जीवन उसके बिना कठिन और असम्भव होता होगा। पंचायत या राष्ट्र के खर्च के अलावा और किसीका कर या लगान किसान पर न होगा, यों पंचायत का सब काम नियमाधीन होगा; परन्तु यदि कोई ऐसा नियम किसी प्रकार बन गया हो जिससे लोगों का अहित होता हो, या अनीतिमय हो, तो व्यक्तियों को उसे तोड़ने का अधिकार होगा, बशर्ते कि वे उसकी सजा पाने को तैयार हों। ऐसे कानून-भंग का अधिकारी वही मनुष्य हो सकता है, जो सब दशाओं में और नियमों का पूरा-पूरा पालन करता हो। ग्राम में एक पुस्तकालय होगा, जिसमें प्रान्त के अच्छे अखबार, प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय भाषाओं की आम पुस्तकें, मासिक पत्र रहेंगे और उसके लिए कोई फीस न रहेगी।

प्रत्येक ग्रामवासी पहले अपने को मनुष्य, फिर हिन्दुस्तानी, फिर किसी जाति या पांति या पेशे का मानेगा। अपने ग्राम-सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन करते हुए भी वह हलके, तहसील, जिला, प्रान्त या देश-सम्बन्धी कर्त्तव्यों के पालन में उदासीन न रहेगा। राष्ट्र या प्रान्त की

पुकार पर वह सबसे पहले दौड़ेगा। ग्राम-कार्यों में वह स्वतन्त्र और देश-कार्यों में परस्पराश्रित रहेगा। उसके जीवन में आवश्यकता की प्रधानता रहेगी, शौक की नहीं! सुन्दरता, कला और सुघड़ता का वह प्रेमी होगा; पर विलासिता, कृत्रिमता और इच्छाओं का गुलाम न होगा। तम्बाकू, अफीम, इन दुर्व्यसनों को वह छोड़ देगा; और चाय, काफी को अपने गांव में न घुसने देगा। वह परिश्रमी और कार्यरत होगा—ठलुआ, आलसी और बेकार नहीं। शारीरिक श्रम ही उसका जीवन होने के कारण अलग व्यायामशाला या खेलों की उसे आवश्यकता न होगी। खेतों और जंगलों में काम करना उसके लिए व्यायाम, मनोरंजन, और कमाई सब एकसाथ होंगे। खेती से जब फुरसत मिलेगी तो वह कपड़े, रस्सी, टोकरी, मकान तथा औजार-बनाई में अपना समय लगावेगा। कताई घर-घर में होगी और बुनाई गांव-गांव में। नमक, दियासलाई और मिट्टी का तेल—इन तीन चीजों को छोड़कर शेष सब चीजें प्रायः प्रत्येक ग्रामवासी अपने गांव में पैदा कर लेगा। बुननेवाले, जूता बनानेवाले, लकड़ी का काम करनेवाले यदि अलहदा होंगे भी तो उनसे किसी प्रकार की घृणा न करेगा। गन्दगी और बुराई से नफरत होगी, न कि किसी व्यक्ति या जाति से। गांव के कामों के लिए मजदूरी की प्रथा न होगी, बल्कि एक-दूसरे के सहयोग से खेती-बारी के तथा सामाजिक काम होते रहेंगे। अव्वल तो जमीन और धन्धों का बँटवारा या प्रबन्ध ही इस तरह होगा कि जिससे गांव में या आसपास किसीको अपना पेट भरनें के लिए चोरी, डाका आदि न करना पड़े। फिर भी जबतक ऐसी स्थिति न हो जायगी तबतक गांव के युवक खुद ही बारी-बारी से गांव की चौकी देते रहेंगे। सब जगह आवश्यकता-पूर्ति ही मुख्य उद्देश होगा—इसलिए नमक, तेल, दियासलाई, रुई

आदि गांवों में सहज ही न आनेवाली चीजों के अलावा और चीजों की खरीद-बिक्री स्वभावतः नहीं के बराबर होगी। इससे उन्हें सिक्के-नोट आदि की जरूरत भी बहुत कम रह जायगी। जीवन के लिए आवश्यक प्रायः सब बातों का सुपास होगा, इसलिए नैतिक जीवन अपने-आप अच्छा और ऊँचा रहेगा। क्योंकि जब जीवन की आवश्यकताओं का स्वाभाविक और सीधा मार्ग रुक जाता है तभी मनुष्य नीति और सदाचार से गिरने लगता है। अंग्रेजी राज्य में भारत का जितना नैतिक अधःपतन हुआ है उतना न मुसलमानों के काल में था, न उससे पहले। बल्कि चन्द्रगुप्त के काल में तो यहां मकानों में ताले तक न लगते थे। सरकार अपनी और जनता की हो जाने के बाद हर गांव की यह स्थिति हो सकती है कि न मकानों में ताले लगें, न गांव में चौकी देना पड़े।

कैसा लुभावना है यह गांव का दृश्य ! क्यों न हम आज ही से ऐसे गांव बनाने में अपना दिमाग और दिल दौड़ावें ? किन्तु यह हो किस तरह ? इसका रास्ता 'गांवों की ओर'* में मिलेगा।

[७]

उपसंहार

पाठको, यह न समझिए कि जीवन की स्वतंत्रता या सम्पूर्णता के लिए मुझे जो कुछ कहना या लिखना था वह सब खतम हो चुका। परन्तु, हां, अब इस पुस्तक की समाप्ति हो गई है, यद्यपि इसके आशय की पूर्ति इतने ही से नहीं हो जाती है। कहने-सुनने या लिखने-पढ़ने से बहुत हुआ तो हमारी कुछ अज्ञान-निवृत्ति हो जाती है,

---

* देखिए परिशिष्ट नं० ६

कुछ विचार सुलझ जाते हैं, हृदय को कुछ प्रेरणायें मिल जाती हैं, परन्तु इतने ही से जीवन के उद्देश की सिद्धि नहीं हो जाती। वह तबतक नहीं हो सकती जबतक अपने विचार या ज्ञान के अनुकूल आचरण नहीं होता। ज्ञान बहुत हो गया, विचार बहुत अच्छे हैं, भावनायें बहुत शुद्ध और ऊँची हैं, परन्तु आचरण यदि वसा नहीं है तो वह उस खजाने की तरह है जिसका ताला बन्द है। उससे न अपनेको ही विशेष लाभ होता है, न जन-समाज को ही। इसके विपरीत यदि हम कार्य तो बहुतेरे करते रहें, किन्तु यदि वे ज्ञान-युक्त नहीं हैं, विवेक और विचार-पूर्वक नहीं किये जाते हैं, तो उसका परिणाम भी पहाड़ खोदकर चूहा निकालने के बराबर हो जाता है। क्योंकि यदि निर्णय आपका ठीक नहीं है। कार्य-प्रणाली निर्दोष नहीं है, कार्यक्रम विधिवत् नहीं है, मूल-प्रेरणा शुद्ध नहीं है तो आपके कार्य का फल हरगिज ऐसा नहीं निकल सकता जिससे आपके या समाज के जीवन का विकास हो, उनकी गति स्वतंत्रता या सम्पूर्णता की ओर बढे। जैसा आपका संकल्प होगा, वैसे ही आप अपने कार्य को, फलतः अपनेको, बनावेंगे। संकल्प तभी अच्छा हो सकता है जब चित्त शुद्ध हो। चित्त-शुद्धि का एक ही उपाय है, राग और द्वेष से अपनेको ऊपर उठाना। कहा ही है—

'क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे।'

अर्थात्—सफलता बाहरी साधनों पर नहीं बल्कि मनुष्य के सत्व पर यानी शुद्ध चित्त, शुद्ध बुद्धि और शुद्ध भाव पर अवलम्बित है।

ऐसी दशा में पाठक यह समझने की भूल न करें कि इस पुस्तक को पढ़ लिया और बस अपना कर्तव्य पूरा हो गया। बल्कि, सच पूछिए, तो उसके बाद उनका कर्तव्य आरम्भ होता है। यदि इसके द्वारा उन्हें अपने जीवन की ठीक दिशा मालूम हो जाय, और उन्हें अपना कर्तव्य

सूझ जाय तो तुरन्त ही उन्हें तदनुकूल अपना जीवन-क्रम बनाने में तत्पर हो जाना चाहिए। उसके बिना उन्हें न इस पुस्तक का, न अपने जीवन का ही सच्चा स्वाद मिल सकेगा। उन्हें जान लेना चाहिए कि जीवन कोई खिलवाड या मनोरंजन अथवा आमोद-प्रमोद की वस्तु नहीं है। वह बहुत गम्भीर और पवित्र वस्तु है जो हमें बरसों की संस्कृति के साथ विरासत में मिली है और हमें, सच्चे और अच्छे उत्तराधिकारी की तरह, उसकी शुद्धि और वृद्धि करनी है। जिस प्रकार एक विद्यार्थी जी-जान से सचिन्त रहकर परीक्षा की तैयारी करता है, या वह पिता जिसकी लड़की का ब्याह होता हो, एक क्षण की भी विश्रान्ति या निश्चिन्ति के बिना, एक के बाद दूसरे कार्य में लग जाता है, उसी तरह एक मनुष्य जबतक एक नियत कार्यक्रम लेकर अपने जीवन को बनाने के लिए छटपटायेगा नहीं तबतक सम्पूर्णता और स्वतंत्रता तो दूर मनुष्यता की शुरूआत भी उससे नहीं सकती। अतएव मेरी उन तमाम भाई-बहनों से, जिनके हाथ में यह पुस्तक पड़ जाय, साग्रह प्रार्थना है कि वे पुस्तकों के साथ ही महा-पुरुषों के जीवनों को भी पढें। महापुरुष इसीलिए आते हैं कि अपने महान् उदाहरण और कर्म-कौशल के द्वारा जगत् और जीवन को कर्म की सच्ची दिशा दिखावें। पुस्तकें पढ़ने से विचार-जागृति होती है, किन्तु महापुरुषों का जीवन प्रत्यक्ष और सम्पर्क हमें तदनुकूल जीवन बनाने की ओर ले जाता है और हमारा वर्षों का कार्य महीनों और कभी-कभी तो मिनटों में पूरा हो जाता है। हम सिद्धान्त, आदर्श तथा ज्ञान की बहुतेरी बातें जान और मान तो लेते हैं; परन्तु हमें उनकी सचाई का, वास्तविकता का, या व्यावहारिकता का इत्मीनान महापुरुषों के जीवनों से ही अच्छी तरह होता है। पुस्तक तो उनके अनुभव या आविष्कृत ज्ञान का एक जड़ और त्रुटियुक्त संग्रह-मात्र हो सकती है। इसलिए जीवन बनाना हो,

जीवन को सुखी, स्वतंत्र और सम्पूर्ण बनाना हो तो अपने काल के महा-पुरुषों से प्रत्यक्ष जीवन को पढो, उनके स्फूर्तिदायी सम्पर्क और संसर्ग से अपने जीवन में चैतन्य को अनुभव करो एवं अपनी-अपनी आत्मा को विश्वात्मा में मिला दो। योग-साधक अरविन्द ने क्या खूब कहा है—

'हैं ये तीनों एक—ईश, स्वातन्त्र्य, अमरता;
आज नहीं तो कभी सिद्ध होगी यह समता।'

अरे पामर मनुष्य! कब तेरे जीवन में यह समता सिद्ध होगी?

परिशिष्ट (५)

सामाजिक आदर्श

कई लोगों का मत है कि भारत के लिए कोरी राजनैतिक स्वाधीनता काफ़ी नहीं है। जब तक हमारा सामाजिक आदर्श ही नहीं बदला जायगा तब तक न भारत का भला हो सकता है, न दुनिया का। इस अर्थ में आज दुनिया की और भारत की एक ही समस्या है। कुछ काल पहले तक यह माना जाता रहा था कि एक राजा हो और वह प्रजा का हित करता रहे। समय पाकर यह राजा प्रजा का भला करने के बजाय आप ही उसका प्रभु और कर्ता-धर्ता बन गया और अपने स्वेच्छाचारों की पूर्ति के लिए प्रजा पर मनमाना ज़ोरो-जुल्म करने लगा। तब लोगों ने देखा कि यह गलती हुई—कुछ नहीं; राजा को छोड़ो, अब से प्रजा का चुना हुआ प्रतिनिधि-मण्डल और अध्यक्ष प्रजा का हित साधन करे। अब इसका भी फल कई जगह यह हो रहा है कि धनी और प्रभावशाली लोग

साँठ-गाँठ लगाकर प्रतिनिधि-मण्डल में पहुँच जाते हैं और एक राजा के बजाय बीसों राजा, प्रजा के प्रतिनिधि के नाते, प्रजा के हित के नाम पर, अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं और उनपर प्रजा को कुरबान करते हुए भी नहीं हिचकते। गत यूरोपीय महाभारत में यही अनुभव हुआ। तब लोगों के विचारों ने फिर पलटा खाया। अब कुछ लोग कहने लगे हैं, नहीं धनी और प्रभुताशाली लोगों के हाथों में शासन की बागडोर न होनी चाहिए, सर्व-साधारण और जनता के हाथों में होनी चाहिए। इस विचार के लोग, थोड़े-थोड़े विचारभेद के साथ, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट और बोल्शेविक कहे जाते हैं। वे कहते हैं कि केवल राज-काज में नहीं बल्कि सारे सामाजिक-जीवन में सबको अपनी उन्नति और सुख के समान साधन और सुविधायें मिलनी चाहिएं, फिर वह राजा हो या रंक, धनी हो वा किसान, पढ़ा हो या अपढ़, स्त्री हो या पुरुष। यह कोई राजनैतिक ही नहीं एक भारी सामाजिक क्रान्ति का चिन्ह है। ऐसा जान पड़ता है कि पं० जवाहरलाल नेहरू भारत को यही सन्देश देना चाहते हैं कि तुम्हारा काम ख़ाली राजनैतिक सत्ता ले लेने से नहीं चलेगा, बल्कि ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए जिससे वह सत्ता मुट्ठीभर प्रभावशाली लोगों के हाथों में न रहे, जनता के हाथों में रहे। फिर केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि जीवन के सभी विभागों में समता और समानता का दौर-दौरा होना चाहिए। इसी दिशा में यदि दूर तक विचार करें तो हमें इस नतीजे पर पहुँचना पड़ता है कि जब तक सरकार अर्थात् सत्ता रखनेवाली कोई भी, किसी भी प्रकार की संस्था, समाज में रहेगी तब तक सबको समान साधन और समान सुविधा नहीं मिल सकती-–आत्म विकास की पूरी स्वाधीनता किसीको नहीं मिल सकती। यह तो तभी हो सकता है जब समाज में सब लोग ऐसे बन जायँ और इस तरह परस्पर व्यवहार

करने लगें जिससे किसी बाहरी सत्ता की आवश्यकता उनकी रक्षा, शिक्षा और न्याय आदि के लिए न रहे। पर सारे समाज की ऐसी दशा भी उसी अवस्था में हो सकती है जब लोग खुद ब खुद उन तमाम नियमों और कानूनों को मानने लगें जिन्हें सरकार अपनी हुकूमत के अर्थात् दण्ड-भय के बल पर मनवाती है। यहाँ आकर हम देख सकते हैं कि मनुष्य के सामाजिक और राजनैतिक जीवन में भी संयम का कितना महत्त्व है। इस विषय पर बहुत दूर तक बारीकी के साथ जिन-जिन विचारकों ने विचार किया है उनका यही कहना है कि समाज में किसी सरकार का रहना समाज की बे-बसी का सबूत है, समाज के लिए एक तरह से शर्म की बात है। थोरो, टालस्टाय, क्रोपाटकिन, लेनिन और गांधी—ऐसे विचारकों की श्रेणी में आते हैं। सामाजिक आदर्श से जहाँ तक संबंध है यदि मैं ग़लती नहीं करता हूँ तो, ये सभी प्रायः एक-मत हैं; पर आगे चलकर आदर्श को पहुँचने के साधन या मार्ग में मतभेद हो जाता है। लेनिन का कहना है कि भाई जबतक मौजूदा सत्ता को जबर्दस्ती तोड़-फोड़कर बागडोर अपने हाथ में नहीं लेली जाती, अपने आदर्श के अनुसार शासन-व्यवस्था बनाने की पूरी सुविधा सब तरह नहीं प्राप्त करली जाती तबतक अपने मनोवांछित सामाजिक आदर्श को पहुँचना असंभव है। अतएव इस संक्रमण-काल—बीच के समय—में तो हमें हर उपाय से सत्ता अपने पास रखनी ही चाहिए। मुसोलिनो और हिटलर भी इसी भाव से प्रेरित होकर इटली और जरमनी में आज सर्व-सत्ताधीश बन गये हैं। पर टालस्टाय और गांधी कहते हैं कि यह तो तुम उल्टे रास्ते चल पड़े। तुम उस सामाजिक आदर्श को तब तक नहीं पहुँच सकते जबतक ख़ास किस्म के गुणों की वृद्धि और दोषों की कमी समाज में न कर दो। इसके लिए दो शर्तें लाजिमी हैं—(१) सामाजिक नियमों का उल्लघंन कोई न करे—सब खुद

व खुद राजी-खुशी उनका पालन करें (२) किसीके उल्लंघन करने पर दूसरा उसका बदला लेना न चाहे, उसे क्षमा करदे। इन्हीं दो शर्तों का नाम है संयम और शान्ति। इसे एक ही शब्द में कहना चाहें तो 'अहिंसा' कह सकते हैं। उनका कहना है कि जबतक तुम अहिंसा को अपना पहला और अन्तिम पाठ नहीं बना लेते तबतक तुम चक्कर में हो—ग़ोते खाते रहोगे। सर्वसाधारण अर्थात् जनता संयम और क्षमा अथवा अहिंसा का अवलंबन तभी कर सकती है जब तुम समाज के बड़े, नेता कहानेवाले अपने जीवन में उसे प्रधान-पद दो। पर तुम तो मारकाट और हत्याकाण्ड मचाकर उसे मार-काट और हत्याकाण्ड का ही रास्ता बताते हो और कहते हो कि इसके बिना काम नहीं चलेगा तो फिर लोगों में संयम और क्षमा कैसे आवेगी और जबतक ये गुण न आवेंगे तबतक तुम अपने सामाजिक आदर्श को कैसे पा सकोगे? तुम तो बबूल का बीज बोकर उससे आम के फल की आशा रखते हो। मैं स्वयं इसी दूसरे मत का क़ायल और अनुयायी हूँ; क्योंकि इसमें विचार की सुलझाहट मालूम होती है।

परिशिष्ट (६)

गांवों की ओर—

भारत की वास्तविक शक्ति गांवों में सोई हुई है। यदि स्वराज्य हमें भारत की जनता के ही लिए मुख्यतः पाना है तो यह निर्विवाद है कि वह उन्हींके बल पर हमें पाना होगा। इसका अर्थ यह है कि हमें गांवों में जाकर उस सुप्त शक्ति को जगाना, संगठित करना और स्वराज्य प्राप्ति के योग्य बनाना होगा। इसी बात को हम दूसरी भाषा में यों कहें कि जब तक हम अन्यायों, अत्याचारों के प्रतिकार की भावना और शक्ति जनता में नहीं उत्पन्न कर देते तब तक स्वराज्य, सच्चा स्वराज्य, कठिन है।

तो, अन्याय के प्रति यह असहिष्णुता गाँववालों में कैसे पैदा हो ? कुछ लोग कहते हैं स्वराज्य का सन्देश लेकर गाँवों में जाओ; कुछ लोग मानते हैं कि आर्थिक कष्टों को पहले हाथ में लो; कुछ लोगों का

मत है कि सबसे पहले तो उनके दिल में अपने लिए प्रेम, आदर और विश्वास पैदा करो; कुछ लोग सुझाते हैं कि पहले उनकी छोटी-बड़ी शिकायतों से शुरुआत करो। इनके विषय में मेरा मत तो यह है कि गाँव के लोग न तो स्वराज्य की भाषा समझते हैं, न स्वाधीनता की। उनके नज़दीक स्वराज्य और स्वाधीनता का कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं है। अधिकारियों के ज़ुल्मों से वे तंग और परेशान ज़रूर रहते हैं, और उनसे यदि कोई उनकी रक्षा करा सके तो उसे वे ज़रूर चाहते हैं। किन्तु यह ज़ुल्मों से रक्षा करने का ही प्रश्न, आगे चलकर, स्वराज्य का प्रश्न बन जाता है। यदि जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड न हुआ होता, तो स्वराज्य की आग लोगों के दिलों में इतनी तेजी से न लग पड़ती। किन्तु गाँव के लोग अभी यह समझने नहीं लगे हैं कि उनके छोटे-मोटे दुःखों और कष्टों का प्रश्न किस तरह स्वराज्य का प्रश्न बन जाता है। इसलिए केवल स्वराज्य का सन्देश एकाएक उनके दिल में नहीं बैठेगा।

हाँ, आर्थिक कष्ट उन्हें बहुत हैं। कर्ज़ की इन्तहा नहीं। यह उनके दैनिक जीवन और सीधे सुख-दुःख से सम्बन्ध रखनेवाला प्रश्न है। यह रोटी और पेट का सवाल है। इसका कोई कारगर इलाज हो तो उनको उसकी ज़रूरत है। किन्तु हमारे समाजवादी भाई वर्ग-युद्ध और मिल्कियत की ज़ब्ती की पुकार मचाते हुए वहाँ जावेंगे तो वहाँ पैर रखना ही मुश्किल हो जायगा। बनिये-महाजन और पटेल-पटवारी ही उनको परेशान करने के लिए काफी हो जायँगे और उनके गाँववालों के हृदय में प्रवेश करने के पहले ही उनमें वे गहरी खाई बना डालेंगे।

इसलिए जो लोग यह कहते हैं कि पहले अपने पैर रखने की जगह करो, गाँववालों के प्रेम और विश्वास पात्र बनो, उनकी सलाह मुझे बहुत व्यवहारिक मालूम पड़ती है। गांववालों का स्वभाव बहुत शक्की हो गया है।

जो भी गाँव में जाते हैं ये आकर उनको लूटते ही हैं—चाहे राज्य का हाकिम हो, बनिये-महाजन हों ज़मीदार हों, राजा-रईस हों; किसी न किसी रूप में ये उनके सिर पर ही लद जाते हैं। इन कटु अनुभवों ने उन्हें ऐसा शंकाशील बना दिया है कि सहसा उन्हें यह विश्वास नहीं होने पाता कि ये हमारी सेवा-सहायता के ही लिए आए हैं। वे एकाएक यह नहीं समझ पाते कि लोग इतने, परोपकारी क्योंकर हो सकते हैं ? इनकी इस सेवा के अन्दर कोई पेंच, कोई भावी भय ज़रूर छिपा हुआ है ! इस कारण कार्यकर्ता के सामने सबसे पहला प्रश्न यही आकर खड़ा होता है कि उनमें अपने शुद्धभाव, अपने सत् हेतु के प्रति विश्वास कैसे पैदा किया जाय ? इसका सीधा और सरल उपाय यह है कि सबसे पहले उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की सेवा से ही शुरूआत की जाय। कार्यकत्ता यह समझ ले कि मैं भी इन में से एक हूँ। इनका दुःख मेरा दुःख है और इनका सुख मेरा सुख। ये भूखे हैं तो मैं भूखा हूँ, ये नंगे हैं तो मैं नंगा हूँ। इतने तादात्म्य का अनुभव जब तक वह न करेगा तब तक उनके हृदय में प्रवेश न पा सकेगा। फिर इस सेवा में बदले की आशा नहीं होनी चाहिए। उनके साथ उसका व्यवहार सरल और सच्चा होना चाहिए। निष्कपट और सहानुभूति शील हृदय से बढ़कर किसीके हृदय को जीतने का साधन संसार में नहीं है। बीमारी के समय उनके वैद्य, उनके परिचारक, उनके कुटुम्बी बन जाइए, मृत्यु के समय उनके आत्मीय हो जाइए, स्वच्छता, सदाचार और नीति सिखानेवाले गुरु बन जाइए, मामले-मुकद्दमे में फँस जाने पर उनके सखा हो जाइए, घरेलू और सामाजिक जीवन में उनके दांये-बांये हाथ बन जाइए—फिर देखिए आपके वे साथ कितना प्रेम करते हैं और आप पर कितना विश्वास करते हैं, किन्तु यह सब पालिसी से करोगे तो मुँह की खाओगे और सच्चे हृदय से करोगे तो जीत जाओगे।

मन में एक और बाहर एक, यह नीति गाँव में आत्मघातक सिद्ध होगी।

इसके बाद अवस्था आवेगी पंचायत के द्वारा उनका संगठन करने की। यदि पहले ही जल्दी करके वहाँ कोई आन्दोलन खड़ा कर दिया तो समझ लीजिए कि आगे के लिए आपने अपने मार्ग में काँटे बखेर लिए। इसलिए मेरी यह राय है कि गाँवों में हम स्वराज्य के बदले मनुष्यत्व का सदेश लेकर जावें। राजनैतिक अर्थ में स्वराज्य हमारे जीवन का एक अंग है, इस समय उसके बिना हमारा सारा जीवन ही बेकार हो रहा है, यह सच है। किन्तु देहात को यदि आप राजनीति के स्थान पर मनुष्यत्व के सहारे उठावेंगे तो आपका काम अधिक स्थायी और आपका मार्ग निष्कंटक होगा। हमारा स्वराज्य इसीलिए हमारे हाथ से चला गया कि हम मनुष्यता से गिर गये, हममें मनुष्योचित गुणों की कमी हो गई। जब तक वे न आवेंगे हमारी गुलामी की बेड़ियाँ कटना कठिन है।

मनुष्यतत्व के लिए सबसे आवश्यक गुण है तेज। तेज कहते हैं हीन वृत्तियों, अन्यायों या अत्याचारों का विरोध करने की शक्ति को। यह तेज आता है सत्य की आराधना से। यदि हम ग्राम वासियों को अपने आचरण से ही यह शिक्षा दें कि वे सदा सत्य पर दृढ़ रहें, सत्य से बढ़कर प्रिय वस्तु मनुष्य के लिए दूसरी न होनी चाहिए और साथ ही यह बतावें कि सत्य की आराधना से उनके आर्थिक कष्ट और राजनैतिक जुल्म किस तरह अपने आप मिट जायँगे, तो सत्य के सन्देश में स्वराज्य का सन्देश अपने आप ही मिल गया और दुनिया में कौन ऐसा पैदा हुआ है जिसने सत्य के सन्देश को रोकने में सफ़लता प्राप्त करली है ?

सस्ता-साहित्य-मण्डल के

प्रकाशन

१—**दिव्य जीवन**। प्रसिद्ध लेखक श्री स्वेट मार्डेन के The Miracle of Right Thought का अनुवाद। जीवन की कठिन समस्याओ से निराश युवक के लिए यह संजीवनी विद्या है। मूल्य ।=)

२—**जीवन-साहित्य**। गुजराती के महान् विचारक काका कालेलकर के शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता, राजनीति आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर लिखे निबन्धों का संग्रह। मूल्य १।)

३—**तामिल-वेद**। दक्षिण के अछूत ऋषि तिरुवल्लुवर का उत्तम और उत्कृष्ट नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, शिक्षाओं से भरा हुआ ग्रन्थ है। मूल्य ।।।)

४—**भारत में व्यसन** और **व्यभिचार**। भारत में व्यसन और व्यभिचार सम्बन्धी हिन्दी की सर्वोत्तम पुस्तक। इन दुर्व्यसनों में फंसे देश का नग्न दर्शन तथा उन व्यसनों को दूर करने का उपाय। मूल्य ।।।=)

५—**सामाजिक कुरीतियां**। [जब्त] मूल्य ।।।)

६—**भारत के स्त्री-रत्न**। प्राचीन भारतीय देवियों के आदर्श जीवन चरित्र, सुबोध और सरल भाषा में। मूल्य १।।।-)

७—**अनोखा**। फ्रांस के प्रसिद्ध उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो के The Laughing Man नामक उपन्यास का अनुवाद। अंग्रेजी राजाओं तथा दरबारियों की कुटिल क्रीड़ाओं का नग्न दर्शन। मनोरंजक, करुण और गंभीर। मूल्य १।=)

८—**ब्रह्मचर्य्य-विज्ञान**। ब्रह्मचर्य्य पर अत्युत्तम पुस्तक। उपनिषदों, पुराणों तथा बहुत से अन्य धार्मिक ग्रन्थों के प्रमाणों से युक्त। मू० ।।।=)

९—**यूरोप का इतिहास ।** यह यूरोप का इतिहास बलिदान, राजनीति, देशप्रेम तथा स्वाधीनता का इतिहास है । मनोरंजक, सुबोध, एवं सरल । मूल्य २)

१०—**समाज-विज्ञान ।** समाज शास्त्र पर हिन्दी में यह बहुत ही सुन्दर पुस्तक है । समाज की रचना उसके विकास तथा निर्माण पर लेखक ने बहुत अच्छा प्रकाश डाला है । 'समाज-शास्त्र' पढ़नेवाले विद्यार्थियों के लिए यह अत्युत्तम ग्रन्थ है । मूल्य १॥)

११—**खद्दर का संपत्तिशास्त्र ।** खादी के अर्थशास्त्र पर अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान श्री० रिचर्ड बी० ग्रेग लिखित The Economics of Khaddar का हिन्दी अनुवाद । खादी की उपयोगिता आपने वैज्ञानिक तथा आर्थिक ढंग से सिद्ध की है । मूल्य ॥≡)

१२—**गोरों का प्रभुत्व ।** अंग्रेजी की Rising Tide of Colour के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई है । इसमें बतलाया गया है कि संसार की सवर्ण जातियां स्वतंत्र होने के लिए किस प्रकार गोरी जातियों से लड़ रही हैं और अपनेको स्वतंत्र कर रही हैं । मू० ॥=)

१३—**चीन की आवाज़ ।** [अप्राप्य] मूल्य ।-)

१४—**दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास ।** सत्याग्रह की उत्पत्ति तथा उसके प्रयोग का स्वयं गांधीजी द्वारा लिखा इतिहास पढ़ें कि किस प्रकार इस शस्त्र द्वारा दक्षिण अफ्रिका वासियों ने अपने अधिकारों की बहादुरी से और बिना दूसरों को तकलीफ पहुँचाते हुए रक्षा की । मूल्य १।)

१५—**विजयी बारडोली ।** [अप्राप्य] मूल्य २)

१६—**अनीति की राह पर ।** ब्रह्मचर्य तथा अप्राकृतिक संतति-निरोध पर लिखी गई महात्मा गांधी की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक । ब्रह्मचर्य पर

लिखी गई यह सर्वोत्कृष्ट पुस्तक है। मूल्य ।≡)

१७—**सीताजी की अग्नि-परीक्षा।** लंका-विजय के बाद सीताजी की अग्नि-शुद्धि का यह वैज्ञानिक विश्लेषण है। विज्ञान का हवाला देकर यह बताया गया है कि वह घटना निरी कपोलकल्पित ही नहीं है, सच्ची है। मूल्य ।-)

१८—**कन्या-शिक्षा।** छोटी बालिकाओं के लिए यह पुस्तक बड़े काम की है। बालिकाओं को अपने बाल्य-जीवन के विषय में किस तरह शिक्षा देनी चाहिए, इसमें बतलाया गया है। मूल्य ।)

१९—**कर्मयोग।** [अप्राप्य] मूल्य ।=)

२०—**कलवार की करतूत।** महर्षि टालस्टाय की चुटीली भाषा में शराब के आविष्कार की मनोरंजक कहानी। मूल्य =)

२१—**व्यावहारिक सभ्यता।** युवकों, बच्चों तथा अवस्थाप्राप्त लोगों के लिए रोज के व्यवहार में आनेवाली शिक्षाओं का संग्रह। बोधप्रद, अनुकरणीय तथा ज्ञानप्रद। मूल्य ।=)

२२—**अंधेरे में उजाला।** महर्षि टालस्टाय के अन्तिम नाटक Light Shines in the Darkness का अनुवाद। मूल्य ।।)

२३—**स्वामीजी का बलिदान।** स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान पर श्री हरिभाऊजी द्वारा हिन्दू-मुसलिम समस्या पर लिखा गया निबंध। हिन्दू-मुस्लिम एकता पर व्यावहारिक सूचनायें। मूल्य ।-)

२४—**हमारे ज़माने की गुलामी।** [अप्राप्य] मूल्य ।)

२५—**स्त्री और पुरुष।** टाल्स्टाय के Relation of Sexes नामक पुस्तक का अनुवाद। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध तथा ब्रह्मचर्य पर टाल्स्टाय के उत्तम विचार। युवकों के पढ़ने योग्य। मूल्य ।।)

२६—**घरों की सफ़ाई।** [छप रही है] मूल्य ।)

२७—**क्या करें?** टाल्स्टाय की प्रसिद्ध पुस्तक What to do ? का अनुवाद। गरीबों एवं पीड़ितों की समस्याओं का मंथन। मूल्य १॥=)

२८—**हाथ की कताई-बुनाई।** [अप्राप्य] मूल्य ॥=)

२९—**आत्मोपदेश।** यूनान के प्रसिद्ध विचारक महात्मा ऐपिक्टेटस के उत्तम और महत्वपूर्ण उपदेशों का संग्रह। मूल्य ।)

३०—**यथार्थ आदर्श जीवन।** [अप्राप्य] मूल्य ॥-)

३१—**जब अंग्रेज़ नहीं आये थे।** तब भारत हरा-भरा था। भारत की दुर्दशा तो अंग्रेजों के यहां आने के बाद से शुरू हुई है। पार्लमेंट द्वारा नियुक्त रिपोर्ट के आधार पर मूल्य ।)

३२—**गंगा गोविन्दसिंह।** [अप्राप्य] मूल्य ॥=)

३३—**श्रीरामचरित्र।** मराठी के विद्वान् लेखक चिन्तामणि विनायक वैद्य लिखित रामायण की करुण और मधुर कहानी। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी का उत्तम जीवन-चरित्र। मूल्य १।)

३४—**आश्रम-हरिणी।** एक पौराणिक उपन्यास। विधवा-विवाह की समस्या पर पौराणिकों के विचार। मूल्य ।)

३५—**हिन्दी-मराठी-कोष।** मराठी-भाषा-भाषियों को हिन्दी सीखने में बड़े काम की चीज है। श्री केलकर तथा चिन्तामणि विनायक वैद्य ने बड़ी प्रशंसा की है। मूल्य २)

३६—**स्वाधीनता के सिद्धान्त।** आयर्लैण्ड के अमर शहीद टिरेन्स मेकस्विनी के Principles of Freedom का अनुवाद। आजादी की इच्छावालों की नसों में यह नया खून नया जोश भरने वाली पुस्तक। मूल्य ॥)

३७—**महान् मातृत्व की ओर।** स्त्री-जीवन की प्रारम्भिक कठिनाइयों

का दिग्दर्शन कराती हुई मातृत्व की जिम्मेदारी का दिग्दर्शन कराने वाली स्त्रियोपयोगी उत्तम पुस्तक। मूल्य ।।।=)

३८—**शिवाजी की योग्यता।** [छप रही है] मुल्य ।।)

३९—**तरंगित हृदय।** " मूल्य ।।)

४०—**हालैण्ड की राज्यक्रान्ति [नरमेध]** डच प्रजा के आत्मयज्ञ का पुनीत और रोमांचकारी इतिहास। हृदय में उथल-पुथल मचा देनेवाली क्रान्तिकारी पुस्तक। मुल्य १।।)

४१—**दुखी दुनिया** या **प्रलय-प्रतीक्षा।** गरीब और पीड़ित दुनिया के करुण चित्र। चक्रवर्ती श्रीराजगोपालाचार्य की सच्ची घटनाओं पर लिखी कहानियां। मधुर, करुण और सुन्दर। मूल्य ।।)

४२—**जिन्दा लाश।** टाल्सटाय के The Living Corpse नामक नाटक का अनुवाद। उच्छंखल युवकों के पास, यौवन, धन, प्रभुत्व एकत्र होजानें के बाद उनके होनेंवाले भयंकर परिणाम का रोमांचकारी चित्रण। मूल्य ।।)

४३—**आत्म-कथा।** महात्मा गांधी लिखित। संसार के साहित्य का एक रत्न। उपनिषदों की भांति पवित्र और उपन्यासों की भांति रोचक। चरित्र को ऊँचा उठाने वाली। हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा किया गया प्रामाणिक अनुवाद। दो खण्ड एक साथ बढ़िया जिल्द, सुन्दर छपाई। अजिल्द १।) सजिल्द मूल्य १।।)

४४—**जब अंग्रेज आये।** [ज़ब्त] मूल्य १।।)

४५—**जीवन-विकास।** डार्विन के विकासवाद के तत्व को विषद रूप से समझानेंवाली हिन्दी में एक ही पुस्तक। मुल्य १।) सजिल्द १।।)

४६—**किसानों का बिगुल।** [ज़ब्त] मूल्य =)

४७—**फांसी।** फ्रांस के क्रांतिकारी उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो ही एक

आख्यायिका का अनुवाद। फांसी की सजा प्राप्त एक युवक के मनोभाव का चित्रण। करुण और रुलानेवाला मूल्य ।।)

४८—**अनासक्तियोग** और **गीता-बोध**। गीता पर गांधीजी की व्याख्या। मूल श्लोक तथा महात्माजी के गीता के तात्पर्य गीताबोध-सहित २५० पृष्ठों में मूल्य केवल ।=) केवल **अनासक्तियोग** =), सजिल्द ।) **गीताबोध** महात्माजी का लिखा गीता का तात्पर्य -)।।

४९—**स्वर्णविहान** [ज़ब्त] मूल्य ।=)

५०—**मराठों का उत्थान और पतन**। मराठा साम्राज्य का विस्तृत और सच्चा इतिहास। मराठी इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् श्री गोपाल दामोदर तामसकर लिखित। हिन्दी में तो क्या स्वयं मराठी भाषा में मराठा साम्राज्य का ऐसा इतिहास नहीं हैं। मूल्य २।।)

५१—**भाई के पत्र**। कन्या, नारी, माता तीन खण्डों में विभक्त, स्त्री-जीवन पर प्रकाश डालनेवाली, उनका घरेलू एवं रोजमर्रा की कठिनाई में पथप्रर्शक बहनों के हाथों में दिये जाने योग्य एक ही पुस्तक। अपनी बहनों, बहुओं और बेटियों को इसकी एक प्रति अवश्य दें। मूल्य अजिल्द १।।) सजिल्द २)

५२—**स्वगत**। [हरिभाऊजी] नैतिक एवं चरित्र को गढ़नेंवाले उच्च उपदेश युवकों को सच्चा रास्ता दिखानेंवाले विचार। मूल्य ।-)

५३—**युगधर्म**। [ज़ब्त] मूल्य १।।)

५४—**स्त्री-समस्या**। नारी-जीवन की जटिल समस्याओं का गम्भीर अध्ययन तथा नारी-जाति के विकास का मनोरंजक इतिहास। मूल्य अजिल्द १।।।) सजिल्द २)

५५—**विदेशी कपड़े का मुकाबला**। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री एम० पी० गांधी लिखित। इसमें बतलाया गया है कि किस प्रकार भारत

अपनी आवश्यकतानुसार कपड़ा तैयार कर सकता है। मू० ॥=)

५६—**चित्रपट**। श्री शान्तिप्रसाद वर्मा के गद्य-गीतों का उत्कृष्ट संग्रह। भावनामय, करुण और मधुर मूल्य ।=)

५७—**राष्ट्रवाणी**। [अप्राप्य] मूल्य ॥=)

५८—**इंग्लैण्ड में महात्माजी**। महात्माजी की इंग्लैण्ड की यात्रा का सुन्दर, सरस और सुबोध वर्णन। हिन्दी में अपने ढंग का सर्वोत्तम यात्रा-वृत्तान्त। मूल्य १)

५९—**रोटी का सवाल**। मशहूर रूसी क्रांतिकारी लेखक प्रिंस क्रोपाट-किन की अमरकृति Conquest of Bread का सुन्दर अनुवाद समाजवाद का सुन्दर, सरल और सुबोध विवेचन। मूल्य १)

६०—**दैवी-सम्पद्**। सर्वोत्तम नैतिक एवं धार्मिक पुस्तक। 'दैवी-सम्पद् से मनुष्य को मोक्ष होती है।' इसी बात का सुन्दर विवेचन है। मनुष्य को मोक्ष का रास्ता बतानेवाली। अब मूल्य ।=)

६१—**जीवन-सूत्र**। अंग्रेजी में थामस केंपिस लिखित सर्व प्रसिद्ध पुस्तक 'इमिटेशन आफ क्राइस्ट' का अनुवाद। जीवन को उन्नत और विचारों को सात्विक बनानेवाली। मूल्य ॥)

६२—**हमारा कलंक**। अस्पृश्यता-निवारण पर लिखे गये महात्माजी के लेखों का संग्रह, उनके महान् उपवास की कहानी, सरकार के साथ उनका पत्र व्यवहार, उनके ताजे वक्तव्य, अस्पृश्यता निवारण पर महात्माजी के विचारों का 'रेफरेन्स बुक'। महात्माजी के आशीर्वाद सहित। ३०० पृष्ठों का लागतमात्र मूल्य ॥=)

६३—**बुद्बुद्**। (हरिभाऊजी) अपने आदर्शों से जीवन का मेल मिलानेवाले युवकों के लिए यह पुस्तक बड़े काम की है। उनको इससे उत्साह मिलेगा, शांति मिलेगी, प्रेरणा मिलेगी, सांत्वना मिलेगी। मूल्य ॥)

६४—**संघर्ष या सहयोग ?** प्रिंस क्रोपाटकिन की Mutual Aid नामक पुस्तक का अनुवाद। लेखक ने जोरों के साथ इसमें दिखलाया है कि पशु और पक्षियोंसे लेकर मनुष्य तक सबके जीवन का आधार सहयोग है; संघर्ष नहीं। मूल्य १॥)
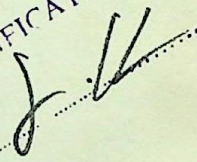
६५—**गांधी-विचार दोहन**। श्री किशोरलाल मशरूवाला ने इस पुस्तक में थोड़े से में महात्माजी के समस्त राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक विचारों का बड़ा सुन्दर दोहन किया है। यह महात्माजी के सम्पूर्ण विचारों का एक 'रेफरेन्स बुक' है। मूल्य ॥)

६५—**एशिया की क्रांति**। [जब्त] मूल्य १॥)

६७—**हमारे राष्ट्र-निर्माता**। हिन्दी में चरित्र विश्लेषणात्मक जीवन गाथाओं का बिलकुल अभाव है। उस दिशा में यह पहला और महत्वपूर्ण प्रयत्न है। नवीन शैली में वर्तमान भारत के निर्माताओं—लोकमान्य तिलक, स्व० मोतीलालजी, मालवीयजी, महात्माजी, दास बाबू, जवाहरलालजी, मौ० मुहम्मदअली, सरदार और प्रेसिडेन्ट पटेल—की जीवनियां (उनके संस्मरण, जीवन की झांकियां एवं व्यक्तित्व के विश्लेषण के साथ) लिखी गई हैं। दस पुस्तकों का काम देनेवाली एक पुस्तक। मूल्य १॥) सजिल्द ३)

६८—**स्वतंत्रता की ओर—**। (हरिभाऊ उपाध्याय) इस महत्वपूर्ण पुस्तक में बताया गया है कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है ? हम उस लक्ष्य—स्वतंत्रता—को किस प्रकार और किन साधनों से प्राप्त कर सकते हैं। हमारा समाज कैसा हो; हमारा साहित्य कैसा हो हमारा जीवन कैसा बने जिससे हम स्वतंत्रता की ओर बढ़ते चले जावें। हिन्दी में अपने विषय की एक मात्र पुस्तक। मूल्य १॥)

मण्डल का

राष्ट्र-निर्माणकारी साहित्य

१—आत्म-कथा (गांधीजी) १॥)
२—हमारे राष्ट्र-निर्माता २॥)
३—गांधी-विचार-दोहन ॥)
४—जीवन-साहित्य १)
५—भारत में व्यसन और व्यभिचार ॥=)
६—रोटी का सवाल १)
७—हालैण्ड की राजक्रान्ति १॥)
८—क्या करें? (टाल्स्टॉय) १॥=)
९—हमारा कलंक ॥=)
१०—स्वाधीनता के सिद्धान्त ॥)

विशेष विवरण के लिए
सूचीपत्र मंगाइए

पता—

सस्ता साहित्य मण्डल
दिल्ली

अध्ययन किन पुस्तकों का ?

जीवन में अध्ययन का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। इसलिए अपने अध्ययन के लिए पुस्तकें चुनने में आपको सावधानी से काम लेना चाहिए।

जो पुस्तकें आर्थिक लाभ की दृष्टि से नहीं वरन् मानव-जाति के उत्थान में सहायक होने की दृष्टि से निकाली जाती हैं वे ही मनुष्य को सच्चा रास्ता दिखाने में अधिक सहायक होती हैं।

अतः आप अपने जीवन का निर्माण करनेवाली पुस्तकें चुनने में सावधानी से काम लीजिए। आपका भविष्य इस पर निर्भर करता है।

इसी लक्ष्य को सामने रखकर 'सस्ता साहित्य मण्डल' पुस्तकें प्रकाशित किया करता है। आप मण्डल के प्रकाशन पढ़िए और उन पर मनन कीजिए।

सूची अन्दर देखिए।